THE

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA

60

VIKRAMAṄKADEVACARITA

OF

BILHAṆA

(CANTO I)

With

'Sudha' Sanskrit & 'Sudhasara' Hindi Commentaries

By

Shri Hargovinda Shastri

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI

(*Oriental Booksellers & Publishers*)

K. 37/117 Gopal Mandir Lane

Post Box No. 129

VARANASI 221001

Telephone : 55357

Second Edition

19[illegible]4

Also can be had of

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

(*Oriental Booksellers & Publishers*)

CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)

Post Box No. 69

VARANASI 221001

Telephone : 63076

उपोद्घातः

हरगोविन्दचित्तेन 'हरगोविन्दशास्त्रिणा'।
'बिल्हण'स्य कृतावेष उपोद्घातो विलिख्यते ॥

विश्वका यह शाश्वत नियम है कि इस संसारमें पैदा हुए सम्पूर्ण प्राणी सुख-प्राप्ति एवं दुःख-निवृत्तिके लिए सदा-सर्वदा प्रयत्नशील रहते हैं। एतदर्थ शास्त्रकारोंने यद्यपि कृच्छ्र-चान्द्रायणादि व्रत, अग्निष्टोम-सोमादि यज्ञ, वेद-वेदाङ्ग-धर्मशास्त्रादिका अध्ययनकर तदनुसार सदाचारादि-पालन प्रभृति बहुत-से उपाय बतलाये हैं; तथापि सबसे सुलभ एवं सरल उपाय सत्काव्यका सेवन ही माना गया है। इसके द्वारा मन्दबुद्धि व्यक्ति भी सुख-पूर्वक अभीष्ट-प्राप्ति कर सकता है। जैसा कि महापात्र विश्वनाथने साहित्यदर्पणमें प्रतिपादन किया है, यथा—

"चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव························· ॥" (१।२)

काव्यालङ्कारमें रुद्रटने भी इसे अनर्थ-प्रशामक, देव-स्तुतिद्वारा सर्वाभिलषित-सम्पादक आदि कहा है; यथा—

"अर्थमनर्थोपशमं शमसममथाभिमतं यदेवास्य।
विरचितरुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः ॥" (१।८)

महामुनि भरतने सत्काव्यको, धार्मिकोंका धर्म, कामि-जनोंका काम, दुष्टोंका निग्रह-कारक, विनीतोंका दमकार्य, क्लीबोंको धृष्टता देनेवाला, स्वाभिमानी शूरवीरोंका उत्साह, अज्ञानियोंका ज्ञान, विद्वज्जनोंकी विद्वत्ता एवं दुःख, श्रम तथा शोकसे आर्त लोगोंका और तपस्वियोंका समयपर विश्राम-दायक; तथा धर्म्य, यशस्य, आयुष्य, हित, बुद्धिवर्धक आदि कहा है। यथा—

"धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम्।
निग्रहो दुर्विनीतानां विनीतानां दमक्रिया ॥
क्लीबानां धाष्ट्र्यजननमुत्साहः शूरमानिनाम्।
अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि ॥
× × ×
दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ॥
विश्रान्तिजननं काले·························।
वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम् ॥

(नाट्यशास्त्र १।१०६-१२४)

अपने काव्यालङ्कारमें रुद्रटने भी सत्काव्य-सेवनको धर्मार्थकाममोक्षरूप पुरुषार्थ-चतुष्टयका कारण; चौंसठ कलाओंमें विचक्षणता एवं यशोलाभका साधक कहा है। यथा—

धर्मार्थकाममोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति प्रीतिं कीर्तिं च साधुकाव्यनिषेवणम्॥" (१।२)

आचार्य मम्मटने काव्यप्रकाशमें काव्यको यश, धन, व्यवहार-ज्ञान, पढ़ते या सुनते ही परमाह्लाद और कान्ताके समान सदुपदेशका दाता तथा अमङ्गल-नाशक कहा है। यथा—

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥" (का. प्र. १।१)

वक्रोक्तिजीवितकार राजा कुन्तकने तो काव्यको पुरुषार्थ-चतुष्टयकी प्राप्तिसे भी अधिक स्वान्तः-सुख-दाता कहा है। यथा—

"चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥" (व. जी. १।५)

पुराण तथा इतिहासादि अनेक स्थलोंमें; सूर्यस्तुतिद्वारा मयूरकविके असाध्य कुष्ठ रोगसे छुटकारा पाना, कालिदासादिका महाराज भोजराजादिसे मान-प्रतिष्ठादि-लाभ होनेके अतिरिक्त भगवत्प्राप्ति तक होनेके अनेक वर्णन उपलब्ध होते हैं। इतना ही नहीं, प्रत्युत एक-एक श्लोकके लिए लक्षाधिक मुद्रा माघ-पत्नीका पाना इतिहासोंमें प्रसिद्ध है। फलतः काव्य का अध्ययन एवं परिशीलन शृङ्गार-प्रधान होनेसे विषयोन्मुखकर लोगोंको विषयोंके जालमें फँसानेवाला होता है, इत्यादि कथन काव्य-मर्म-ज्ञान-शून्य व्यक्तियोंका ही समझना चाहिए, सहृदय काव्य-मर्मज्ञोंका नहीं।

यही कारण है कि अत्यधिक कष्ट-सहन, समय, द्रव्यादिके प्रचुरव्ययसे साध्य कृच्छ्रातिकृच्छ्र-चान्द्रायणादि व्रतों, पञ्चाग्निसेवनादि तपश्चरणों एवं सोम-अग्निष्टोमादि यज्ञोंको छोड़कर विवेकशील पुरुष सर्वतोभावेन सरलतम काव्य-सेवन-रूप सदुपायसे अभीष्ट सुखादिको अनायास ही प्राप्त करने मे वैसे ही प्रवृत्त होते हैं, जैसे कोई रोगी रोगनाशक कड़वी दवाका त्यागकर मधुरौषध-सेवनद्वारा आरोग्य-लाभ करनेमें प्रवृत्त होता है। इसी बातका आचार्य भामहने काव्यालङ्कार में प्रतिपादन किया है, यथा—

"स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम्॥"

वक्रोक्तिजीवितके रचयिता राजा कुन्तकने भी अविद्यारूप रोगके प्रशमनार्थ शास्त्रान्तर-सेवनादिको कटुकौषध एवं काव्यको मधुरौषध बतलाकर काव्यानुशीलन करनेका प्रतिपादन किया है। यथा—

"कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम्।
आह्लाद्यमृतवत् काव्यमविवेकगदापहम्॥" (१।७)

यद्यपि धर्मशास्त्रकारोंने देवमन्दिर, धर्मशाला, वाटिकोपवन, कूप-तडागादिके निर्माण एवं जीर्णोद्धारादि सत्कर्म करनेवाले व्यक्तिके भी यश, पुण्याभिवृद्धि एवं स्वर्ग-प्राप्ति होनेका वर्णन किया है; तथापि कुछ समयके उपरान्त उन देवमन्दिरादिके समूल नष्ट होनेके साथ ही निर्माणकर्ताके यश आदिका नामो-निशान भी समूल नष्ट हो जाता है और

इसके विपरीत काव्यरूप बीजसे पैदा हुआ यशोवृक्ष अत्यधिक समयतक ही नहीं, प्रत्युत कल्पान्तरमें भी हरा-भरा रहता है। जैसा कि काव्यालंकारमें रुद्रटने कहा है—

"तत्कारितसुरसदनप्रभृतिनि नष्टे तथाहि कालेन।
न भवेन्नामापि ततो यदि न स्युः सत्कवयो राज्ञाम्॥" (१।५)

यही कारण है कि व्यास, वाल्मीकि, मनु, याज्ञवल्क्य, कालिदास, दण्डी, भवभूति, माघ, अश्वघोष, श्रीहर्ष, भारवि, बाण, सोमदेव सूरि, भास, विशाखदत्त, कुन्तक, आर्यभट्ट, महाराज भोज, जयदेव, हरिश्चन्द्र, पण्डितराज जगन्नाथ, विल्हण, कल्हण, मम्मट, क्षेमेन्द्र, नारायण, भट्टि, भर्तृहरि, मुरारि, आचार्य शंकर, सुबन्धु और हेमचन्द्रादि शत-सहस्र कवियोंका यशोध्वज हजारों वर्ष बीत जानेपर भी अद्यावधि गगनमण्डलको अलङ्कृत कर रहा है। इतना ही नहीं, किन्तु उन मनीषियोंद्वारा अपने-अपने ग्रन्थोंमें वर्णित राम, कृष्ण, नल, युधिष्ठिर, हर्ष, भोज, विक्रमाङ्कदेवादि भूपतियोंका यशोध्वज भी उन्हीके समान नभोमण्डलको सुशोभित कर रहा है। अन्यथा इनका नामतक आज कोई नहीं जानता। इसी कारण महाकवि विल्हणने विक्रमाङ्कदेवचरित-महाकाव्यमें कहा है कि—

"पृथ्वीपतेः सन्ति न यस्य पार्श्वे कवीश्वरास्तस्य कुतो यशांसि।
भूपाः कियन्तो न बभूवुरुर्व्यां जानाति नामापि न कोऽपि तेषाम्॥
लङ्कापतेः संकुचितं यशो यद्यत् कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः।
स सर्व एवादिकवेः प्रभावः..............................॥ (१।२६-२७)

स्वेच्छाभङ्गुरभाग्यमेघतडितः शक्या न रोद्धुं श्रियः
प्राणानां सततप्रयाणपटहश्रद्धा न विश्राम्यति।
त्राणं येऽत्र यशोमये वपुषि वः कुर्वन्ति काव्यामृतै-
स्तानाराध्य पदे विधत्त सुकवीन्निर्गर्वमुर्वीश्वराः॥
हे राजानस्त्यजत सुकविप्रेमबन्धे विरोधं
शुद्धा कीर्तिः स्फुरति भवतां नूनमेतत्प्रसादात्।
तुष्टैर्बद्धं तदलघु रघुस्वामिनः सच्चरित्रं
रुष्टैर्नीतस्त्रिभुवनजयी हास्यमार्गं दशास्यः॥"
(१८।१०६-१०७)

किन्तु यह सब देखते-सुनते हुए भी सदाचारहीन अविवेकी राजा आदि सत्कवियोंको उसी प्रकार आश्रय नहीं देते, जिस प्रकार घुंघची (गुञ्जा) का आभूषण पहननेवाले कोल-भील आदि जंगली लोग उत्तम आभूषण बनानेवाले सुवर्णकार को। महाकवि विल्हणने यही बात श्रीविक्रमाङ्कदेवचरितमें कही है। यथा—

"किं चारुचारित्रविचारशून्याः कुर्वन्ति भूपाः कविसंग्रहेण।
किं जातु गुञ्जाफलभूषणानां सुवर्णकारेण वनेचराणाम्॥ (१।२९)

काव्य-रचना-हेतु

साहित्य-शास्त्रकारोंके मतमें शक्ति (प्रतिभा), व्युत्पत्ति (निपुणता) और अभ्यास—ये तीनों, काव्य-रचनामें हेतु माने गये हैं। जैसा आचार्य मम्मटने अपने काव्यप्रकाशमें कहा है—

"शक्तिर्निपुणतालोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥" (१।२)

काव्यालंकार में रुद्रटने भी यही कहा है, यथा—

"तस्यासारनिरासात् सारग्रहणाच्च चारुणः करणे ।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः ॥" (१।१४)

इनमें-से—

(क) स्वस्थ चित्तमें अनेकधार्थ-ज्ञान एवं अनायासतः नयी-नयी कल्पनाओंसे युक्त पदस्फुरणको 'शक्ति' यानि 'प्रतिभा' कहते हैं। जैसा कहा भी है—

"प्रज्ञां नवनवोन्मेषशालिनीं प्रतिभां विदुः ।"

इसके बिना कोई कवि खींचा-तानी करके कतिपय शब्द-योजनाद्वारा काव्य-रचना भले ही कर ले, किन्तु उसकी रचनामें सरसता एवं मधुरतादि गुणों का सर्वथा अभाव ही रहेगा; फलतः वह काव्य सहृदयजनाह्लादक कदापि नहीं हो सकता। यह शक्ति कुछ लोगों-को पूर्वजन्मार्जित पुण्यद्वारा जन्मना तथा कुछ लोगोंको देवाद्याराधनादिसे तत्प्रसादलब्ध वरदानादि द्वारा प्राप्त होती है।

(ख) वेद, वेदान्त, उपनिषद्, धर्मशास्त्र, पुराण, छह वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, त्रिस्कन्ध ज्यौतिष [गणित, फलित एवं सामुद्रिक अर्थात् हस्तरेखा-ज्ञान ज्यौतिष] और छन्द), तर्क, चौंसठ कलाएँ, चारों उपवेद (आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद अर्थात् संगीत और स्थापत्य वेद अर्थात् शिल्पविद्या), कोष, भूगोल, खगोल, गज-हयादि-जीव-विज्ञान-शास्त्र, राजनीति, साहित्यिक अलङ्कार-गुण-रीति-रसादि-ज्ञान एवं विविध काव्यों-का गुरुमुख से सम्यगध्ययनका उनके परिशीलन से तत्तत्सम्बद्ध प्राप्त ज्ञानको 'व्युत्पत्ति' अर्थात् 'निपुणता' कहते हैं। इसके बिना किस देश में, किस समय में, किस समाज में कहाँ का आचार-व्यवहार कैसा होता है ? आदिका परिपक्व ज्ञान नहीं रहने से कोई कवि निर्दुष्ट काव्यकी रचना नहीं कर सकता है।

(ग) गुरु-सान्निध्यसे या स्वयं एकान्त स्थानमें चित्तकी एकाग्रता-पूर्वक विशेषतः ब्राह्म-मुहूर्तमें प्रत्यहं काव्य-रचनामें लगे रहनेको 'अभ्यास' कहते हैं। यह विधि सरस, ललित, भाव-रसादिपूर्ण काव्य-रचना करनेमे विशेष सहायक है।

जैनाचार्य प्रथम वाग्भटने प्रतिभाको काव्योत्पत्तिमें कारण, व्युत्पत्तिको विभूषण और अभ्यासको शीघ्र कविता-रचनामें सहायक माना है, यथा—

"प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम् ।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसंकथा ॥" (१।३)

मेधावीरुद्र तथा कुमारदास आदि कवियोंने जन्मान्ध होनेसे काव्यादि-शास्त्रोंका अध्ययन नहीं करनेके कारण व्युत्पत्ति तथा अभ्यासके अभावमें भी केवल प्रतिभा द्वारा काव्य-रचना की थी, अतः काव्य-रचनामें एकमात्र प्रतिभा ही कारण है तथा व्युत्पत्ति एवं अभ्यास उस प्रतिभाके संस्कार करने वाले हैं, ऐसा द्वितीय वाग्भटका मत है, यथा—

"प्रतिभैव च कवीनां काव्यकरणकारणम्।
व्युत्पत्त्यभ्यासौ तस्या एव संस्कारकौ, न तु काव्यहेतू॥"
(काव्यानुशासन, पृ० २ टीका)

इसी मतकी पुष्टि राजशेखरने भी की है।

महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यासजीने अग्निपुराणमें अभिधाप्रधान काव्यको शास्त्र एवं इतिहाससे भिन्न मानते हुए 'नरत्व, विद्या, कवित्व, शक्ति, व्युत्पत्ति और विवेक' को उत्तरोत्तर दुर्लभ कहा है। यथा—

"अभिधायाः प्रधानत्वात् काव्यं ताभ्यां विभिद्यते।
नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र च दुर्लभा॥
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा।
व्युत्पत्तिर्दुर्लभा तत्र विवेकस्तत्र दुर्लभः॥" (३३७।३-४)

काव्य

कवि और काव्य शब्दोंकी व्युत्पत्ति तथा अर्थ—महावैयाकरण भानुजिदीक्षितने अमरकोषकी 'सुधा' व्याख्यामें भ्वादिगणके 'कुङ् शब्दे' या अदादि गणके 'कु शब्दे' धातुसे 'अच इः' सूत्रद्वारा 'इ' प्रत्यय करने पर 'कवि' शब्दकी सिद्धि कही है (२।७।५)। शब्दकल्पद्रुममें यही शैली अपनायी है। एकावलीमें विद्याधरने कवयति इति कविस्तस्य कर्म 'काव्यम्' ऐसा कहा है। ध्वन्यलोककी 'लोचन' व्याख्यामें 'कवनीयं काव्यम्' व्युत्पत्ति की गयी है। 'कवेर्भावः कर्म वा काव्यम्' इस विग्रहमें कवि शब्दसे ष्यञ् प्रत्ययद्वारा भी 'काव्य' शब्दकी सिद्धि कही गयी है। यद्यपि, 'शुक्रो दैत्यगुरुः काव्य उशना भार्गवः कविः' (अमर १।३।२५) में 'कवि और पुंल्लिङ्ग काव्य' शब्दोंका शुक्राचार्य अर्थ तथा उसी अमरकोषमें 'विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञः'''पण्डितः कविः' (२।७।५) में तथा अन्यान्य बहुत-से कोष-ग्रन्थोंमें पण्डित-सामान्य अर्थमें 'कवि' शब्द उपलब्ध होता है। तथा **'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः'** (शुक्लयजु० ४०।८) में तथा **'कविं पुराणमनुशासितारं'** (गीता ४।२४) में 'सर्वज्ञ परमात्माके अर्थमें भी 'कवि' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इतना ही नहीं, अपि तु **'कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमदुर्लभम्'** (महाभारत अनुशासनपर्व १।६१) में महाभारतको महर्षि वेदव्यासने 'काव्य' कहा है। इसकी पुष्टि साहित्यदर्पणकी **'अस्मिन्नार्षे पुनः शब्दा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः'** (६-५८०) कारिकाकी व्याख्यामे उदाहरण देते हुए विश्वनाथकी भी **"अस्मिन् महाकाव्ये, यथा—महाभारतम्"** उक्तिसे महाभारतका महाकाव्यत्व सिद्ध होता है, इस प्रकार महर्षि वेदव्यास अर्थमें भी 'कवि' शब्दका प्रयोग स्वतःसिद्ध हो जाता है। साथ ही **"तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः"** (श्रीमद्भागवत १।१।१) में 'आदिकवि' शब्दका प्रयोग ब्रह्माके अर्थमे प्रयुक्त हुआ है और उत्तररामचरित में भवभूतिकी **"तेन खलु समयेन तं भगवन्तमाविर्भूतशब्दप्रकाशमृषिमुपसंगम्य भगवान् भूतभावनः पद्मयोनिरवोचत्—'ऋषे! प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि, तद् ब्रूहि रामचरितम्, अव्याहतज्योतिरार्षं ते चक्षुः प्रतिभातु, आद्यः कविरसि—इत्युक्त्वान्तर्हितः"** उक्तिसे 'आदिकवि' शब्दका प्रयोग

महर्षि वाल्मीकिके लिए भी किया जाता है और उनकी रचना वाल्मीकिरामायण को 'आदि-काव्य' माना जाता है, इसीसे इस महाकाव्यकी प्रत्येक पुष्पिका (सर्गके अन्तिम भाग) में "इत्यार्षे आदिकाव्ये···" वाक्य उपलब्ध होता है।

अतः यह सिद्ध होता है कि सामान्यतः 'कवि' शब्द महर्षि व्यास एवं 'आदिकवि' शब्द महर्षि वाल्मीकिके लिए प्रथमतः प्रयुक्त हुआ है। और इन्हीं दोनों महर्षियोंकी रचना 'महाभारत एवं रामायण' परवर्ती सभी महाकवियोंकी उपजीव्य हुई हैं।

काव्य-लक्षण—अब प्रसंगतः काव्यके लक्षणके विषयमें भी विचार करना उचित है। महर्षि व्यासने अग्निपुराणमें काव्यके लक्षण एवं भेदादिका सविस्तर प्रतिपादन किया है, उनके अनुसार अलङ्कारयुक्त निर्दुष्ट पद-समूहको 'काव्य' कहा जाता है, उसमें वाक्चातुर्य की प्रधानता होनेपर भी 'रस' ही उस काव्यका प्राण माना गया है। यथा—

"काव्यं स्फुटदलङ्कारं गुणवद्दोषवर्जितम्।
योनिर्वेदस्य लोकस्य सिद्धमन्नादयोनिजम्॥
देवादीनां संस्कृतं स्यात् प्राकृतं त्रिविधं नृणाम्।
गद्यं पद्यं च मिश्रं च काव्यादि त्रिविधं मतम्॥

× × ×

सर्वरीतिरसैः पुष्टं पुष्टं गुणविभूषणैः।
अत एव महाकाव्यं तत्कर्ता च महाकविः॥
वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्॥ (३३७।७-३३)

काव्यालङ्कार में वामनाचार्यने अलङ्कारयुक्त काव्यको ग्राह्य कहा है। वह अलङ्कार सौन्दर्य है तथा वह सौन्दर्य दोष-हीन एवं गुण तथा अलङ्कारके सहित होना चाहिए। यथा—"**काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः। स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम्।**' (१ १।१–२)। पण्डितराज जगन्नाथने रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्दको काव्य तथा रसमें चमत्कारको सार माना है। यथा—'**रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्, रसे सारश्चमत्कारः।**' (१।१)। विश्वनाथने साहित्यदर्पणमें रसात्मक वाक्यको काव्य माना है। यथा—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' (१।१)।

इस प्रकार विवेचन द्वारा यह निष्कर्ष निकलता है कि चमत्कारपूर्ण, रस तथा गुणालङ्कारों से युक्त निर्दुष्ट वाक्य को 'काव्य' कहा जाता है। विभिन्न आचार्यों ने कुछ परिवर्तन के साथ काव्य का लक्षण भिन्न-भिन्न कहा है, उसे यथास्थान उन आचार्यों के ग्रन्थों में देखना चाहिए।

काव्य के भेद

काव्य के दो भेद होते हैं—दृश्य तथा श्रव्य। इनमें दृश्य-काव्य को रूपक भी कहते हैं, जैसा विश्वनाथ ने कहा है—

"दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।
दृश्यं तत्राभिनेयं तद्रूपारोपात्तु रूपकम्॥" (साहित्यदर्पण ६।२७९-२७६)

महर्षि वेदव्यासने 'रूपक' के २७ भेद कहे हैं। यथा—

"नाटकं सप्रकरणं डिमं ईहामृगोऽपि वा।
ज्ञेयः समवकारश्च भवेत् प्रहसनं तथा॥
व्यायोगभाणवीथ्यङ्कत्रोटकान्यथ नाटिका।
सट्टकं शिल्पकः कर्णा एको दुर्मल्लिका तथा॥
प्रस्थानं भाणिका भाणी गोष्ठी हल्लीशकानि च।
काव्यं श्रीगदितं नाट्यरासकं रासकं तथा॥
उल्लाप्यकं प्रेक्षणं च सप्तविंशतिरेव तत्।"

(अग्निपुराण ३३८।१-४),

किन्तु इस रूपक के नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अङ्क, वीथी और प्रहसन—ये दश ही भेद विश्वनाथने माने हैं। यथा—

"नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश॥"

(साहित्यदर्पण ६।२७८)

द्वितीय 'श्रव्य' काव्यके गद्य, पद्य और मिश्र अर्थात् गद्य-पद्ययुक्त ये तीन भेद महर्षि व्यासने कहे हैं। यथा—

"गद्यं पद्यञ्च मिश्रञ्च काव्यादि त्रिविधं स्मृतम्।" (अग्निपुराण ३३७।८)

महर्षि व्यासजी ने गद्यकाव्यके 'चूर्णक, उत्कलिका और गन्धिवृत्त'—ये तीन भेद तथा विश्वनाथने 'मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक'—ये चार भेद कहे हैं। यथा—

"अपदः पदसन्तानो गद्यं तदपि गद्यते।
चूर्णकोत्कलिकागन्धिवृत्तभेदात्त्रिरूपकम्॥ (अग्निपुराण ३३७।९)

तथा—"वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च।
भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकञ्च चतुर्विधम्॥" (साहित्यदर्पण ६।८८६)

इनमें-से द्वितीय 'गद्यकाव्य'के महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक, युग्मक, सन्दानितक, कलापक और कुलक'—ये सात भेद आचार्योंने कहे हैं। तृतीय मिश्र अर्थात् गद्य-पद्यो-भयात्मक काव्यको 'चम्पू' कहा गया है, इसीको राजस्तुति-परक होने पर 'विरुद' और अनेक भाषामय होने पर 'करम्भक' कहते हैं। इस प्रकार 'मिश्रकाव्य' के मुख्यतः 'चम्पू, विरुद और करम्भक'—ये तीन भेद हो जाते हैं।

महाकाव्यका लक्षण

महाकाव्यमें सर्गबन्ध होता है। इसमें किसी एक देव, कुलीन एवं धीरोदात्त क्षत्रिय या एक कुलमें उत्पन्न अनेक राजाओंका वर्णन रहता है। 'शृङ्गार, वीर या शान्त'—इन तीन रसों में-से कोई एक रस अङ्गी अर्थात् मुख्य और शेष छह रस अङ्ग अर्थात् अप्रधान रहते हैं। इसमें महाभारत आदि इतिहासके अथवा दूसरे किसी श्रेष्ठ पुरुषके चरित्रका

वर्णन किया जाता है। पुरुषार्थ-चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) में-से किसी एककी प्राप्ति होना इसका उद्देश्य होता है। नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक या वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गल ग्रन्थके आरम्भमें किया जाता है। किसी-किसी महाकाव्यमें दुर्जन-निन्दा तथा सज्जन-स्तुति भी रहती है। प्रत्येक सर्ग में पहले एक प्रकार के भिन्न-भिन्न छन्द और सबके सर्गान्तमें कोई भिन्न छन्द रहता है। किसी-किसी सर्गमें अनेक छन्दोबद्ध पद्य भी रहते हैं। साथ ही प्रत्येक सर्गके अन्तमें अग्रिम सर्गकी कथाका सङ्केत कर कथा-भागको शृङ्खलाबद्ध रखा जाता है। दिन, प्रभात, मध्याह्न, सायंकाल, निशा, सूर्य, चन्द्र, तारागण, चाँदनी, अन्धकार, शिकार, पर्वत, नदी, समुद्र, ऋतु, वृष्टि, शीत, प्रालेप, ग्रीष्म, वन, उपवन, सम्भोग, विप्रलम्भ, ऋषि-मुनि और उनके आश्रम-तपश्चरण तथा प्रभावादि, स्वर्ग, नरक, श्मशान, नगर, ग्राम, पशु-पक्षी आदि, यज्ञ, समरप्रयाण, विवाह, मन्त्रणा, राजसभा और उसके सदस्य, पुत्रोत्पत्ति, उत्सव, जलक्रीडा, मधु-पान और विहार आदिमें-से किसी एक या अनेकका यथावसर साङ्गोपाङ्ग वर्णन महाकाव्यमें किया जाता है। 'कवि, वृत्त (कथा), नायक'—इनमें-से या किसी दूसरेके नामपर काव्यका नाम रखा जाता है। तथा सर्ग-सम्बद्ध कथाके आधारपर सर्गका नाम रखा जाता है।[1] अग्निपुराणके ३३७ वें अध्यायमें भी महर्षि व्यासने प्रायः यही लक्षण महाकाव्यका कहा है।

---

१. "सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः॥
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा।
शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते॥
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्॥
चत्वारस्तत्र वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्।
आदौ नमस्क्रियाऽऽशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा॥
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्।
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः॥
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते॥
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्।
सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः॥
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः।
सम्भोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः॥
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः।
वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह॥
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा।
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु॥" (सा० दर्पण ६।५७९)

काव्य-सम्प्रदाय

काव्य के लक्षणादि-कथन के उपरान्त इसके सम्प्रदायका संक्षेपतः कथन अप्रासङ्गिक नहीं होगा। काव्य के पाँच सम्प्रदाय हैं, उनके नामके साथ उनके प्रवर्तक आचार्योंके नाम इस प्रकार हैं—

संख्या	सम्प्रदायोंके नाम—	प्रवर्तक आचार्योंके नाम—
१	रस-सम्प्रदाय	नन्दिकेश्वर, भरत
२	अलङ्कार-सम्प्रदाय	भामह, उद्भट, रुद्रट
३	रीति-सम्प्रदाय	दण्डी, वामन
४	वक्रोक्ति-सम्प्रदाय	कुन्तक
५	ध्वनि-सम्प्रदाय	आनन्दवर्द्धन

इनमें प्रथम रस-सम्प्रदायको छोड़कर शेष चार सम्प्रदायों का क्रम ऐतिहासिक दृष्टिसे नहीं, प्रत्युत वैषयिक दृष्टिसे है। इन सम्प्रदायोंके प्रवर्तक एवं अनुयायी भी ऐतिहासिक दृष्टिसे समानता नहीं रखते हैं। उदाहरणार्थ—नन्दिकेश्वर और भरतने जिस रस-सम्प्रदायको प्रतिष्ठित किया, भामह, दण्डी और उद्भट ने उसका खण्डनकर एक नये सम्प्रदायको जन्म दिया, किन्तु उनके परवर्ती विश्वनाथ ने पुनः उसी रस-सम्प्रदाय का मण्डन किया। यही स्थिति दूसरे सम्प्रदायों के विषय में भी रही।[1]

ग्रन्थकारका संक्षिप्त परिचय

यद्यपि कालिदास, भारवि, भवभूति, माघ आदि प्राचीन महाकवियोंकी यह परम्परा रही है कि वे अपने निवास एवं वंशादिके विषयमें कहीं कुछ उल्लेख नहीं करते थे, किन्तु महाकवि 'बिल्हण'ने इस पूर्वागत परम्पराका उल्लङ्घनकर प्रकृत महाकाव्यके अन्तिम अर्थात् अट्ठारहवें सर्गमें अपने देश, वंश और ग्रामका पूरा वर्णन किया है। महाकविने सर्वप्रथम 'प्रवरपुर'का वर्णन (१८।१–३२) करनेके बाद वहाँके शासक 'अनन्तदेव' का वर्णन (१८।३३–३९) किया है। यह राजा बड़ा पराक्रमी, प्रजावत्सल एवं ब्राह्मणोंका आदर करता था, इसने वितस्ता नदीके पास अत्युन्नत दुर्गके समान मठ बनवाकर विजयक्षेत्र के भट्टब्राह्मणोंको दान कर दिया था। यथा—

> "कृत्वा मध्ये मठमनुपमोत्तुङ्गदुर्गानुकारं
> वैतस्तेन प्रथितपरिखारेखमम्भोभरेण…।
> लग्नाः शृङ्गैर्नभसि विजयक्षेत्रभट्टाग्रहाराः
> प्राकारत्वं कलिभयभिदे येन धर्मस्य नीताः॥ (१८।३६)

इस 'अनन्तदेव'की पटरानी "सुभटा" जालन्धरके राजा "इन्दुचन्द्र"की पुत्री चन्द्रोत्पन्न चाँदनीके समान नेत्राह्लादक एवं सुन्दरी थी। यथा—

> "देवी तस्य प्रचुरयशसश्चन्द्रिकेवेन्दुजाता
> माता ख्यातिं जगति 'सुभटे'त्यादिभार्या बभूव।

---

१. वाचस्पति गैरोला रचित संस्कृत साहित्यका इतिहास (पृष्ठ ५७०)।

मन्ये यस्याः स्थितिमनुपमां सापि कुण्ठानुकर्तुं
वैकुण्ठोरःस्थलजलधरोत्सङ्गसौदामिनी श्रीः ॥' (१८।४०)

अनन्तदेवकी पटरानी 'सुभटा'ने कलालिपि लिखनेवाले कायस्थों और मुखपर प्रशंसा करनेवाले चापलूस गायकोंमें देकर अपने धनका दुरुपयोग नहीं किया, किन्तु विद्वान् ब्राह्मणों को देकर तथा अपने नामका 'सुभटामठ' बनवाकर उसे ब्राह्मणोंको रहनेके लिए प्रदान कर अपने धनका पूर्णतः सदुपयोग किया (१८।४०,४२, ४४)। उसने वितस्ता नदीके समीप विशाल शिव मन्दिर भी बनवाया।

उस अनन्तदेवका भाई 'लोहरदुर्ग'का स्वामी 'क्षितिपति' या 'क्षितिराज' हुआ। जो पण्डितोंका आदर एवं विष्णुकथाका श्रवण बड़ी श्रद्धाभक्तिसे करता था (१८।५०)। उक्त अनन्तदेवसे सुभटाने 'कलश' नामक पुत्र उत्पन्न किया। इसका बड़ा पुत्र 'हर्षदेव' हुआ (१८।५९,६४)। इसकी सेना इतनी विशाल थी कि इसने युद्धयात्रामें 'चन्द्रयात्रा' और 'यमुना' के जलको पीकर सुखा दिया (१८।६१-६२)। उस 'हर्षदेव' का छोटा भाई 'उत्कर्षदेव' 'लोहरदुर्ग'का स्वामी हुआ (१८।४७,६७), इस राजा कलशका तृतीय पुत्र 'विजयमल्ल' महाप्रतापी एवं विद्वान् था (१८।६८)।

उस प्रवरपुरसे तीन कोस पर अत्यन्त ऊँचे चैत्योंवाला 'जयवन' नामक स्थान है, उसके पासमें समस्त गुणोंसे परिपूर्ण होनेसे यशस्वी अनेक यज्ञस्तम्भोंसे सुशोभित कलियुगके प्रभावसे रहित 'खोनमुप' (या—खोनमुह) ग्राम है। यही प्रकृत ग्रन्थके रचयिता महाकवि विल्हण का जन्मस्थान है। यथा—

"तस्मादस्ति प्रवरपुरतः सार्धगव्यूतिमात्रीं
भूमिं त्यक्त्वा जयवनमिति स्थानमुत्तुङ्गचैत्यम् ।
कुण्डं यस्मिन्नमलसलिलं तक्षकस्याहिभर्तु-
र्धर्मध्वंसोद्यतकलिशिरच्छेदचक्रत्वमेति ॥
यस्यास्ति खोनमुप(ख) इत्युपकण्ठसीम्नि
ग्रामः समग्रगुणसम्पदवाप्तकीर्तिः ।
आलानरूपबहुयूपवति प्रविष्टं
नो यत्र बन्धनभियेव कलिद्विपेन ॥" (१८।७०-७१)

हिमालय पर्वतकी तलहटीमें स्थित उस गांवके एक भागमें सुन्दर केसर तथा दूसरे भागमें सरयूतटपर उत्पन्न होनेवाले पौंढा गन्नेके टुकड़ों के समान मधुर दाख प्रचुरमात्रामें उत्पन्न होता है, वहाँ बसनेवाले कौशिक गोत्रमें उत्पन्न कुछ पवित्र ब्राह्मणोंको कश्मीरनरेश गोपादित्य अपने यहाँ ले आये। यथा—

"ब्रूमस्तस्य प्रथमवसतेरद्भुतानां कथानां
किं श्रीकण्ठश्वशुरशिखरिक्रोडलीलाललाम्नः ।
एको भागः प्रकृतिसुभगं कुङ्कुमं यस्य सूते
द्राक्षामन्यः सरससरयूपुण्ड्रकच्छेदपाण्डुम् ॥

कर्तुं कीर्तिप्रणयि कुशला कौशिकं गोत्रमुच्चै-
स्तत्र ब्रह्मप्रवणमनसो ब्राह्मणाः केचिदासन् ।
यान् काश्मीरक्षितितिलकतां मध्यदेशावतंसान्
गोपादित्यक्षितिपतिरसौ पावनानानिनाय ॥" (१८।७२-७३)

त्रिभुवनमें पवित्र चरितवाले उन ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणोंमें 'मुक्तिकलश' कुलपति था, वह चारो वेदोंका विद्वान् था (१८।७५-७६)। उसका पुत्र 'राजकलश' हुआ। यह महाबलवान्, दानी, वेदोंका पारगामी और यज्ञनिरत था। इसने सार्वजनीन अङ्गूरके विशाल बगीचे, शास्त्राध्ययनार्थ विद्यामन्दिर, निर्मल जलवाले कूप बनवाये थे, जो कलिके भयसे धर्मके अङ्गरक्षकका कार्य करते थे (१८।७७-७८)। उसका पुत्र 'ज्येष्ठकलश' हुआ, जो क्षमाशील, विद्वान्, वेदज्ञाता, शिष्योंको महाभाष्य पढ़ानेवाला था (१८।७९)। यज्ञ एवं कूपतडागादिकार्य, अतिथि-सत्कार, सेवकोंके साथ प्रिय व्यवहार, घर के अन्यान्य उपकरणों-को जुटानेमें प्रवीण 'नागा देवी' उस ज्येष्ठकलशकी धर्मपत्नी थी। यथा—

'इष्टापूर्तेष्वतिथिविषये सान्त्वने सेवकाना-
मन्येष्वन्येष्वपि च गहने किं नु तस्योचितेषु ।
दृष्टादृष्टोपकरणगणप्रापणे यः प्रवीणां
नागादेवीसलभत शुभस्तोमपात्रं कलत्रम् ॥" (१८।८०)

इस ज्येष्ठकलशसे संसारका मुकुट, गौरवर्णवाला 'बिल्हण' नामक पुत्र हुआ। यज्ञोपवीत संस्कारके बादसे इसके मुखमें वेदध्वनिके कपटसे अपने पायल बनाती हुई सरस्वती निवास करती थी। साङ्गवेद, पातञ्जलमहाभाष्यादि व्याकरणशास्त्र, श्रुति-सुखदा साहित्य विद्या आदि समस्त शास्त्र इसकी निर्मल बुद्धिरूपी दर्पणमें प्रतिबिम्बित थे। यथा—

"साङ्गो वेदः फणिपतिदिशा शब्दशास्त्रे विचारः
प्राणा यस्य श्रवणसुभगा सा च साहित्यविद्या ।
को वा शक्तः परिगणयितुं श्रूयतां तत्त्वमेतत्
प्रज्ञादर्शे किमिव विमले वास्य संक्रान्तमासीत् ॥" (१८।८२)

इस बिल्हण महाकविके ज्येष्ठ भाई 'इष्टराम(य)'[1] अनेक राजोंके सभाभूषण और काव्यामृत-रसास्वाद कराते थे, तथा छोटे भाई 'आनन्द' शास्त्रार्थमें प्रतिपक्षियोंके मतका खण्डन करनेमें कुल्हाडीके समान थे (१८।८४-८५)। इस 'आनन्द' ने 'माधवानलकथा' नामक ग्रन्थ रचा था।[2] जीविकाकी खोजमें देश-देशान्तर भ्रमण करते हुए 'बिल्हण' मथुरा, कान्यकुब्ज, प्रयाग, काशी आदि होते हुए दक्षिण भारतमें 'कल्याण'के महाराज 'विक्रमाङ्कदेव (षष्ठ)' के निकट पहुँचे (१८।८९-९२)। 'कालञ्जर' पर्वताधीशको मारनेवाले डाहलनरेश 'कर्ण'ने इनके काव्यामृतका रसास्वादन किया (१८।९३)। ये अयोध्यापुरी भी गये (१८।९४)। डाहलाधीश कर्णके राजसभापण्डित 'गङ्गाधर'को इन्होंने

१. द्रष्टव्य—संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ (पृ० ७१०)।
२. वाचस्पति 'गैरोला'का संस्कृत साहित्यका इतिहास। (पृ० ९२१)।

शास्त्रार्थमें पराजित किया (१८।९५)। 'धारा'धीश महाराज 'भोज'के मरनेके बाद ये धा
नगरीमें गये तथा गुजरातमें 'सोमनाथ'का दर्शन कर 'परशुरामक्षेत्र' के आगे बढ़े औ
'रामेश्वर'का भी दर्शन किया (१८।९६–१००)।

पहले कहा जा चुका है कि देशदेशान्तरमें घूमते हुए 'बिल्हण' महाकवि 'विक्रमाङ्कदेव' (षष्ठ) के यहाँ पहुँचे। 'चालुक्य' वंशीय यह राजा महाप्रतापी था। वाचस्पति गैरोला मतमें बिल्हणने १०८५ ई० में राजाके वर्णनार्थ 'विक्रमाङ्कदेवचरित' महाकाव्यको र था। १०५० ई० में अध्ययनोपरान्त इस महाकविने अपनी जन्मभूमि कश्मीर छोड़ दी थी और १०७० ई०के लगभग ये 'अहिलनाद'के चालुक्य राजा 'त्रैलोक्यमल्ल'के यहाँ राजस पण्डित रहे। तदनन्तर कुछ समय बाद ये 'कल्याण'के 'विक्रमादित्य' (चतुर्थ) के आश्रयमें रहे। यहींपर इन्होंने इस 'विक्रमाङ्कदेवचरित' महाकाव्यकी रचना की। इस प्रकार इस महाकविका समय ग्यारहवीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध होना चाहिए।[1] वामन शिवराम आप्टेने भी बिल्हणका समय ग्यारहवीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध ही माना है।[2]

बिल्हणकी रचनाएँ

महाकवि 'बिल्हण'ने इस 'विक्रमाङ्कदेवचरित' महाकाव्यके अतिरिक्त "चौरपञ्चाशिका" तथा "कर्णसुन्दरी-नाटिका" की भी रचना की थी। 'चौरपञ्चाशिका'के विषयमें अनेक विद्वानोंका मत है कि इसके रचयिता बिल्हणके अतिरिक्त कोई दूसरा ही विद्वान् है, जिसका नाम 'चोरकवि' था। किन्तु डा० नेमिचन्द्रशास्त्रीका अभिमत है कि ये बिल्हण ही 'चौरपञ्चाशिका'के भी रचयिता हैं। इसी[3] अभिमतकी पुष्टि 'संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ'में भी की गयी है।[4] वामन शिवराम आप्टे महोदयने भी महाकवि बिल्हणको ही 'चौर-पञ्चाशिका'का रचयिता माना है।[5]

'चौरपञ्चाशिका'के विषयमे यह जनश्रुति है कि गुजरातके राजा 'वीरसिंह' (या— वैरिसिंह) की पुत्रीको पढ़ाते हुए बिल्हणका उसके साथ प्रेम हो गया और दोनोंका यह 'प्रेम-प्रणय' उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। तदनन्तर इसका पता लगनेपर क्रुद्ध राजाने बिल्हणके मृत्युदण्डका आदेश दिया। वध्य-स्थानपर वधिकों द्वारा ले जाते हुए बिल्हणने राजकन्याके प्रेमप्रणयका स्मरण कर 'चौरपञ्चाशिका'की रचना की। वधिकों द्वारा इसकी सूचनासे द्रवित राजाने अपना आदेश स्थगित कर राजकन्याका विवाह बिल्हणके साथ कर दिया। इसीसे मिलती जुलती हुई यह भी किंवदन्ती है कि राजकन्याको पढ़ाते हुए बिल्हणका उसके साथ गुप्त प्रेम हो गया और उसका अपहरण कर अन्यत्र चले जानेके कारण बिल्हणका नाम 'चोरकवि' पड़ा। वास्तविकता जो हो, चौरपञ्चाशिकाके पद्य स्वभावतः मर्मस्पर्शी एवं पूर्णतः स्वाभाविक हैं, कुछ विद्वानोंका तो यहाँतक अभिमत है कि चौरपञ्चाशिकाके

१. संस्कृत साहित्यका इतिहास (पृ० ८७४)।
२. संस्कृत-हिन्दी-कोश (पृ० १२००)।
३. 'संस्कृतगीतिकाव्यानुचिन्तनम्' (पृ० ५९)।
४. संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ (पृ० १३६)।
५. संस्कृत-हिन्दी-कोश (पृ० १२००)।

श्लोक 'विक्रमाङ्कदेवचरित' महाकाव्यसे भी अधिक उत्कृष्ट हैं। महाकविने—"दर्पणमें अपना प्रतिबिम्ब देखती हुई विश्रब्ध नायिकाकी स्थिति दर्पणमें अपने प्रतिबिम्बके साथ चुपचाप पीछेसे सहसा आये हुए नायकका प्रतिबिम्ब देखकर कैसी हो गयी है ?" इसका शब्दचित्रण विल्हणने इस प्रकार किया है। यथा—

"अद्यापि तां रहसि दर्पणमीक्षमाणां संक्रान्तमत्प्रतिनिभं मयि पृष्ठलीने।
पश्यामि वेपथुमतीं च ससंभ्रमां च लज्जाकुलां समदनां च सविभ्रमां च॥"

(चौ० पं०)

ऐसे ही मर्मस्पर्शी भावपूर्ण पद्य चौरपञ्चाशिकामें सर्वत्र मिलते हैं।

महाकवि विल्हणने दाक्षिणात्य 'कल्याण'के चालुक्यवंशीय राजा विक्रमाङ्कदेव (षष्ठ) को अपने महाकाव्यका नायक माना है। इतिहासविदोंने चार चालुक्यवंशोंका उल्लेख किया है, यथा—(१) वातापि चालुक्य, (२) वेंगी-चालुक्य, (३) कल्याणी के चालुक्य और (४) गुर्जरदेशके चालुक्य। किन्तु वाचस्पति गैरोलाने 'संस्कृत साहित्यका इतिहास'में तृतीय वेंगी चालुक्य (पूर्वी चालुक्य) कुलको प्रथम वातापि चालुक्यकुलकी एक शाखा मानकर तीन ही चालुक्य कुलोंको प्रधान माना है।[1]

दाक्षिणात्य चालुक्य कुलमें प्रथम शासक 'तैलप' हुआ। यह 'कीर्तिवर्धन' (द्वितीय) का वंशज था। वातापि कुलके चालुक्योंका इसके साथ वंशज सम्बन्ध था। 'कल्याण' के चालुक्य कुलके उत्तराधिकारी क्रमशः 'सत्याश्रय' (९९७–१००८ ई०), 'विक्रमादित्य' (पञ्चम, सम्भवतः १००८–१०१६ ई०), 'जयसिंह' (द्वितीय, १०१६–१०४२ ई०), 'सोमेश्वर' प्रथम आहवमल्ल (१०४२–१०६८ ई०), सोमेश्वर (द्वितीय, सम्भवतः १०६८–१०७६ ई०) और प्रकृत महाकाव्यका नायक 'विक्रमाङ्कदेव' (षष्ठ, १०७६–११२६ ई०) हुए[2]। पं० कमलेशदत्त त्रिपाठीने इस सत्याश्रयके बाद विक्रमादित्य (पञ्चम, १००८–१०१४ ई०) और 'अय्यण' (१०१५ ई०) चालुक्य कुलके दो राजोंका उल्लेख किया है[2]। किन्तु इनका उल्लेख विल्हणने अपने महाकाव्यमें नहीं किया है। हाँ, 'अय्यण' का नाम "चालुक्यराज–'अय्यण' वंशचरित" महाकाव्यमें आया है, और उसमें 'चालुक्य' कुलकी उत्पत्ति 'विष्णु'के अंशसे बतलायी गयी है। यथा—

"श्रीमहामुनिरुवाच—

श्रूयतां सावधानेन चेतसेदं पुरातनम्।
चालुक्यकुलजातानामैतिह्यं महदद्भुतम्॥ ४७॥
विष्णोरंशात् समुद्भूतो वंशोऽयं वैष्णवो भुवि।
तद्वंशजानां नामानि पुण्यानि निगदामि वः॥ ४८॥

× × ×

ततः शतानीक इति तस्मादुदयनो नृपः॥ ६०॥
यशःपुञ्जप्रभावेण यस्य राज्ञः प्रभावितम्।
भारतं भारतं जातं देवदानवपूजितम्॥ ६१॥

---

१. संस्कृत साहित्यका इतिहास, पृ. ५९२। २. संस्कृत साहित्यका इतिहास (पृ. ५९४)।

एकोनषष्टी राजानोऽभवन्नुवयनात्परम् ।
ततस्तु विजयादित्यः षष्टिसंख्यो नृपोऽभवत् ॥ ६२ ॥
श्रीरामचन्द्राद्भुतराजधानीं पुरीमयोध्यां सुसिषेविरे नृपाः ।
स चित्रकण्ठस्य निशम्य बन्धोस्तत्याज शब्दान्निजराजधानीम् ॥ ६३ ॥
इति चालुक्यराज-अय्यणवंशचरिते काव्ये वंशपरिचये विष्णोरंशभूत-
चन्द्रवंशीयत्ववर्णनं नाम प्रथमः सर्गः ।"[1]

उक्त उद्धरणके अनुसार चालुक्यकुलका चन्द्रवंशीय होना भी सिद्ध होता है। 'चालुक्य-राज-अय्यणवंशचरित' काव्यके पूर्वोक्त ६३ वें श्लोकका समर्थन महाकवि बिल्हणके चालुक्य कुलके राजों द्वारा अपनी मुख्य राजधानी छोड़कर 'अयोध्या'पुरी को अपनी राजधानी बनानेका उल्लेख किया गया है। यथा—

"प्रसाध्य तं रावणमध्युवास यां मैथिलीशः कुलराजधानीम् ।
ते क्षत्रियास्तामवदातकीर्तिः पुरीमयोध्यां विदधुर्निवासम् ॥" (१।६३)

महाकाव्यके लक्षणमें नायकमें धीरोदात्त-गुण होनेका प्रतिपादन किया गया है। इसका लक्षण विश्वनाथने इस प्रकार बतलाया है—

"अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः ।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः ॥" (सा० द० ३।६८)

अर्थात् "धीरोदात्त नायक उसे कहते हैं, जो आत्मप्रशंसक न हो, क्षमाशील हो, अत्यन्त गम्भीर हो, महापराक्रमी हो, दुःख-शोक आदिमें भी स्थिर रहनेवाला हो, अपने मनोभावोंको गुप्त रखनेवाला हो और दृढप्रतिज्ञ हो।" ये सभी गुण बिल्हणके नायक विक्रमाङ्कदेव (षष्ठ) में पूर्णतः विद्यमान थे, यह आगे के कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है। यथा—असम, काञ्ची, केरल, मध्यप्रदेश, द्रविड आदि देशोंको जीतकर लौटनेपर नायकने अपनी प्रशंसा स्वयं कहीं भी नहीं की है, उलटे द्रविडनरेशके दूतके आनेपर उन्होंने कहा कि 'द्रविडनरेशकी सज्जनताको नहीं समझनेसे जो मैंने धनुषसे क्रूर कार्य किया, उसके लिए मैं लज्जित होनेसे कुछ बोल भी नहीं सकता हूँ।' यथा—

"ईदृशीं सुजनामजानता कार्मुकेण मुखरत्वमत्र मे ।
यत् कृतं किमपि तेन लज्जया भारती कथमपि प्रवर्तते ॥" (११५०)

प्रतिपक्षी द्रविडनरेश 'राजिग' की ओरसे युद्ध करनेवाले अपने बड़े भाई 'सोमदेव' को क्षमाकर उसका राज्य वापस करनेकी इच्छा करनेसे नायककी क्षमाशीलता एवं उदारता का परिचय मिलता है। यथा—

"प्रवितरितुमिदमग्रजस्य सर्वं पुनरुपजातमतिः स राजपुत्रः ।" (६।६३)

साथ ही अपने छोटे भाई 'सिंहदेव' के कहीं आग लगा देना, कहीं धन-सम्पत्तिको लूटना, किसीको बन्दीकर जेलखानेमे डाल देना, आदि अनेक प्रकारकी दुष्टता करनेपर भी उसे विक्रमाङ्कदेव चिरकालतक क्षमा ही करते रहे। यथा—

---

१. पं० विश्वनाथशास्त्रि-भारद्वाज 'सम्पादित' 'विक्रमाङ्कदेवचरित' महाकाव्यकी भूमिकाकी टिप्पणी (पृ० ७)।

"क्वापि दाहमपरत्र लुण्ठनं वन्धनं क्वचिद्दाज्जनस्य सः ।
पायचिह्नमिव तस्य भूयसी दुष्टचेष्टितपरम्पराऽभवत् ॥
तस्य दुर्जनपरम्परामसौ चक्षमे चिरतरं क्षमापतिः ।" (१४।५४-५५)

इसी प्रकार विक्रमाङ्कदेव (षष्ठ) के धीरोदात्तसम्बद्ध अन्यान्य गुणोंके उदाहरण भी इस महाकाव्यमें भरपूर मिलते हैं। आगे चलकर महाकविने अन्धकारका ११ वें, नायकके कामदशाका ९वें, चन्द्रमाका ११ तथा १४वें, तपका २रे, दिनका ११ तथा १३ वें, नगरका १,२रे, पर्वतका ११वें, पुत्रोत्पत्तिका २,३,१७ वें, प्रदोषका १६ वें, मृगयाका ११ वें, यज्ञका २ रे, युद्धयात्राका १,३,४,६,७,१४,१६ वें, रात्रिका १६ वें, जङ्गलका ११वें, विप्रलम्भका ९,१३ वें, सम्भोगका १० वें, सायंकालका ११ वे और सूर्य का ११ वें सर्गोंमें उदात्त वर्णन कर अपनी प्रखर प्रतिभाका परिचय दिया है। इस राजाके पूर्वज 'सत्याश्रय'ने कण्टकरूप राजकूट कुलके शासकोंकी पराजितकर उनकी राजश्रीको स्वाधीन कर लिया था। यथा—

"विश्वम्भराकण्टकराष्ट्रकूटसमूलमुन्मूलनकोविदस्य ।
सुखेन यस्यान्तिकमाजगाम चालुक्यचन्द्रस्य नरेन्द्रलक्ष्मीः ॥" (१।६६)

ग्रन्थकारने 'सोमदेव' (प्रथम) का उल्लेख 'आहवमल्लदेव' या 'त्रैलोक्यमल्ल' नामोंसे किया है। यथा—

"तस्मादभूदाहवमल्लदेवस्त्रैलोक्यमल्लापरनामधेयः ।
यन्मण्डलाग्रं न मुमोच लक्ष्मीर्धाराजलोत्था जलमानुषीव ॥" (१।८७)

इसने चोलदेशीय शासकोंको पराजितकर उनके प्रतापको नष्ट कर दिया। यथा—

"कौक्षेयकः क्ष्मातिलकस्य यस्य पीत्वातिमात्रं द्विषतां प्रतापम् ।
आलोड्य बाष्पाम्बुभिराचचाम चोलाकपोलस्थलचन्दनानि ॥" (१।९०)

चोलनरेशको पराजित करनेके बाद इसने मालवेश्वर परमार वंशोत्पन्न 'भोज'को युद्धमें हराकर उसकी राजधानी 'धारा नगरी' को आत्मसात् करके ही शान्ति लाभ किया। यथा—

"दीप्तप्रतापानलसन्निधानाद् बिभ्रत् पिपासामिव यत्कृपाणः ।
"प्रमारपृथ्वीपतिकीर्तिधारां धारामुदारां कवलीचकार ॥
अगाधपानीयनिमग्नभूरिभूभृत्कुटुम्बोऽपि यदीयखड्गः ।
भाग्यक्षयान्मालवभर्तुरासीदेकां न धारां परिहर्तुमीशः ॥
निःशेषनिर्वासितराजहंसः खड्गेन बालाम्बुदमेचकेन ।
भोजक्ष्माभृद्भुजपञ्जरेऽपि यः कीर्तिहंसीं विरसीचकार ॥
भोजक्ष्मापालविमुक्तधारानिपातमात्रेण रणेषु यस्य ।
कल्पान्तकालानलचण्डमूर्तिश्चित्रं प्रकोपाग्निरवाप शान्तिम् ॥" (१।९१-९४)

तदुपरान्त इस राजाने बहुत यज्ञ एवं दानकर अपने यशका विस्तार किया। इसके शासनकाल में कलिका प्रभाव लुप्तप्राय हो गया था। यथा—

"यः कोटिहोमानलधूमजालैर्मलीमसीकृत्य दिशां मुखानि ।

× × × ×

चिन्तामणिर्यस्य पुरो वराकस्तथा हि वार्ता जनविश्रुतेयम् ।
यस्तत्र सौवर्णतुलाधिरूढे चक्रे स पाषाणतुलाधिरोहम् ॥
विधाय रूपं मशकप्रमाणं भयेन कोणे क्वचन स्थितस्य ।
कलेरिवोत्सारणकारणेन यो यागधूमैर्भुवनं रुरोध ॥

(१।६९-१००)

× × × ×

इसके उत्तम शासनप्रबन्धसे सुखी प्रजा-समूह इसके पूर्वजोंके सद्गुणको भूल गया। यथा—

"अन्यायमेकं कृतवान् कृतो यश्चालुक्यगोत्रोद्भव-वत्सलोऽपि ।
यत्पूर्वभूपालगुणान् प्रजानां विस्मारयामास निजैश्चरित्रैः ॥ (१।१०१)

डाहलाधीश 'कर्ण'को पराजितकर इस राजाने समुद्रपर्यन्त दिग्विजयकरके समुद्रतटपर अपना विजयस्तम्भ स्थापित किया। यथा—

"उत्तम्भयामास पयोनिधेर्यस्तीरे जयस्तम्भमदम्भवीरः ।
असूयितं स्वैरविहारशीलैरालानभीत्या जलवारणेन्द्रैः ॥ (१।१११)

महाशूरवीर इस राजाने चोलराजको युद्धमें हराकर उसकी राजधानी 'काञ्ची'को अपने अधीन कर लिया तथा इसके भयसे भागे हुए चोलाधीश ने कँटीले जङ्गलोंमें अनेक कष्ट सहन किया। इस प्रकार महापराक्रमी इस राजाका प्रतिपक्ष-संहारक युद्धकौशल अवर्णनीय मानते हुए ग्रन्थकारने शार्दूलविक्रीडित छन्दसे प्रथमसर्गको समाप्त किया है। यथा—

"ब्रूमस्तस्य किमस्त्रकौशलविधौ देवस्य विक्रामतः
पुष्पेषोरिव यस्य दुष्परिहराः सर्वैरखर्वाः शराः ।
राज्ञामप्रतिमानमेव विदधे युद्धेषु यस्योर्जित-
ज्यानिष्ठ्यूतनितान्तनिष्ठुररवप्रासाप्रवादो भुजः ॥" (१।११८)

प्रसन्न-प्राप्त चालुक्य शासकोंका वर्णन करनेके बाद मैं पुनः प्रकृतमहाकवि और इस रचनाकी ओर आपका ध्यानाकर्पण करना चाहता हूँ। शिष्टाचारानुसार विल्हणने ग्रन्थकी निर्विघ्नतया समाप्ति एवं पाठकों तथा शिष्योंको शिक्षाके लिए सर्वप्रथम आठ श्लोकों द्वारा मङ्गलाचरण कर प्रकृत ग्रन्थमें श्रवणसुखद, सरस्वतीके विलासकी जन्मभूमि एवं सौभाग्यश्रीकी प्रतिभू 'वैदर्भी' रीतिकी स्तुतिद्वारा इसी रीतिका आश्रय लेनेकी ओर संकेत किया है। यथा—

अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः ।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलक्ष्मीप्रतिभूः प्रजानाम् ॥" (१।१०)

साहित्यविदोंने अङ्गोंके यथायोग्य स्थानपर अवस्थित करनेके समान सुप्तिङन्तरूप पदोंको यथास्थान अवस्थित करना 'रीति'का लक्षण कहा है। यह शृङ्गारादि रसादिकी दीपिका होती है तथा इसके 'वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली और लाटी' चार भेद हैं। यथा—

"पदसंघटनारीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत् ।
उपकर्त्री रसादीनां, सा पुनः स्याच्चतुर्विधा ॥
वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चाली लाटिका तथा।"
(सा० दर्प० ९।६४४–६४५)

इनमें-से वैदर्भीका लक्षण माधुर्यपूर्ण वर्णों से युक्त मनोहारिणी समास-रहित या छोटे-छोटे समासवाली रचनाको 'वैदर्भी', (विदर्भदेशमें प्रयुक्त होनेवाली) रीति कहते हैं। जैसा कि साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने कहा है—

"माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैं रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥" (सा० दर्प० ९।६४६)

रुद्रटने इसका लक्षण इस प्रकार कहा है—

"असमस्तैकसमस्ता युक्ता दशभिर्गुणैश्च वैदर्भी।
वर्गद्वितीयबहुला स्वल्पप्राणाक्षरा च सुविज्ञेया ॥" इति (२–६)

दूसरे साहित्यकारोंने ऐसा लक्षण लिखा है—

"अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भीरीतिरिष्यते ॥" इति।

इसके उपरान्त ग्रन्थकारने विश्वनाथके काव्यलक्षणान्तर्गत "क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्" वचनानुसार सत्कवि-प्रशंसा और दुर्जन-निन्दा इस प्रकार की है। प्रथम सत्कवि प्रशंसा करते हुए विल्हण कहते हैं—

"जयन्ति ते पञ्चमनादमित्रचित्रोक्तिसन्दर्भविभूषणेषु।
सरस्वती यद्वदनेषु नित्यमाभाति वीणामिव वादयन्ती ॥" (१।१०)

तदनन्तर व्याजस्तुतिद्वारा दुष्टनिन्दा करते हुए ग्रन्थकारने कहा है—

"न दुर्जनानामिह कोऽपि दोषस्तेषां स्वस्भावो हि गुणासहिष्णुः।
द्वेष्यैव केषामपि चन्द्रखण्डविपाण्डुरा पुण्ड्रकशर्कराऽपि ॥" (१।२०)

आग बुझानेवाले पानीकी रत्नदीप बुझानेमें असमर्थताका उदाहरण देता हुआ ग्रन्थकार दुर्जनोंकी निन्दासे अपनी लापरवाही इस प्रकार प्रकट करता है—

"जडेषु जातप्रतिभाभिमानाः खलाः कवीन्द्रोक्तिषु के वराकाः।
प्रशान्तिनिर्वाणमगर्वमम्बु रत्नाङ्कुरज्योतिषि किं करोति ? ॥" (१।१८)

वैदर्भीरीतिमें लिखे गये सहस्रशः प्रबन्धों (महाकाव्यों) के रहनेपर भी प्रकृत महाकाव्यकी रचना महाकविने इसलिए की कि वैचित्र्य-रहस्यको चाहनेवाले सहृदय विद्वान् इसे अपनायेंगे। यथा—

"सहस्रशः सन्तु विशारदानां वैदर्भलीलानिधयः प्रबन्धाः।
तथापि वैचित्र्यरहस्यलुब्धाः श्रद्धां विधास्यन्ति सचेतसोऽत्र ॥" (१।१३)

भगवान् पतञ्जलिके "मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते, वीरपुरुषकाण्यायुष्मत्पुरुषकाण्यध्येतारश्च मङ्गलयुक्ता यथा स्युः" अर्थात्

"आदि, मध्य तथा अन्तमें मङ्गलाचरणयुक्त शास्त्र लोकप्रसिद्ध होते हैं, तथा आयुष्मान् पुरुषोंवाले होते हैं और पढ़नेवाले भी मङ्गलयुक्त होते हैं। इस वचनके तथा **"समाप्ति-कामो मङ्गलमाचरेत्"** अर्थात (आरम्भ किये गये कार्य आदिकी) समाप्ति चाहनेवालेको मङ्गल करना चाहिए" इस श्रुतिके अनुसार महाकवि विल्हणने अपने ग्रन्थके आरम्भमें—तथा अन्तमें क्रमशः—

भुजप्रभादण्ड इवोर्ध्वगामी स पातु वः कंसरिपोः कृपाणः।
यः पाञ्चजन्यप्रतिबिम्बभङ्ग्या धाराम्भसः फेनमिव व्यनक्ति॥"(१।१)
"यस्य स्वेच्छाशबरचरितालोकनत्रस्तयेव
न्यस्तश्चूडाशशिकलिकया क्वापि दूरे कुरङ्गः।
स व्युत्पत्तिं सुकविवचनेष्वादिकर्ता श्रुतीनां
देवः प्रेयानचलदुहितुर्निश्चलां वः करोतु॥" (१८।१०८)

आशीर्वादात्मक मङ्गलश्लोकोंको करते हुए इस महाकाव्यमें वीररसको अङ्गी तथा दूसरे रसोंको अङ्ग होना सूचित किया है, जैसा महाकाव्यके लक्षणमें 'श्रृङ्गार, वीर और शान्त' रसोंमें-से किसी एक रसको अङ्गी एवं अन्य रसोंको अङ्ग होनेको कहा गया है।

सर्व-प्रथम आठ श्लोकोंमें आशीर्वादात्मक मङ्गल करनेके बाद ग्रन्थकारने महाकाव्य-लक्षणान्तर्गत ग्रन्थ-प्रस्तावना, साभिमान स्वलाघवप्रदर्शन, सज्जन-प्रशंसा एवं दुर्जन-निन्दा भी की है। प्रसङ्ग प्राप्त सज्जन-प्रशंसा एवं दुर्जन-निन्दाके संक्षेपतः उदाहरण क्रमशः १–१ पद्यमें देखिये। यथा—

"जयन्ति ते पञ्चमनादमित्रचित्रोक्तिसन्दर्भविभूषणेषु।
सरस्वती यद्वदनेषु नित्यमाभाति वीणामिव वादयन्ती॥" (१।१०)
तथा—**"जडेषु जातप्रतिभाभिमानाः खलाः कवीन्द्रोक्तिषु के वराकाः?।**
प्राप्ताग्निनिर्वापणगर्वमम्बु रत्नाङ्कुरज्योतिषि किं करोति?॥"
(१।१८)

पहले वैदर्भी रीतिकी श्रेष्ठताको स्वीकार करनेवाले विल्हणने रस, ध्वनि और वक्रोक्तिकी भी उपादेयता स्वीकृत की है। यथा—

"रसध्वनेरध्वनि ये चरन्ति संक्रान्तवक्रोक्तिरहस्यमुद्राः।
तेऽस्मत्प्रबन्धानवधारयन्तु, कुर्वन्तु शेषाः शुकपाठमात्रम्॥" (१।२१)

महाकवि विल्हणकी रचना उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास, दृष्टान्त, श्लेष और समासोक्ति आदि अलङ्कारों से अलङ्कृत है। उदाहरणार्थ उपमा और श्लेपालङ्कारका नमूना एक पद्यमें देखिये। यथा—

"भूभृत्कुलानामुपरि प्रतिष्ठामवाप्य रत्नाकरभोगयोग्यः।
क्रमेण तस्मादुदियाय वंशः शौरेः पदाद् गाङ्ग इव प्रवाहः॥" (१।४७)

अब उत्प्रेक्षा, समासोक्ति और दृष्टान्त अलङ्कारका १–१ पद्यमें नमूना देखिये। यथा—

"मृणालसूत्रं निजवल्लभायाः समुत्सुकश्चाटुषु चक्रवाकः ।
अन्योन्यविश्लेषणयन्त्रसूत्रभ्रान्त्येव चञ्चुस्थितमाचकर्ष ॥" (११३४)
"कौक्षेयकः क्ष्मातिलकस्य यस्य पीत्वाऽतिमात्रं द्विषतां प्रतापम् ।
आलोडय्य बाष्पाम्बुभिराचचाम चोलीकपोलस्थलचन्दनानि ॥" (११६०)
तथा—'कर्णामृतं सूक्तिरसं विमुच्य दोषे प्रयत्नः सुमहान् खलानाम् ।
निरीक्षते केलिवनं प्रविश्य क्रमेलकः कण्टकजालमेव ॥" (११२६)

इस प्रकार महाकवि बिल्हणने अपनी प्रौढि-प्रकृष्टता द्वारा महाकाव्यको सर्वाङ्गसुन्दर बनानेमें पूर्णतः सफलता प्राप्त की है, इसमें कोई विचिकित्सा नहीं है ।

अन्तिम निवेदन एवं क्षमा-प्रार्थना

प्रकृत 'विक्रमाङ्कदेवचरित' महाकाव्यकी रचना सन् १०८५ ई० में हुई थी, किन्तु सन् १८७५ ई० तक इसकी ओर किसी का ध्यान आकृष्ट न होनेसे हस्तलिखित रूपमें यह ग्रन्थ ग्रन्थागारोंकी एक ग्रन्थ-संख्याको ही बढ़ाती रही। तदुपरान्त जर्मन देशके निवासी डा० जार्ज व्युह्लर तथा याकोबी महाशयोंने राजपूतानाके जैसेलमेरके विशाल ज्ञानकोषभाण्डार-से इसे प्राप्तकर केवल सात ही दिनोंमें १२८६ ई० से भी पूर्व ताडपत्रपर लिखित ग्रन्थसे इसकी प्रतिलिपि की, अतिप्राचीन लिपिमे लिखित पुस्तकसे इतने थोड़े समयमें सम्पन्न प्रतिलिपिमें अशुद्धि-बाहुल्य होना स्वाभाविक है। अतिशीघ्रतासे लिखी गयी इस पुस्तक का प्रकाशन डा० महोदयके अथक परिश्रम एवं उत्साहसे विस्तृत भूमिकाके साथ बंबईसे हुआ। कुछ दिन बाद इसके भी अप्राप्य होनेपर इस ग्रन्थसे प्रभावित सर्वतन्त्रस्वतन्त्र म० म० रामावतारशर्माकी देखभालमें इसका प्रकाशन ज्ञानमण्डल यन्त्रालय काशीसे हुआ। किन्तु इस बार प्रकाशित पुस्तकमें भी अशुद्धि-बाहुल्य बना ही रहा। १९४० ई० में राज-कीय संस्कृत महाविद्यालय, काशीकी आचार्य परीक्षामें पाठ्यपुस्तकके रूपमें निर्धारित इस ग्रन्थके दुष्प्राप्य होनेपर 'सरस्वतीभवनपुस्तकालय वाराणसी'के तत्कालीन अध्यक्ष डा० मङ्गलदेव शास्त्री, डी० फिल् (ऑक्सन) महोदयने साधोलाल रिसर्च स्कॉलर पं० मुरारि-लालजी नागर, साहित्याचार्य एम० ए० महोदय द्वारा उक्त पुस्तकालयसे इस महाकाव्यको गवेषणापूर्ण पाठभेद, विवृस्तृत भूमिकाके साथ प्रकाशिक कराया। पूर्वप्रकाशित संस्करणोंकी अपेक्षा इस पुस्तकके अत्यन्त परिष्कृत, शुद्ध होनेका महान् श्रेय 'नागर' महोदयको है। तत्पश्चात् पण्डितवर्य विश्वनाथशास्त्री भारद्वाज महोदयने इस ग्रन्थको १९५८–१९६४ई० में तीन खण्डोंमें संस्कृत एवं राष्ट्रभाषा हिन्दीके साथ विस्तृत भूमिका एवं अनेक महत्वपूर्ण विषयोंसे परिपूर्ण परिशिष्टयुक्त प्रकाशित कर इसे सर्वसाधारणके लिए सुलभ कर दिया है, एतदर्थ शास्त्री महोदयको जितना भी धन्यवाद दिया जाय थोड़ा है।

'श्रीसम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी'की शास्त्री परीक्षाके प्रथम खण्डमें अनिवार्य संस्कृत-साहित्यके पाठ्यग्रन्थके रूपमें निर्धारित विक्रमाङ्कदेवचरित महाकाव्य प्रथमसर्गकी परीक्षार्थी छात्रोंके उपयुक्त संस्कृत हिन्दी टीका लिखनेके लिए "अध्यक्ष, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी" के अनुरोधको मैं टाल नहीं सका तथा वृद्धावस्था-

जन्य अस्वास्थ्य, दैवी विपत्तियों एवं गृहजालकी अनेक कठिनाइयोंसे समयाभावके रहने पर भी आशुतोष लोकशङ्कर भगवान् शङ्करजीकी असीम अनुकम्पासे इसे पूरा किया। इस अत्यन्त लघुकामको पूरा करनेमें उक्त कारणोंसे आशातीत अधिक समय लगने पर भी मुझे सन्तोष एवं विश्वास है कि इस पुस्तकमें जो सामग्री दी गयी है, वह परीक्षार्थी छात्रोंके अतिरिक्त अन्यान्य जिज्ञासु पाठकोंके लिए भी उपयुक्त सिद्ध होगी।

प्रकृत संस्करणमें क्रमशः दण्डान्वय, 'सुधा' नामकी संस्कृत व्याख्यामें अन्वयक्रमसे समास-विग्रह, पर्याय, कोष, व्युत्पत्तिपूर्वक पदसाधुत्व, अलङ्कार, छन्दोनिर्देश और आवश्यकतानुसार यथास्थान पौराणिक इतिहास आदि दिये गये हैं। 'सुधासार' नामकी राष्ट्रभाषा हिन्दी व्याख्यामें अन्वयानुगत अर्थके बाद 'विमर्श'में उसका विशद भावार्थ दिया गया है। साथ ही ग्रन्थके उपोद्घातमें काव्य-प्रयोजन, काव्य-लक्षण, ग्रन्थकारके इतिवृत्त एवं समयादिका सविस्तर प्रतिपादन किया गया है। इस सर्गमें आये हुए अलङ्कारोंके साहित्यदर्पणोक्त लक्षण तथा श्लोकोंकी अकारादिक्रमसे अनुक्रमणिकाका समावेश कर ग्रन्थको यथासम्भव सरल, सुस्पष्ट, सार्वजनीन एवं विशेषतः परीक्षोपयोगी बनानेका प्रयास किया गया है। इसके सम्पादनमें जिन ग्रन्थों एवं टीकाकारोंकी सहायता मैंने ली है, उनका तत्तत्स्थानपर निर्देश कर दिया है एवं उन महानुभावोंका आभार मानता हुआ मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। इसके साथ ही सहृदय, क्षीर-नीर-विवेकी राजहंसके तुल्य गुणग्राही विद्वान् पाठकोंसे करबद्ध प्रार्थना करता हूँ कि वे जिस प्रकार मेरे सम्पादित अमरकोष—(मणिप्रभा और सं० व्याख्यासुधा), रघुवंशमहाकाव्य, शिशुपालवध महाकाव्य, नैषधीयचरित महाकाव्य, मनुस्मृति, अभिधानचिन्तामणि और वैजयन्ती (कोषद्वय) आदि ग्रन्थोंको अपनानेकी कृपासे मुझे अनुगृहीत एवं उत्साहित करते रहे हैं, उसी प्रकार इस लघुकाय उपहारको भी अपनाकर मुझे अनुगृहीत करनेका कष्ट करते हुए मानव-सुलभ दृष्टिदोष, बुद्धिदोष या सूक्ष्माक्षर संयोजनादिजन्य दोष दृष्टिगोचर होने पर—

"गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥ १ ॥
नैवावनद्यं जगतीह किञ्चिन्नवाऽप्यवद्यं किल वस्तुजातम्।
ततो बुधा आददते गुणान् हि हंसा यथा क्षीरपयोविवेकात् ॥"

इस उक्तिको ध्यानमें रखकर मुझे क्षमा-प्रदान करेंगे।

अन्तमें "चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी"के अध्यक्ष महोदयको भी मैं आशीर्वाद एवं भूरिशः धन्यवाद देता हूँ, जिन्होने आशातीत विलम्बसे सम्पादित इस पुस्तकको प्रकाशित करनेकी उदारता की है। इति शम्।

केसठ (भोजपुर), बिहार
कृष्णजन्माष्टमी, वि० सं० २०३८

विद्वज्जनविधेयः—
श्रीहरगोविन्द शास्त्री

॥ श्रीः ॥

विक्रमाङ्कदेवचरितम्

—०—

प्रथमः सर्गः

भुजप्रभादण्ड इवोर्ध्वगामी स पातु वः कंसरिपोः कृपाणः।
यः पाञ्चजन्यप्रतिबिम्बभङ्ग्या धाराम्भसः फेनमिव व्यनक्ति ॥ १ ॥

गिरीन्द्रजासुतं सुपर्वनायकं विनायकं
समस्तदेवतादिपूज्यमङ्गलायनं विभुम्।
अनष्टसिद्धिमष्टसिद्धिसंयुतं गजाननं
कपित्थजम्बुमोदकप्रियं गणाधिपं भजे ॥ १ ॥

शिवाशोभितवामाङ्गं कैलासशिखरस्थितम्।
भुजङ्गाभूषणं गङ्गाधरं नौमीन्दुशेखरम् ॥ २ ॥

भक्तेभ्योऽमलबुद्धिदां शशिमितां श्वेताम्बुजे संस्थितां
ब्रह्मश्रीपतिशङ्करेन्द्रविबुधैर्मन्त्रैः श्रुतीनां स्तुताम्।
पश्यन्तीं निजकच्छपीं ध्वनिमतीं सप्तस्वरानन्ददां
शुभ्रां शुभ्रदतीं सुशुभ्रवसनां श्रीशारदां नौम्यहम् ॥ ३ ॥

श्रीवत्समुद्राय जगद्धिताय सतां शरण्याय रमावराय।
हतासुरायामररक्षकाय दशावताराय नमो नमस्ते ॥ ४ ॥

पद्मप्रबोधं जडतातमोघ्नं खगाधिराजाग्रजसूतमीड्यम्।
सहस्रपादं परमप्रतापं श्रीसूर्यनारायणमीशमीडे ॥ ५ ॥

शब्दब्रह्मोपदेष्टारं गाढाज्ञानतमोपहम्।
समस्तज्ञानकरणं गुरूणां चरणं भजे ॥ ६ ॥

अन्वय.——भुजप्रभादण्डः इव ऊर्ध्वगामी कंसरिपोः सः कृपाणः वः पातु यः पाञ्चजन्यप्रतिबिम्बभङ्ग्या धाराम्भसः फेनं व्यनक्ति इव।

सुधा—सनातनाचारादन्तेवासिनां शिक्षार्थं च "आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्" इत्याप्तोक्त्या 'कश्मीर' वास्तव्यो महाकवि 'बिल्हणः' स्वग्रन्थारम्भे श्रीमत्कृष्णस्मरणद्वाराऽऽशीरूपं मङ्गलं करोति—भुजप्रभेत्यादिना—भुजप्रभा-

दण्डः—भुजस्य वाह्वोः प्रभा दीप्तिस्तस्या दण्डो यष्टिः ("भुजवाहू प्रवेष्टो दोः" इति "स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विडभाभाश्छविद्युतिदीप्तयः" इति च अमरः), इव ऊर्ध्वगामी—ऊर्ध्वमुपरि गच्छतीति तच्छीलः [ऊर्ध्वमित्युपपदाद् 'गम्' धातोः "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" इति णिनि.' णित्त्वादादिवृद्धौ च रूपमिदम्,]कंस-रिपोः—कसस्योग्रसेनसुतस्य कंसाख्यासुरस्य रिपुर्वैरी तस्य श्रीकृष्णस्य (देवक्या अष्टमगर्भे प्रादुर्भूतः श्रीकृष्ण स्वमातुल कंसं हतवानिति पौराणिकी कथाऽत्रानु-सन्धेया), ("विष्णुर्नारायणः कृष्णो"' । देवकीनन्दनः शौरि. श्रीपतिः पुरुषो-त्तमः । वनमाली वलिध्वंसी कंसारातिरधोक्षजः ।" इत्यमरः), कृपाणः—कृपां नुदतीति कृपाणः 'नन्दक'नामा श्रीकृष्णखड्गः ("खड्गे तु निस्त्रिंशचन्द्र हासासिरिष्टयः। कौक्षेयको मण्डलाग्रः करपाल कृपाणवत्" इति "खड्गो नन्दकः इति च अमर), ['कृपा'शब्दोपपदात् 'नुद्' प्रेरणे इति धातोः "अन्येभ्योऽपि" इति ड प्रत्यये "पूर्वपदात् संज्ञायामग्रः' इति णत्वे च 'कृपाण' इति], वः युष्मान् ["वहुवचनस्य वस्नसौ" इति द्वितीयावहुवचनान्तस्य युष्मच्छब्दस्य वसादेशः] पातु रक्षतु ["भुनक्ति पाति दयते गोपायति पिपर्ति च। रक्षति त्रायते त्राणे" इत्याख्यातचन्द्रिका]। यः श्रीकृष्णस्य 'नन्दक'नामा शङ्खः, पाञ्चजन्यप्रतिविम्व-भङ्ग्या·पञ्चजने एतन्नामके दैत्ये भव. पाञ्चजन्यः एतन्नाम्ना प्रसिद्धः श्रीकृष्णस्य शङ्खः ("शङ्खो लक्ष्मीपतेः पाञ्चजन्यः" इत्यमरः) ["पञ्चजनादुपसंख्यानम्" इति 'ञ्यः'प्रत्यये ञित्त्वादादिवृद्धि. ,तस्य प्रतिविम्वं प्रतिच्छाया ("प्रतेर्भा यातना निधिः । छाया छन्द. कायो रूपं विम्वं मानकृती अपि" इत्यभिधानचिन्तामणिः) तस्य भङ्ग्या छलेन ("व्याजच्छलनिभम्" इति रभसः), धाराम्भसः—धारा तीव्रजलप्रवाहः खड्गधारा च सैवाम्भः तोयम् ("अम्भोर्णस्तोयपानीयनीरक्षीरा-म्वुशवरम्" इत्यमरः) तस्य, फेन डिण्डीरम् ("डिण्डीरोऽब्धिकफ फेनः ' इत्यमरः) व्यनक्ति इव व्यञ्जयतीव, ("व्यनक्ति व्यञ्जयति" इत्याख्यातचन्द्रिका)।

पूर्वार्द्धे पूर्णोपमा, उत्तरार्द्धे च कसरिपोः कृपाणस्योर्ध्वगामित्वरूपधर्मनिमित्तिकं भुजप्रभादण्डत्वेनाहार्यसम्भावनमित्युत्प्रेक्षालङ्कारश्च, तथा चाह विश्वनाथः-"सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च" इति "भवेत् सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परेण यत् " इति च साहित्यदर्पणे । अस्मिन् सर्गे प्रायशः "स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः" इतीन्द्रवज्रया "उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ" इत्युपेन्द्रव-ज्रायाश्च छन्दसोरेकत्रपद्ये समुपलब्ध्या 'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीया-वुपजातयस्ता."इति लक्षणेनोपजातिश्छन्दः, अस्मिन् पद्ये तु पूर्वार्द्धोत्तरार्द्धयोःक्रमश

इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोः सत्त्वाच्चतुर्दशविधोपजातिषु[1] मध्ये 'माला'नाम्न्युपजाति-

१. उपजातेश्चतुर्दश भेदा भवन्ति। तदुक्तम्--

"एकत्र पादे चरणद्वये वा पादत्रये वाऽन्यतरः स्थितश्चेत्।

तयोरिहान्यत्र तदोह्वीयाश्चतुर्दशोक्ता उपजाति भेदाः ॥" इति।

एतासां चतुर्दशोपजातीनां नामानि यथा--

"कीर्तिर्वाणी तथा माला शाला हंसी तथैव च।

माया जाया तथा बाला आर्द्रा भद्रा ततः परम् ॥

प्रेमा रामा तथा ऋद्धिर्वृद्धिश्चैव विचक्षणैः।

उक्तान्येतानि नामानि विज्ञेयानि यथाक्रमम् ॥" इति।

एतासां स्वरूपं यथा--

क्रमाङ्कः	१मपादे	२यपादे	३यपादे	४र्थपादे	छन्दोनाम	क्रमाङ्कः	१मपादे	२यपादे	३यपादे	४र्थपादे	छन्दोनाम
१	इ	इ	इ	इ	इन्द्रवज्रा	९	इ	इ	इ	उ	बाला
२	उ	इ	इ	इ	कीर्तिः	१०	उ	इ	इ	उ	आर्द्रा
३	इ	उ	इ	इ	वाणी	११	इ	उ	इ	उ	भद्रा
४	उ	उ	इ	इ	माला	१२	उ	उ	इ	उ	प्रेमा
५	इ	इ	उ	इ	शाला	१३	इ	इ	उ	उ	रामा
६	उ	इ	उ	इ	हंसी	१४	उ	इ	उ	उ	ऋद्धिः
७	इ	उ	उ	इ	माया	१५	इ	उ	उ	उ	वृद्धिः
८	उ	उ	उ	इ	जाया	१६	उ	उ	उ	उ	उपेन्द्रवज्रा

अत्रेकारेणेन्द्रवज्रा, उकारेण चोपेन्द्रवज्रा। एवमाद्यन्ते इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रे छन्दसी, मध्यगता द्वितीयादिपञ्चदशान्ताश्चतुर्दशोपजातयो बोध्याः।

"अनभ्रवृष्टिः……" (श्लोक ९) इति पद्ये स्वयं ग्रन्थकृतया वैदर्भीरीतेः प्रशंसया ग्रन्थेऽस्मिन्मुख्यतो वैदर्भी रीतिः, मङ्गलाचरणात्मकेऽत्र पद्ये वीररस-प्रयोगान्महाकाव्यमिदं वीररसप्रधानमिति सूचितं ग्रन्थकारेण। ओजोमाधुर्य-प्रासादाख्ये गुणत्रये चात्र महाकाव्ये 'प्रसाद' मिश्रित 'ओजो' गुणो बोध्यः।

सुधासार—बाहुके प्रभा-दण्डके समान ऊपर उठायी हुई कंसारि श्रीकृष्ण भगवान्‌की 'नन्दक' नामवाली वह तलवार आपलोगोंकी रक्षा करे, जो 'पाञ्चजन्य 'नामक (श्रीकृष्ण भगवान्‌के) शङ्खकी परछाईंके छल से धारा-वाही (या—तलवारकी धारके) पानीके फेन-सा प्रकट कर रही है।

विमर्श—तलवारको ऊपर उठानेपर वह श्रीकृष्ण भगवान्‌की बाहुके प्रभारूप दण्डके समान प्रतीत होती है, उसमे पड़ती हुई 'पाञ्चजन्य' नामक (श्रीकृष्ण भगवान्‌के) शङ्खकी परछाई श्वेत धारावाले जल (पक्षान्तरमें—तलवारके पानी) के फेन-जैसी मालूम होती है। तलवार (आदि किसी भी लौह-निर्मित हथियार) मे उसकी धारको दृढ एवं चमकदार बनानेके लिए शिल्पीलोग हथियारके तैयार हो जानेपर उसे तपाकर पानी में बुझाते (ठण्डा करते) हैं, जिसे हथियारपर 'पानी चढाना' कहा जाता है। इस क्रियाके बिना लौह-निर्मित किसी हथियारकी धार तेज, दृढ़ एवं चमकीली नहीं होती एवं वह हथियार भी निष्क्रियप्राय हो जाता है। महाकवि 'बिल्हण' ने अपने इस महाकाव्यमें वर्णनीय 'विक्रमाङ्कदेवके चरित्रके अनुरूप राजोचित 'वीररस' एवं 'ओज' गुणको प्रधानता दी है, वह आशीरूप इस मङ्गलात्मक श्लोकमे स्पष्ट झलकती है। साथ ही महाकविने इसी प्रथम सर्गके 'अनभ्र-वृष्टिः…… ' (नवम) श्लोकमें 'वैदर्भी' रीतिकी प्रशंसाद्वारा प्रकृत ग्रन्थमें वैदर्भी रीतिके प्राधान्य होनेका भी सङ्केत किया है॥ १॥

श्रीधाम्नि दुग्धोदधिपुण्डरीके यश्चञ्चरीकद्युतिमातनोति।
नीलोत्पलश्यामलदेहकान्तिः स वोऽस्तु भूत्यै भगवान्मुकुन्दः॥ २॥

अन्वयः—नीलोत्पलदेहकान्तिः यः श्रीधाम्नि दुग्धोदधिपुण्डरीके चञ्चरीक-द्युतिम् आतनोति, स भगवान् मुकुन्दः वः भूत्यै भवतु।

सुधा—सम्प्रति मुकुन्दस्तुतिपूर्वकं पुनराशीर्वचसा मङ्गलं प्रस्तौति ग्रन्थकारः श्री'धाम्नि' इत्यादिना। नीलोत्पलदेहकान्तिः—नीलं च तदुत्पलं चेति नीलोत्पलं नीलकमलमिन्दीवरमिति यावत् तदिव देहस्य शरीरस्य कान्तिः शोभा यस्य सः नीलकमलच्छरीरशोभायुतः इत्याशयः ("तनुस्तनूः संहननं शरीरं कलेवरं

विग्रहदेहकायाः" इति हलायुधः, "शोभा कान्तिर्द्युतिश्छविः" इत्यमरः), यः भगवान् मुकुन्दः, श्रीधाम्नि–श्रियः शोभायाः लक्ष्म्याश्च धाम निवासः श्रीधाम तस्मिन् शोभाया लक्ष्म्याश्च वासस्थाने ("श्रीरभिख्या कान्तिविभ्रमाः। लक्ष्मीश्छाया च शोभायाम्" इति,"ओको निवास आवासो वसतिः शरणं क्षयः। धामागारं निशान्तं च" इति च अभिधानचिन्तामणिः), दुग्धोदधिपुण्डरीके-उदकं जलं धीयतेऽस्मिन्निति उदधिः समुद्रः ("समुद्रोऽब्धिरकूपारः पारावारः सरित्पतिः। उदन्वानुदधि. सिन्धु,''' 'इत्यमरः), [उदकोपपदाद् 'धा' धातोः "कर्मण्यधिकरणे च" इति 'कि' प्रत्यये "उदकस्योदः सञ्ज्ञायाम्" इत्युदकशब्दस्योदादेशे धातोराकारलोपः], दुग्धपूर्ण उदधिर्दुग्धोदधिः क्षीरसमुद्रः एव पुण्डरीकं शुभ्रकमलं तस्मिन् क्षीरसागररूपश्वेतकमले ("पुण्डरीकं सिताम्भोजम्" इत्यभि० चिन्ता०), चञ्चरीकद्युतिम्–चञ्चरीकस्य भ्रमरस्य द्युतिं शोभाम् ('भ्रमरश्चञ्चरीकः स्याद्रोलम्बो मधुसूदनः" इति त्रिकाण्डशेषः, "शोभा कान्तिर्द्युतिश्छविः" इत्यमरः), आतनोति विस्तृणाति अतिशयं विस्तारयतीत्यर्थः ("निस्तृणोति व्यस्यति च विस्तृणात्यातनोति च। चत्वारस्त्वति विस्तारे" इत्याख्यातचन्द्रिका)। सः पूर्ववर्णितः, भगवान्–भगाः सन्त्यस्यस्मिन्निति भगवान् (,'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इति स्मृतः ॥ इति), ['भग' शब्दोपपदात् "तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' 'इति 'मतुप्' प्रत्यये "मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः" इति मकारस्य वकारः], मुकुन्दः श्रीकृष्णः ("विष्णुः कृष्णः केशवो मञ्जुकेशी श्रीवत्साङ्कः श्रीपतिः पीतवासाः। विष्वक्सेनो विश्वरूपो मुरारिः शौरिः शार्ङ्गी पद्मनाभो मुकुन्दः॥" इति हलायुधः) वः वयं च यूयं च सर्वे चेति यूयं तेषां युष्माकमस्माकं सर्वेषाञ्चेत्यर्थः युष्माकमिति वा। प्रथमेऽर्थे वयं च यूयं च सर्वे चेति विग्रहे "त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्" इत्यस्मच्छब्दस्य एकशेषे प्राप्तेऽपि "क्वचित् पूर्वशेषोऽपि दृश्यते" इति युष्मच्छब्दस्यैकशेषे "बहुवचनस्य वस्नसौ" इति वसादेशः] भूत्यै सम्पदे ("भूतिर्भस्मनिसम्पदि" इत्यमरः), अस्तु भवतु। अस्मिन् पद्ये दुग्धोदधिपुण्डरीके 'इत्यत्र शुभ्रत्वसाम्यादुपमानोपमेययोर्दुग्धोदध्योरभेदारोपाद्रूपकालङ्कारः, तल्लक्षणं च—"तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः" इति काव्यप्रकाशे, चञ्चरीकद्युतिमिव द्युतिमित्यर्थावगमात् सम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शनालङ्कारस्तल्लक्षणं साहित्यदर्पणे-"संभवन् वस्तुसम्बन्धोऽसंभवन् वाऽपि कुत्रचित्। यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना ॥" इति। नीलोत्पलस्य श्रीकृष्णदेहकान्तेश्चैकत्र श्यामलत्वधर्मसाम्यादुपमालङ्कारश्च, एतल्लक्षणञ्च तत्रैव विश्वनाथ आह—

"साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः।" इति। धकार-वकारयोरसकृदुक्त्यानुप्रासालङ्कारश्च, एषां परस्परं पृथक् प्रतीतेः "तिलतण्डुलन्यायेन संसृष्टिः।" इत्यलङ्कारसर्वस्वोक्त्या संसृष्टिः। अत्र पद्ये प्रथमादिपादत्रय इन्द्रवज्रा चतुर्थपादे चोपेन्द्रवज्रेत्यतो 'वाला' नाम्न्युपजातिः॥ २॥

सुधासार—नीलकमल के समान श्यामल शोभावाले जो (मुकुन्द) लक्ष्मीजी (पक्षान्तर में–शोभा) के निवासस्थान श्वेतकमलपर (श्यामवर्ण) भौरे की शोभाको फैला रहे है, वे भगवान् मुकुन्द (श्रीकृष्णजी)तुमलोग, हमलोग और सवलोगो (या–तुमलोगों) के ऐश्वर्य के लिए (ऐश्वर्यदाता) होवें।

विमर्श—लक्ष्मीजीका निवासस्थान कमल है तथा विष्णु भगवान् क्षीरसागरमे श्वेतवर्णवाले सहस्रफणयुक्त शेषनाग पर शयन करते हैं, यह शास्त्रानुमोदित है, अतः यहाँ ग्रन्थकारने 'श्रीधाम्नि' और 'क्षीरोदधिपुण्डरीके' पदो से इसका स्पष्ट प्रतिपादन किया है तथा कमलके ऊपर गन्धलुब्ध श्यामवर्ण भौंरेका भ्रमण करना भी लोकानुभूत होने से श्वेत क्षीरसमुद्ररूप कमलके ऊपर श्यामवर्ण श्रीकृष्णजीको भ्रमररूपसे सङ्केत किया है॥ २॥

वक्षःस्थली रक्षतु सा जगन्ति जगत्प्रसूतेर्गरुडध्वजस्य।
श्रियोऽङ्गरागेण विभाव्यते या सौभाग्यहेम्नः कषपट्टिकेव॥३॥

अन्वयः–जगत्प्रसूतेः गरुडध्वजस्य सा वक्षःस्थली जगन्ति रक्षतु, या श्रियः अङ्गरागेण सौभाग्यहेम्नः कषपट्टिका इव विभाव्यते॥ ३॥

सुधा—जगत्प्रसूतेः–गच्छतीति जगत्। ('गम्'धातोः "द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च" इति 'क्विप्'प्रत्यये द्वित्वे च "गमः क्वौ" इति मलोपे "ह्रस्वस्य पिति कृति" इति तुगागमे 'जगदि' ति], प्रस्रवणं प्रसूतिरुत्पत्तिस्थानम् [प्रोपसर्गात् 'षूङ्' धातोः "स्त्रियां क्तिन्" इति 'क्तिन्' प्रत्ययः]जगतां भुवनानां प्रसूतिः प्रसव उत्पत्तिरित्यर्थः, जगतां प्रसूतिर्यस्मादिति जगत्प्रसूतिरिति वा तस्य भुवनोत्पत्तिस्थानस्य ("विष्टपं भुवनं जगत्"इति "प्रसूतिः प्रसवे" इति च अमरः) गरुडध्वजस्य–गरुडो वैनतेयो ध्वजश्चिन्हमस्येति गरुडध्वजो विष्णुस्तस्य ("गरुत्मान्गरुडस्तार्क्ष्यो वैनतेयः खगेश्वरः···" इति "विष्णुर्नारायणः कृष्णो वैकुण्ठो विष्टरश्रवाः···। दैत्यारिः पुण्डरीकाक्षो गोविन्दो गरुडध्वजः।···"इति च अमरः) यस्य यद्वाहनं तदेव तस्य ध्वजे चिन्हरूपेण विराजते, अत एव गणेशो मूषिकध्वजः, शिवो वृषभध्वजः, कार्तिकेयो मयूरध्वजः, यमो महिषध्वजः, नारायणश्च गरुडध्वजः उच्यते। सा वक्षःस्थली सोरःस्थली, जगन्ति भुवनानि,

रक्षतु पालयतु ("""रक्षति त्रायते त्राणे पालयत्यपि तेजति" इत्याख्यातचन्द्रिका। या नारायणस्य वक्षःस्थली श्रियो लक्ष्म्याः अङ्गरागेण–अङ्गं शरीरं तस्य रागः कनकवद्गौरवर्णा दिव्यकान्तिः श्रियःपयोधरादिपु लिप्तचन्दनागरुकुङ्कुमादिलेपः यद्वा-श्रीविष्णुशरीरे प्रतिफलितश्रीदेहगौरच्छविस्तेन ।"अङ्गं गात्रं प्रतीकोपाययोः पंभूम्नि नीवृति क्लीबैकत्वेत्वप्रधाने त्रिष्वङ्गवति चान्तिके ।" इति, "रागस्तु मात्सर्ये लोहितादिपु । क्लेशादावनुरागे च गान्धारादौ नृपेऽपि च ।" इति च मेदिनी), ['अगि' कल्याणे इति धातोरच्प्रत्यये 'अङ्गम्' इति, 'रञ्ज्' धातोर्घञ्प्रत्यये राग' इति च], सौभाग्यहेम्नः–सुभगस्य भावः सौभाग्यं पतिप्रेमप्राप्तसान्निध्यजातगाढालिङ्गनादिकमेव हेम वहुमूल्यं सुवर्णं तस्य (सुवर्ण पुनः । स्वर्ण हेम हिरण्यहाटकवसून्यष्टापदं काञ्चनं…" इत्यभि० चिन्ता०), ['सुभग' शब्दात् "गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च" इति 'ष्यञ्' प्रत्यये हृद्भगसिन्ध्वन्तेभ्यः पूर्वपदस्य च" इत्युभयपदवृद्धौ 'सौभाग्यम्' इति], कषपट्टिका निकषोपलः 'कसौटी' ति ख्यात. ("शोणस्तु निकषोपलः" इत्यमरोऽभिधा० चिन्ता० च), इव तुल्यम्, विभाव्यते ज्ञायते । श्यामवर्णे निकषोपले घर्षणेन सुवर्णस्य परीक्षा क्रियते, अत्र श्रियः सुवर्णोपमा गौरवर्णा देहकान्तिः स्तनादिपु लिप्तकुङ्कुमचन्दनादिलेपोवा श्यामले नारायणदेहे प्रतिविम्बितं भवति गाढाश्लेषेण विष्णुवक्ष स्थल्यां लग्नं वा भवति, अतः सा पतिप्रेमलब्धगाढालिङ्गनादिरूपं श्रियः सौभाग्यं सूचयन्ती शाणोपले सुवर्णरेखेव शोभते, परीक्ष्यमाणोत्तमसुवर्णस्यैव निकषोपले जातं घर्षणजं चिह्नं विशेषतो दीप्यते न तु तुच्छस्य सुवर्णस्य चिह्नमतो निकषस्वरूपे श्रीविष्णुदेहे प्रतिविम्बिता श्रीदेहच्छविरुत्तमा वर्णितेत्यस्मात्तस्याः सविशेषं गौराङ्गत्वं प्रतीयते । जगदुत्पादकतया जनकस्थानीयस्य विष्णोः पुत्रस्थानीयजगतां रक्षणं समुचितमेवेति ध्वन्यते, श्रियो देहेकान्तौ सौभाग्यहेम्न आरोपाद्रूपकालङ्कारः, निकष पट्टिकाया वक्षःस्थलीवेत्युत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालङ्कारश्च, तयोः साङ्कर्यात् 'क्षीरनीरन्यायेन तु सङ्करस्याख्यातचन्द्रिकोक्तलक्षणात् सङ्करः । आद्यन्तपादयोरिन्द्रवज्रा द्वितीयतृतीयपादयोश्चेन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र "भद्रा" नाम्न्युपजातिः ।

सुधासार—संसारके उत्पत्ति-कारण गरुडध्वज (श्रीविष्णुभगवान्) की वह वक्षःस्थली (छाती) समस्त संसारकी रक्षा करे, जो लक्ष्मीजीकी पीतवर्ण शरीरशोभासे युक्त होनेके कारण (अथवा–स्तनादिमे पत्ररचनादिरूप हरिद्रा-चन्दन-कुङ्कुमादिलेप, पतिके, अतिशय प्रेमवश संक्रान्त होनेके कारण) सौभाग्यरूपी स्वर्णकी उत्तमता पर रखनेवाले 'कसौटी' नामक पत्थरके समान ज्ञात होती है।

विमर्श—भगवान् विष्णुसे उत्पन्न जगत् उनकी सन्तानके तुल्य है और सन्तानकी रक्षा करना पिताको उचित ही है, भगवान्‌की देहकान्ति 'कसौटी'के समान श्यामल हैं, उसमें निकटस्थित लक्ष्मीकी सुवर्ण-तुल्य गौरवर्ण शरीर-कान्ति प्रतिविम्बित होकर परीक्षणार्थ कसौटीपर घिसे गये स्वर्ण-चिह्न-जैसी जान पड़ती है, अथवा-लक्ष्मी द्वारा अपने स्तनादिमें हल्दी, चन्दन आदि द्वारा की हुई पत्रावलि रचना श्यामवर्ण भगवान्‌के देहमें गाढालिङ्गनके कारण लगाकर कसौटीपर रगड़े गये सुवर्णके चिह्न-सी मालूम पड़ती है, पतिका अटूट प्रेम पाये विना स्त्रीके दूर रहनेसे पतिके शरीरमें स्त्री-शरीर-कान्तिका प्रतिफलित होना अथवा गाढालिङ्गनके विना स्त्रीके अङ्गरागका पतिदेहमें लगना असम्भव है, अतः यहाँ महाकविने उक्त वर्णन द्वारा लक्ष्मीके सौभाग्यको सुवर्ण (कनक) कहा है। उत्तम सुवर्णका ही चिह्न कसौटीपर अधिक चमकीला होता है, खोटे (निकृष्ट) सुवर्णका नहीं—इस वर्णन द्वारा लक्ष्मीके सौभाग्यका अत्युत्तम होना सूचित किया गया है ॥ ३ ॥

एकः स्तनस्तुङ्गतरः परस्य वार्तामिव प्रष्टुमगान्मुखाग्रम् ।
यस्याः प्रियार्द्धस्थितिमुद्वहन्त्याः सा पातु वः पर्वतराजपुत्री ॥ ४ ॥

अन्वयः—प्रियार्द्धस्थितिम् उद्वहन्त्याः यस्याः तुङ्गतरः एकः स्तनः परस्य वार्ताम् प्रष्टुमिव मुखाग्रम् अगात्, सा पर्वतराजपुत्री वः पातु ।

सुधा—साम्प्रतमर्द्धनारीश्वरं वर्णयन् पार्वतीं स्तौति-एकः स्तनस्तुङ्गेत्यादिना । प्रियस्य भर्तुः शिवस्यार्द्धे तुल्यार्द्धदक्षिणभागे स्थितिं नित्यावस्थानम् ("धवः प्रियः पतिर्भर्ता" इति "अर्द्धं समेऽशके" इति च अमरः), उद्वहन्त्याः-उद्वहतीति उद्वहन्ती तस्याः धारयन्त्याः [उत्पूर्वाद्वहधातोर्लटः 'शतृ'प्रत्यये 'शप्श्यनोर्नित्यम्" इति नुमागमे स्त्रीत्वात् "उगितश्च" इति 'ङीप्' प्रत्ययः], यस्याः पार्वत्याः, तुङ्गतरः द्वयोरधिकोन्नतः [अतिशयेन तुङ्गः इति विग्रहे "द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ" इति 'तरप्' प्रत्यय] एकः, अन्यतरः, वामभागेस्थितः, इति भाव., स्तनः पयोधरः ("स्तनौ कुचौ पयोधरौ । उरोजौ च" इत्याभि० चिन्ता०), परस्य शिवभागस्थद्वितीयस्तनस्य, वार्ता वृत्तान्तम् ("वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः" इत्यमरः), प्रष्टुमिव प्रश्नं कर्तुमिव 'प्रच्छ'धातोस्तुमुन्], मुखाग्रम्-मुखस्याननस्याग्रं समीपम् ("वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्" इत्यमरः), अगात् अगमत् ['इण्' गतौ इति धातोर्लुङि तिपि "इणो गा लुङि" इति 'गा'देशे "गतिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु" इति सिचो लुकि 'अगात्' इति रूपम्] ।

सा पूर्वपरामृष्टा, पर्वतराजपुत्री–पर्वतानां राजा पर्वतराजो हिमाचलस्तस्य पुत्री सुता पार्वतीत्यर्थः ('हिमालयो नगपतिर्मेनाधव उमागुरुः'' इति त्रिकाण्डशेषः), ['पर्वतराज' इत्यत्र षष्ठीतत्पुरुषे ''राजाहः सखिभ्यष्टच्'' इति 'टच्' प्रत्यये टित्त्वात् ''नस्तद्धिते'' इति टेर्लोपो ज्ञेयः], वः युष्मान् पातु रक्षतु । अत्रात्युन्नतस्य शिववामभागस्तनस्य पार्वतीमुखसमीपमुपगम्य दक्षिणभागस्थस्तनस्थितज्ञानरूपस्य फलस्य ''वार्तां प्रष्टुमिवे''त्यनेनोत्प्रेक्षणात्फलोत्प्रेक्षालङ्कारः। पद्येनानेनार्द्धनारीश्वररूपवर्णनाच्छिवस्यैव पार्वत्या आदिशक्तित्वं ध्वनितम् । दक्षप्रजापतेः कन्या शिवस्य पत्नी 'सती' स्वपितुर्यज्ञेऽपमानिता योगाग्निना देहं त्यक्त्वा हिमालयान्मेनागर्भे समुत्पद्य तपोभिः शिवं सन्तोष्य तच्छरीरार्द्धभागमलभत इति पुराणकथाऽनुसन्धेया । तदुक्तं महाकविना कालिदासेन कुमारसम्भवमहाकाव्ये —

> ''अथावमानेन पितुः प्रयुक्ता दक्षस्य कन्या भवपूर्वपत्नी ।
> सती सती योगविसृष्टदेहा तां जन्मने शैलवधूं प्रपेदे ॥
> सा भूधराणामधिपेन तस्यां समाधिमत्यामुदपादि भव्या।
> सम्यक्प्रयोगादपरिक्षतायां नीताविवोत्साहगुणेन सम्पत् ॥''

इति (१।२१–२२) । अत्रेन्द्रवज्रावृत्तम् ।

सुधासारः—(अर्द्धनारीश्वर होनेसे) पति (शिवजी) के आधे भागमें स्थितिको धारण करती हुई जिसका अधिक ऊँचा एक (वामभागवाला) स्तन मानो दूसरे स्तनका कुशल पूछनेके लिए मुखके पास गया, वह पर्वतराजपुत्री अर्थात् पार्वती आपलोगोंकी रक्षा करे ।

विमर्श—अर्द्धनारीश्वर भगवान् शङ्करजीके शरीरका आधा भाग पार्वती का और आधा भाग शङ्करजीका है नारी होनेसे पार्वतीके भागवाला स्तन उन्नत है, अतः मुखकी ओर ऊपर उठा हुआ होनेसे महाकविने दक्षिण भागस्थित शिवस्तनके स्वभावतः कुछ छोटा होनेके कारण उसके वृत्तान्तको पार्वतीके मुखके पास जाकर पूछनेकी उत्प्रेक्षा की है । बड़े व्यक्तिका अपनेसे हीन व्यक्तिका हाल-चाल पूछना स्वाभाविक ही है ॥ ४ ॥

> **सान्द्रां मुदं यच्छतु नन्दको वः सोल्लासलक्ष्मीप्रतिबिम्बगर्भः ।**
> **कुर्वन्नजस्रं यमुनाप्रवाहसलीलराधास्मरणं मुरारेः ॥ ५ ॥**

अन्वय.—सोल्लासलक्ष्मीप्रतिबिम्बगर्भः (अत एव) अजस्रम् मुरारेः यमुनाप्रवाहसलीलराधास्मरणम् कुर्वन् नन्दकः वः सान्द्राम् मुदम् यच्छतु ।

सुधा–सोल्लासलक्ष्मीप्रतिबिम्बगर्भः—उल्लासेन पतिसान्निध्यजन्योत्साहेन

सहिता सोल्लासा सा चासौ लक्ष्मीश्चेति सोल्लासलक्ष्मीः पतिसान्निध्यजन्योत्साहयुक्ता हरिप्रिया तस्याः प्रतिबिम्बं प्रतिच्छायां गर्भे कुक्षौ यस्य स ("लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया ।" इत्यमर, "प्रतिबिम्बं प्रतिरूपं प्रतिमानं प्रतिकृतिं प्रतिच्छन्दम् । प्रतिकायं प्रतिनिधिमाहुः प्रतियातनां प्रतिच्छायाम् ।" इति हलायुधः, "गर्भः कुक्षौ शिशौ ग्रन्थौ भ्रूणे पनसकण्टके ।" इत्यनेकार्थसंग्रहश्च), ['सोल्लासे'त्यत्र "तेन सहेति तुल्ययोगे" इति बहुव्रीहिसमासे "वोपसर्जनस्य" इति 'सहे'त्यस्य सादेशः], (अत एव) अजस्रम् अनवरतं ("सततानारताश्रान्तसन्तताविरतानिशम् । नित्यानवरताजस्रमपि" इत्यमरः), मुरारिः—मुर एतन्नामकासुरस्तस्यारिः शत्रुस्तस्य श्रीकृष्णस्य ("विष्णुः, कृष्णः केशवो मञ्जुकेशी श्रीवत्साङ्कः श्रीपतिः पीतवासाः । विष्वक्सेनो विश्वरूपो मुरारिः शौरिः शार्ङ्गी पद्मनाभो मुकुन्दः ॥' इति हलायुधः), यमुनाप्रवाहसलीलराधास्मरणम्—यमुनायाः कालिन्द्याः प्रवाहे जलस्रोतसि सलीलाया जलक्रीडारूपलीलया सहिताया राधायाः राधाख्यगोप्याः वृषभानुपुत्र्याः स्मरणं स्मृतिम् ("कालिन्दी दिनकरात्मजा यमुना" इति हलायुधः, 'प्रवाहस्तु प्रवृत्तौ स्यादपि स्रोतसि वारिणः" इति "लीलाकेलिविलासयोः" इति च मेदिनी), कुर्वन् विदधत् ['कृञ्'धातोः "लट शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे" इति लटः 'शतृ' प्रत्यये "तनादिकृञ्भ्य उः" इत्युकारे "अत उत्सार्वधातुके" इत्युत्वे "न भकुर्छुराम्" इति दीर्घनिषेधे 'कुर्वन्' इति] नन्दक एतन्नामा विष्णोः खड्गः (नन्दको हरिखड्गे च हर्षके कुलपालके" इति मेदिनी), वः युष्मभ्यम्, सान्द्रां घनामविकामिति यावत् ("सान्द्रं वने घने मृदौ" इति मेदिनी), मुदं प्रीतिं ("मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षः" इत्यमरः), यच्छतु ददातु ['यम्' धातोर्लटि तिपि "इषुगमियमां छः" इति मस्य च्छादेशः] । श्यामवर्णाया लोहमयनन्दकप्रभायां सहचारिण्याः श्रियो गौरशरीरप्रतिबिम्बं दृष्ट्वा यमुनाया श्यामवर्णे प्रवाहे जलक्रीडापरायणाया गौराङ्ग्या राधायाः स्मरणं नन्दकदर्शनेन विदधत् श्रीकृष्णः मङ्गल ददात्वित्याशय । श्यामलनन्दकप्रभाया सहचारिण्या लक्ष्म्याः प्रतिबिम्बदर्शनेन श्यामे यमुनाप्रवाहे क्रीडन्त्या राधायाः स्मरणेनात्र स्मरणालङ्कारस्तल्लक्षणं च—"सादृश्यानुभवाद्वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते" इति साहित्यदर्पणे । केवलं चरमपादे उपेन्द्रवज्राशेषत्रये चेन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'बाला'नाम्न्युपजातिः ।

सुधासार–सोल्लास लक्ष्मीके प्रतिबिम्बसे युक्त (अत एव) श्रीकृष्णजीको यमुनाके प्रवाहमे क्रीडा करती हुई 'राधा' का स्मरण कराता हुआ 'नन्दक' नामक खड्ग आपलोगोके लिए अतिशय हर्ष-प्रदान करे ।

विमर्श—लोहेकी बनी हुई श्रीविष्णुकी तलवार श्यामवर्ण की है, उस चमकती हुई तलवारमें उल्लास-युक्त (विष्णु-सहचरी) लक्ष्मीका गौर देह प्रतिबिम्बित हो रहा है; उसे देखकर उन्हें श्यामवर्ण यमुना-प्रवाहमें जलक्रीडा करती हुई गौराङ्गी 'राधा' का स्मरण हो रहा है ॥ ५ ॥

पार्श्वस्थपृथ्वीधरराजकन्याप्रकोपविस्फूर्जितकातरस्य ।
नमोऽस्तु ते मातरिति प्रणामाः शिवस्य सन्ध्याविषया जयन्ति ॥६॥

अन्वयः—पार्श्वस्थपृथ्वीधरराजकन्याप्रकोपविस्फूर्जितकातरस्य शिवस्य "मातः । ते नमः अस्तु" इति सन्ध्याविषयाः प्रणामाः जयन्ति ।

सुधा—पार्श्वस्थपृथ्वीधरराजकन्याप्रकोपविस्फूर्जितकातरस्य—पार्श्वे निकटे तिष्ठतीति पार्श्वस्था अर्द्धाङ्गतया निकटस्था, धरन्तीति धराः पृथ्व्याः धराः पृथ्वीधराः पर्वतास्तेषां राजा पृथ्वीधरराजो हिमालयस्तस्य कन्या कुमारी पृथ्वीधरराजकन्या पार्वती, पार्श्वस्था चासौ पृथ्वीधरराजकन्या पार्श्वस्थपृथ्वीधरराजकन्या तस्याः प्रकोपस्य अतिशयितक्रोधस्य विस्फूर्जितेन विजृम्भितेन वृद्ध्येत्यर्थः कातरस्याधीरस्य ("कुमारी कन्यका कन्या" इति वैजयन्ती "कोप क्रोधस्तथाऽमर्षः" इति हलायुधः, "अधीरे कातरः" इत्यमरः) ['पार्श्वस्था' इत्यत्र "गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनम्" इत्युपपदसमासे, 'स्था' धातोः 'आतोऽनुपसर्गे कः" इति 'क' प्रत्यये 'आतो लोप इटि च" इत्याकार लोपे स्त्रीत्वाट्टाप्प्रत्यय. । 'पृथ्वीधरराज' इत्यत्र 'धृ' धातो. "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" इत्यच् प्रत्यये 'धर' इति, ततः पृथ्व्याः धर इति पृथ्वीधरः, षष्ठीतत्पुरुषे 'पृथ्वीधर' इति, पुनरस्य राजञ्छब्देन षष्ठीतत्पुरुषे "राजाहःसखिभ्यष्टच्" इति 'टच्' प्रत्यये टित्त्वात् 'अन्' इति टिभागस्य "नस्तद्धिते" इति लोपो बोध्यः], शिवस्य शम्भोः ("शम्भुरीशः पशुपतिः शिवः शूली महेश्वरः । ..."इत्यमरः) ['शिवयति' इति विग्रहे "तत्करोति तदाचष्टे" इति ण्यन्तात् "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो . " इत्यच् प्रत्यये शिवमस्यास्तीति विग्रहे "अर्श आदिभ्योऽच् इति वा 'अच्' प्रत्यये 'शिव' इति], मातः हे जननि ! ते तुभ्यं ["तेमयावेकवचनस्य" इति चतुर्थ्येकवचनान्तयुष्मच्छब्दस्य 'ते' इत्यादेशो बोध्यः । 'नमः' शब्दयोगे "नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च" इति चतुर्थी], नमो नमस्कारः, अस्तु भवतु, इति एवंविधाः ("इति हेतौ प्रकाशने । निदर्शने प्रकारे स्यात्परकृत्यनुकर्षयोः ।...." इति मेदिनी), सन्ध्याविषयाः सन्ध्यासमयाधिष्ठातृदेवताविषयकाः, प्रणामाः प्रणतयः, जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते विजयन्ते वा । सूर्यस्यास्तमनवेलायां सन्ध्योपासनध्यानमग्नं स्वामिनं शिवं विलोक्य

'ममायं पतिः सन्ध्यायां (परस्त्रिया) अनुरक्तस्तां ध्यायती' ति विमृश्य भ्रमवशाद् भृशं कुपितायाः पार्वत्याः भ्रमनिराकरणार्थं शिवः हे मातः ! तुभ्यं नमोऽस्तु इत्येवं सन्ध्यां 'मातृ' शब्देन सम्बोधनपूर्वक नमस्कृतवान् । केचन सन्ध्यायां वस्तुतोऽनुरक्त, शिवो भृश कुपितां पार्वतीं दृष्ट्वा सन्ध्यां मातृत्वेन सम्बोध्य स्वप्रेयस्याः कोपं दूरीकृतवानित्याशयं कथयन्ति, किन्त्वेवं शिवे एकनारीव्रत-भङ्गरूपमहादोषात्तदुक्तिर्न समीचीनेत्यलम् । प्रथमचरण इन्द्रवज्रा शेषेपु चोपेन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'वृद्धि' नाम्न्युपजातिः ।

सुधासार—वामपार्श्वस्थित पर्वतराजपुत्री (पार्वती) के बढ़े हुए क्रोधसे अधीर शिवके 'हे माताजी ! तुम्हें नमस्कार हो ।' इस प्रकार सन्ध्या (वेलाकी अधिष्ठात्री देवी) को किये गये प्रणाम विजयी होवें ।

विमर्श—सूर्यकी अस्तमन वेलामें नित्यक्रिया-निवृत्त्यर्थं शिवजी सन्ध्या-वन्दन करते हुए ध्यानमग्न थे । उन्हे ध्यानस्थ देखकर वामपार्श्वस्थित पार्वती पति को सन्ध्या (नामकी परस्त्री) में अनुरक्त जानकर अत्यन्त क्रुद्ध हो गयीं और उन्हें क्रुद्ध देखकर शिव ने सन्ध्यादेवी को 'हे माताजी ! तुम्हें नमस्कार हो' ऐसा कहकर पार्वती का भ्रम दूर किया । कुछ विद्वान् कहते है कि 'शिव जी सन्ध्यामे वस्तुतः अनुरक्त होकर ध्यानमग्न थे, उन्हें वैसा देखकर जब पार्वती अधिक कुपित हो गयीं तब अधीर होकर शिवने सन्ध्या को 'मातृ' शब्दसे सम्बोधित कर प्रणाम करके पार्वती का क्रोध शान्त किया अर्थात् अपने वास्तविक भाव को छिपा लिया किन्तु ऐसा अभिप्राय अर्द्धनारीश्वर भगवान् शिव पर एकनारीव्रत-भङ्गरूप दोषाधायक होने से उचित नहीं प्रतीत होता ।६।

वचांसि वाचस्पतिमत्सरेण साराणि लब्धुं ग्रहमण्डलीव ।
मुक्ताक्षसूत्रत्वमुपैति यस्या सा सप्रसादाऽस्तु सरस्वती वः ॥७॥

अन्वयः—ग्रहमण्डली वाचस्पतिमत्सरेण साराणि वचांसि लब्धुम् इव यस्या मुक्ताक्षसूत्रत्वम् उपैति, सा सरस्वती वः सप्रसादा अस्तु ।

सुधा—साम्प्रतं वागधिष्ठात्री सरस्वती स्तौति—वचांसीति । ग्रहमण्डली-ग्रहाणां बृहस्पतिरहित शेपाणां सूर्यादिग्रहाणां मण्डली समूहः ("ग्रहो ग्रहण—निर्बन्धानुग्रहेपु रणोद्यमे । उपरागे पूतनादावादित्यादौ विधुन्तुदे ॥" इत्यनेकार्थ-संग्रहः, "त्रिलिङ्ग मण्डलं वृन्दे ग्रामौघप्रतिबिम्बयोः । उपसूर्ये कुष्ठरोगे देशे द्वादशराजके ॥" इति वैजयन्ती), ['ग्रह' धातोः "ग्रहवृदनिश्चिगमश्च" इत्य-प्प्रत्यये 'ग्रह' इति 'मण्डली' त्यत्र "वृपादिभ्यश्चित्" इति 'कलच्' प्रत्यये 'षिद्गौरादिभ्यश्च" इति ङीप्] वाचस्पतिमत्सरेण—वाचःपतिर्वाचस्पतिर्देव-

गुरुस्तस्मै मत्सरेण मात्सर्येण ("बृहस्पतिः सुराचार्यो गीष्पतिर्धिषणो गुरुः। जीव आङ्गिरसो वाचस्पतिश्चित्रशिखण्डिजः।" इत्यमरः), ['वाचस्पति'-रित्यत्र 'षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्योपेषु" इति षत्वविधानात् षष्ठ्या अलुक्], 'यथा वयमादित्यादयो 'ग्रह' शब्दवाच्यास्तथाऽयं चा बृहस्पतिरपि 'ग्रह' शब्दवाच्यस्तर्हि अयं 'देवगुरुः' सुराचार्यः, वागीशः, वाचस्पतिरित्याद्यु-च्चत्वबोधकपदैः कथमुच्चार्यत' इत्येवंविधयाऽसूययेत्याशयः, साराणि श्रेष्ठानि ("सारो मज्जास्थिराशयोः। बले श्रेष्ठे च सारं तु द्रविणन्यायवारिषु॥" इति मेदिनी), वचांसि वचनानि उत्कृष्टज्ञानपूर्णवचनानीत्यर्थः, लब्धुमिव प्राप्तुमिव, यस्याः सरस्वत्याः, मुक्ताक्षसूत्रत्वम्—मुक्ताक्षसूत्रस्य भावं ["तस्य भावस्त्वतलौ" इति 'त्व' प्रत्ययः], उपैति प्राप्नोति [उपोपसर्गादिण् धातो-र्लटि "एत्येधत्यूठ्सु" इति वृद्धौ रूपम्] सा पूर्वं परामृष्टा, सरस्वती शारदा-देवी ("वाग्देवी शारदा शुक्ला महाश्वेता सरस्वती।" इति त्रिकाण्डशेषः), वो युष्मभ्यम्, सप्रसादा—प्रसादेन प्रसन्नतया सहेति सप्रसादा प्रसन्नतासम्पन्ना ("प्रसादस्तु प्रसन्नता" इत्यमरः). ["तेन सहेति तुल्ययोगे" इति बहुव्रीहि-समासे 'वोपसर्जनस्य" इति 'सहेत्यस्य सादेशः], अस्तु भवतु। वाचस्पति-मत्सरकारणकवाक्सारलाभाभिलाषेण ग्रहमण्डल्यां मुक्ताक्षसूत्रत्वारोप्यफलस्यो-त्प्रेक्षणेनात्र फलोत्प्रेक्षालङ्कारः लक्षण तूक्तचरम्। अत्र प्रथमचरण उपेन्द्रवज्रा शेषेषु च चरणेष्विन्द्रवज्रेत्यतः 'कीर्ति' नाम्न्युपजातिः।

सुधासार—(हमलोगोंके समान ही यह बृहस्पति भी एक 'ग्रह' है तो इसे 'देवगुरु, सुराचार्य, वाचस्पति, वागीश' इत्यादि उच्च पद क्यों प्राप्त हैं ? इस प्रकार की भावना मनमें आने पर) बृहस्पतिके साथ ईर्ष्या से (सूर्यादि–) ग्रह समूह परमोत्तम ज्ञानमय वचनों को पाने के लिए जिस (सरस्वती) की जपमाला में स्थित मणिरूपको प्राप्त करता है, वह सरस्वती आपलोगोके लिए प्रसन्न होवे।

विमर्श—आदित्यादिग्रहों ने सोचा कि हमलोगोंके समान ही यह बृहस्पति भी 'ग्रह' है, फिर इसे 'देवगुरु, सुराचार्य, वाचस्पति, वागीश' आदि सम्मान बोधक श्रेष्ठ शब्दोंसे क्यों सम्बोधित किया जाता है, ऐसी बृहस्पतिके साथ ईर्ष्या होनेसे वे आदित्यादिग्रह-समूह उत्तमज्ञानप्रद श्रेष्ठ वचनोंको पाने के लिए सरस्वती की जपमालाके मनिया (दाने) बन गये हैं। वचनकी अधिष्ठा-त्री सरस्वती देवीका सान्निध्य पाकर उत्तमज्ञान पाने की आशा करना आ-दित्यादि ग्रहमण्डलीके लिए उचित ही है॥ ७॥

अशेषविघ्नप्रतिषेधदक्षमन्त्राक्षतानामिव दिङ्मुखेषु ।
विक्षेपलीला करशीकराणां करोतु वः प्रीतिमिभाननस्य ॥८॥

अन्वयः—इभाननस्य अशेषविघ्नप्रतिषेधदक्षमन्त्राक्षतानाम् इव करशीकराणाम् विक्षेपलीला वः प्रीतिम् करोतु ।

सुधा—इभाननस्य—इभस्य गजस्य आननं मुखमिवाननं मुखं यस्य स तस्य गणेशस्य ("इभो मतङ्गजो हस्ती दन्ती कुम्भी करी रदी । स्तम्बेरमो गजो गर्जोद्विरदोऽनेकपो द्विपः ॥ " इति वैजयन्ती, "वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम् ।" इति "विनायको विघ्नराजद्वैमातुरगणाधिपाः । अप्येकदन्तहेरम्बलम्बोदरगजाननाः ॥" इति च अमरः), अशेषविघ्नप्रतिषेधदक्षमन्त्राक्षतानाम्—अशेषाश्च ते विघ्नाश्चेत्यशेषविघ्नाः समस्तान्तरायास्तेषां विनाशे उन्मूलने दक्षाश्चतुराः समर्था इति भावः, ये मन्त्राक्षताः वेदमन्त्राभिमन्त्रितलाजा अक्षततण्डुला इति यावत्, तेषां समस्तान्तरायोन्मूलनक्षमवेदमन्त्रपूताक्षतानाम् ("विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः" इति, "दक्षे तु चतुरपेशलपटवः सूत्थान उष्णश्च" इति, "लाजाः पुंभूम्नि चाक्षताः' इति च अमरः) इव, करशीकराणाम्—करस्य हस्तस्य शुण्डादण्डस्येति यावत् शीकराणां जलकणानाम् ("करो वर्षोपले रश्मौ पाणौ प्रत्यायशुण्डयोः ।" इति मेदिनी, "शीकरोऽम्बुकणः स्मृतः" इत्यमरः), दिङ्मुखेषु—दिशां ककुभां मुखेषु भागेषु दिग्भागेषु ("दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः ।" इत्यमरः), विक्षेपलीला—विक्षेपस्य विकिरणस्य प्रक्षेपस्येति यावत् लीला क्रीडा (" " क्रीडा लीला च नर्म च" इत्यमरः) वो युष्माकम् ["कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठी" ति भट्टोजिदीक्षितोक्त्या सम्बन्धसामान्ये षष्ठी], प्रीतिं हर्षम् ("प्रमोदसम्मदौ हर्षः प्रीतिरुत्कर्ष उद्धवः । सम्मदो मुत्तथाऽऽनन्दः" इति हलायुधः), करोतु विदधातु । विघ्नोन्मूलनाय वेदमन्त्राभिमन्त्रिता अक्षता प्रक्षिप्यन्ते तद्वदयं श्रीगणेश शुण्डादण्डे जलमादायोपरि जलकणान् प्रक्षिपति इति कल्प्यते । शुण्डादण्डे जलं गृहीत्वा इतस्ततो विक्षेपस्य गजस्वभावेऽपि तादृशेषु जलकणेषु विघ्नविनाशार्थं प्रक्षिप्तमन्त्राक्षतोत्प्रेक्षणादत्र फलोत्प्रेक्षालङ्कारः । अन्योऽपिमन्त्राभिमन्त्रिताक्षतान् दिक्षु प्रक्षिप्य विघ्नचयं समुन्मूलयति । आद्यन्तयोश्चरणयोरुपेन्द्रवज्रेतरयोश्चरणयोरिन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'आर्द्रा' ख्योपजातिः ।

सुधासार—गजानन (गणेशजी) की, सम्पूर्ण विघ्न-समूहके विनाश करने में समर्थ मन्त्राभिमन्त्रित अक्षत के समान सूँड़मे लिये गये जलके कणों (छोटी-छोटी बूंदो) को इधर-उधर छीटने की क्रीडा आपलोगोको हर्षित करे ।

विमर्श—हाथीका स्वभाव है कि वह सूंड़में जलको लेकर उसके कणोंको इधर-उधर फेंककर क्रीड़ा करता है, गणेशजी भी गजानन होनेसे वै.ी ही क्रीडा कर रहे हैं, इन क्रीडा-प्रक्षिप्त जलकणोंको कविने सर्व-विघ्न-विनाशार्थं इधर-उधर बिखेरे गये वेदमन्त्राभिमन्त्रित अक्षतोंसे उत्प्रेक्षा करके समस्त विघ्न-विनाशरूप फलकी कल्पना की है। मन्त्राभिमन्त्रित अक्षतोंके समान ही उक्त जलकण श्वेत है, जो विघ्नविनाशद्वारा हर्ष देनेके योग्य हैं ॥ ८ ॥

अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूः पदानाम् ॥ ९ ॥

अन्वय.—श्रवणामृतस्य अनभ्रवृष्टिः सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः पदानाम् सौभाग्यलाभप्रतिभू. वैदर्भरीति. कृतिनाम् उदेति।

सुधा—स्वप्रकृतकाव्ये प्राधान्यतः समाश्रयितव्यां वैदर्भीं रीतिं संस्तुवन् काव्यप्रस्तावना विदधाति–अनभ्रवृष्टिरिति। श्रवणामृतस्य श्रवणयोः श्रोतॄणां कर्णयोः अमृतस्य पीयूषस्य ("कर्णशब्दग्रहौ श्रोत्र श्रुति स्त्री श्रवण श्रव.।"इति "पीयूषममृतं सुधा" इति च अमर.), अनभ्रवृष्टि:—न अभ्रमनभ्र मेघाभावस्तस्य वृष्टिर्वर्षणम् ("अभ्रं मेघो वारिवाह स्तनयित्नुर्बलाहकः। धाराधरो जलधरस्तडित्वान् वारिदोऽम्बुभृत् ॥ घनजीमूतमुदिरजलमुग्धूमयोनयः।" इति। "वृष्टिर्वर्षम्" इति च अमरः) ['अनभ्रम्' इत्यत्र नञा सहाभ्रशब्देन 'नञ्' इति समासे "नलोपो नञः" इति नकारस्य लोपे "तस्मान्नुडचि" इति नुडागम], सरस्वती विभ्रमजन्मभूमिः—सरस्वत्याः वाग्देव्या. विभ्रमस्य विलासस्य जन्मन उत्पत्तेः भूमिः क्षेत्रं स्थानमिति यावत्, ("सरस्वती सरिद्भिदि। वाच्यापगायाः स्त्रीरत्ने गोर्वाग्देवतयोरपि।"इत्यनेकार्थसग्रह, "जनुर्जननजन्मानि जनिरुत्पत्तिरुद्भव।" इत्यमरः), पदानां सुप्तिङन्तरूपशब्दानाम् ["सुप्तिङन्तं पदम्' इति पदसंज्ञा जायते], सौभाग्यलाभप्रतिभूः—प्रति प्रणिधिर्भवतीति प्रतिभूः लग्नको ऋणादेरादानादिविषये मध्यस्थ (जमानतदार) इत्यर्थः ("लग्नकः प्रतिभूः" इत्यमरः) [प्रत्युपसर्गकाद् 'भू' धातोः "क्विप् च"इति 'क्विप् प्रत्यये 'प्रतिभू 'इति], सौभाग्यस्य सुभगतायाः लाभोऽधिका प्राप्तिस्तत्र तस्य वा प्रतिभूर्लग्नकः ('लाभोऽधिकं फलम्" इत्यमरः), वैदर्भरीतिः-'वैदर्भी' नाम्नी रीति. अङ्गसस्थाविशेषवत् शृङ्गारादिरसानामुपकारिका चतुर्विधास्वन्यतमा पदसङ्घटनारूपेत्यर्थः (तथा च विश्वनाथः-"पदसङ्घटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनाम्" इति, तद्भेदाः-"सा पुनः स्याच्चतुर्विधा, वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चाली लाटिका

तथा ।'' इति, तत्र वैदर्भीलक्षणं—''माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका। अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भीरीतिरिष्यते ॥'' इति च साहित्यदर्पणे), कृतिनाम्—कृतमनेनेति कृती तेषां पण्डितानाम् (''कृतीस्यात् पण्डिते योग्ये'' इति मेदिनी) [''इष्टादिभ्यश्च'' इति, 'कृतं प्रशस्तं कर्मास्येति विग्रहे तु ''अत इनिठनौ'' इति वा 'इनि' प्रत्ययः], उदेति आविर्भवति। वाल्मीकि-कालिदास-भवभूति-बाण-दण्डि-श्रीहर्षादीनामिव केषाञ्चनाल्पसंख्यकानामेव महाकवीनां, वृष्ट्यभावे कर्णामृतवत्सुखदा वागधिष्ठात्र्याः सरस्वतीदेव्याः विलासभूमिः सुप्तिङ्रूपाणां पदानां प्रतिभूर्वैदर्भीरीतिमयी साधुतमा काव्यरचना जायते; न तु साधारणानां समेषां कवीनामपि । उत्तमर्णाधमर्णयोर्द्रव्यादानप्रदानयोरेकोऽन्य उभयपक्षविश्वसनीयो विशिष्टः प्रतिष्ठितः पुरुषो यथा लग्नको (जमानतदार) भवति, तथैव वैदर्भीरीतिरुत्तमर्णाधमर्णरूपाणां पदानां प्रतिभूरूपा भवति। मेघरूपकारणाभावे कार्यरूपाया वृष्टेर्वर्णनेन विभावनालङ्कारस्तल्लक्षणं यथा-''कारणाभावे कार्यस्योत्पत्तिर्विभावना'' इति राजानक । वैदर्भीरीत्यां मेघं विना कर्णामृतवृष्टेः शारदा-क्रीडाजन्मभूमेः पदाना सौभाग्यश्रीप्रतिभुवश्चारोपाद्रूपकालङ्कारश्चात्र, एतल्लक्षणं यथा—''रूपकं रूपितारोपाद्विषये निरपह्नवे ।'' इति साहित्यदर्पणे विश्वनाथः। पूर्वार्द्धे उपेन्द्रवज्राया उत्तरार्द्धे चेन्द्रवज्रायाः सत्त्वादत्र ''माला''-ख्योपजातिः ।

सुधासार—(सुननेवालोके) कानोंके लिए विना बादलके अमृतवृष्टिरूप, सरस्वती देवीके विलासका उत्पत्तिस्थान और पदोकी सौभाग्यलक्ष्मीका प्रतिभू (जमानतदार), वैदर्भी रीति कुछ ही कवियोकी रचनामें प्रकट होती है ।

विमर्श—उत्तमर्णो और अधमर्णो (ऋण देने और लेनेवालों) के बीचमें कोई अत्यन्त प्रतिष्ठित व्यक्ति ही प्रतिभू (जमानतदार) बन सकता है, सर्व-साधारण व्यक्ति नही; उसी प्रकार सर्वश्रेष्ठ वैदर्भी रीति भी वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, दण्डी बाण, श्रीहर्ष आदि कुछ ही महाकवियोंकी रचना मे अवस्थित हो सकती है अर्थात उक्त कुछ इने गिने महाकवियोंकी रचना ही सरस्वतीके विलासकी जन्मभूमितुल्या वैदर्भी रीतिसे युक्त होती है । सर्वसाधारण कवियोकी रचना श्रेष्ठ वैदर्भी रीतिसे युक्त नही होती । इस कथन द्वारा महाकवि 'विल्हण' ने इस महाकाव्य में वैदर्भी रीतिकी प्रधानता होने का संकेत किया है ॥ ९ ॥

जयन्ति ते पञ्चमनादमित्रचित्रोक्तिसन्दर्भविभूषणेषु ।
सरस्वती यद्वदनेषु नित्यमाभाति वीणामिव वादयन्ती ॥ १० ॥

अन्वयः—सरस्वती पञ्चमनादमित्रचित्रोक्तिसन्दर्भविभूषणेषु यद्वदनेषु वीणां वादयन्ती इव नित्यम् आभाति, ते जयन्ति।

सुधा—साम्प्रतं सत्कवीनां स्तुतिं प्रस्तौति—**जयन्तीति**। सरस्वती शारदा देवी, पञ्चमनादमित्रचित्रोक्तिसन्दर्भविभूषणेषु—पञ्चमश्चासौ नादः पञ्चमनादः पञ्चमस्वरः, पञ्चमः पञ्चमस्वरो नादो ध्वनिर्यस्य सः पञ्चमनादः कोकिल इति वा, तस्य मित्राणि वयस्याः सदृशा इति भावः, चित्रोक्तिसन्दर्भाः नवीनकल्पना-पूर्णाः सत्कविरचनाविशेषाः एव विभूषणान्यलङ्काराः इति पञ्चमनादमित्रचित्रो-क्तिसन्दर्भविभूषणानि तेषु ("स्युः षड्जर्षभगान्धारमध्यमाः पञ्चमस्तथा। धैवतश्च निषादश्च तन्त्रीकण्ठोद्भवाः स्वराः॥" इति, "ते केकिचातकाजक्रुङ्पिक-भेकगजस्वराः" इति च वैजयन्ती, नारदोऽप्याह—"षड्जं रौति मयूरस्तु गावो नर्दन्ति चर्षभम्। अजाविकौ च गान्धारं क्रौञ्चो नदति मध्यमम्॥ पुष्पसाधारणे काले कोकिलो रौति पञ्चमम्। अश्वस्तु धैवतं रौति निषादं रौति कुञ्जरः॥" इति, "सन्दर्भो रचना न ना" इति वैजयन्ती, "अलङ्कारस्त्वाभरणं परिष्कारो विभूषणम्। मण्डनं च" इत्यमरः), यद्वदनेषु—येषां सत्कवीनां वदनेषु मुखेषु ("वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्" इत्यमरः), वीणां 'कच्छपी' नाम्नीं स्वकीयवीणाम् ("वीणा स्थाणोरनालम्बी गणानां तु प्रभावती। महती नारदस्य स्यात् सरस्वत्यास्तु कच्छपी॥" इति वैजयन्ती), वादयन्ती वादनं कुर्वन्ती इव, नित्यं सततम् ("सततानारताश्रान्तसन्ततविरतानिशम्। नित्यानवरता-जस्रम्" इत्यमरः) नित्यं वादयन्ती इवेति सम्बन्धो वा, आभाति शोभते, ते पूर्वपरामृष्टाः सत्कवयः सहृदयानां मनोहरति, तथैव सत्कविरचनापीति ध्वन-यन् सत्कविमुखेषु महाकविर्बिल्हणः स्वकाव्यस्य सहृदयमनोहारित्वमुत्कृष्टत्वं चाख्यातवान्। अत्र सरस्वतीवीणाझङ्कारस्योत्प्रेक्षणेनोत्प्रेक्षालङ्कारः, तादृ-शोक्तौ विभूषणत्वारोपाद्रूपकालङ्कारश्च, सत्कविचित्रोक्तीनां पञ्चमनादसादृ-श्योक्तेरुपमालङ्कारो वा। अत्र विषमपादयोरुपेन्द्रवज्रा समपादयोश्चेन्द्रवज्रे-त्यतो 'हंसी' नाम्न्युपजातिः।

सुधा—सरस्वती, पञ्चमस्वर (या—कोयल) के समान विचित्र कल्प-नाओंसे युक्त रचनारूप आभूषणवाले जिन (कवियों) के मुखोंमें वीणाको बजाती हुई-सी सर्वदा शोभती हैं, वे (उत्तम कवि) सर्वश्रेष्ठ होते हैं।

विमर्श—आभूषणोंका निनाद सहृदयोंको वैसा ही मनोहर लगता है, जैसा वसन्तऋतुमें पञ्चमस्वरसे कुहुकती हुई कोयलका शब्द, वही सुन्दर कल्पनापूर्ण

काव्य-रचना करनेवाले सत्कवियोंके आभूषणरूप मुख हैं, उनमें वीणा बजाती हुई-सी सरस्वती सर्वदा शोभतीहै, वे सत्कवि विजयी होते हैं अर्थात् सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं ॥ १० ॥

साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः ! ।
यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे कवीन्द्राः ! साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थम् कर्णामृतम् रक्षत, यत् अस्य लुण्ठनाय दैत्या इव काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति ।

सुधा—हे कवीन्द्राः हे कवीनां काव्यकर्तॄणामिन्द्रा ईश्वराः कवीन्द्राः ! कवीश्वराः ! ("हे सम्बोधन आह्वानेऽसूयादौ च दृश्यते" इति मेदिनी, "····यतीन्द्रस्वामिनाथार्याः प्रभुर्भर्तेश्वरोऽपि च। ईशितेनो नायकश्च" इत्यभि० चिन्ता०), साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थम्—सहितस्य भावः साहित्यं कवीनां ललितपदैः रचितं काव्यमेव पाथसां जलानां निधिराधारः समुद्र इत्यर्थः इति साहित्यपाथोनिधिः सत्काव्यरूपः समुद्र इति भावस्तस्य मन्थनादालोडनान्निरन्तराभ्यासाच्चोत्तिष्ठतीति तादृशं साहित्यसमुद्रालोडनोत्पन्नम् ("···उदकं पाथः पुष्करं सर्वतोमुखम्। अम्भोऽर्णस्तोयपानीयनीरक्षीराम्बुशंवरम्। ····" इत्यमरः) ['निधि'रित्यत्र 'नि' पूर्वकाद् 'धा' धातोः "कर्मण्यधिकरणे च" इति 'कि' प्रत्यये धातोरालोपः], कर्णामृतम्—कर्णयोः श्रोत्रयोरमृतमानन्दप्रदतया पीयूषम् रक्षत गोपायत 'यूयम्' इति शेषः। यद्यतः अस्य कर्णामृतस्य, लुण्ठनायापहरणाय, दैत्याः दितेरपत्यानि पुमांसो दैत्या इव दैतेया इव ("असुरा दानवा दैत्या दैतेयाः सुरशत्रवः। पूर्वदेवाः शुक्रशिष्याः पातालनिलयाः स्मृताः—" इति हलायुधः) ["दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः" इति 'ण्य' प्रत्यये "तद्धितेष्वचामादेः" इत्यादिवृद्धिः], काव्यार्थचौराः—कवेर्भावः कर्म चेति काव्यं तस्यार्थोऽभिधेयस्तस्य चौरास्तस्कराः ("काव्यं ग्रन्थे पुमान् शुक्रे काव्या स्यात् पूतनाधियोः" इति मेदिनी, "अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु" इति, "चौरैकागारिकस्तेनदस्युतस्करमोषकाः। प्रतिरोधिपरास्कन्दिपाटच्चरमलिम्लुचाः"—इति च अमरः), प्रगुणीभवन्ति—न प्रगुणा अप्रगुणास्ते प्रगुणा भवन्तीति प्रगुणीभवन्ति अजिह्मीभवन्ति, ये पुरा कुटिला आसंस्तेऽधुना अकुटिला भवन्ति अर्थात् चौर्यकार्यसाधनार्थमकुटिला दृश्यन्ते, वस्तुतस्तु ते कुटिला एवेत्याशयः ("अवक्रे प्रगुणोऽनृजुः" इति वैजयन्ती)। ['प्रगुण' पूर्वकाद् 'भू' धातोरभूततद्भावे "कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः" इति 'च्वि' प्रत्यये "अस्य च्वौ" इत्यकारस्येकारो बोध्यः]।

साहित्ये पाथोनिधित्वारोपाद्रूपकङ्कार, काव्यार्थचौरा दैत्या इवेत्यत्रोपमालङ्कारः। समुद्रमन्थनेन समुत्पन्नममृतमपहर्तुं प्रगुणीभूता दैत्या इव काव्यार्थ-(काव्याभिप्रायं पक्षे—काव्यरूपं धन-) मपहर्तुं कुकविरूपाश्चौराः प्रगुणीभवन्त्यतः कविश्रेष्ठैः सावधानैर्भाव्यमित्याशयः। सम्मिलितैर्देवासुरैः कृतात्समुद्रमथनादुत्पन्नममृतमपहर्तुमुद्यतेभ्यो दैत्येभ्य आच्छिद्य देवैर्गृहीत्वा पीतमिति पौराणिकी कथाऽत्रानुसन्धेया। अत्र तृतीयपाद उपेन्द्रवज्रा शेषे पादत्रये चेन्द्रवज्रेत्यतः "शाला" भिधोपजातिः।

सुधासार—हे कवीश्वरों! साहित्यरूपी समुद्रके मंथन (पक्षान्तरमें—साहित्यके निरन्तर अभ्यास) से उत्पन्न, कानोके लिए अमृतकी रक्षा कीजिये, क्योंकि इसे लूटनेके लिए दैत्योके समान काव्यार्थचौर अर्थात् काव्यके आशय (अभिप्राय, पक्षान्तरमें—काव्यरूप धन) के चोर (वस्तुतः कुटिल होते हुए भी दिखानेके लिए) अकुटिल हो रहे है या बढ़ रहे हैं।

विमर्श—धनको लूटनेके लिए चोरोंके आनेपर जिस प्रकार उसका साथी या उसी धनीके सदृश कोई दूसरा धनी व्यक्ति पहले वाले धनी, (जिसके धनको लूटे जानेकी आशङ्का है, उसको सावधान कर देता है, उसी प्रकार स्वयं महाकवि होनेके नाते महाकवि विल्हण दूसरे महाकवियोंको भी सावधान कर रहे है। जव देवता और दैत्योने मिलकर समुद्रमंथनसे अमृत निकाला, तव उसे लूटनेके लिए दैत्योंको प्रयास करते देख देवताओने सावधान हो अमृतकी रक्षाकर उसे स्वयं ले लिया॥ ११॥

गृह्णन्तु सर्वे यदि वा यथेष्टं नास्ति क्षतिः कापि कवीश्वराणाम्।
रत्नेषु लुप्तेषु बहुष्वमर्त्यैरद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः॥ १२॥

अन्वयः—वा यदि सर्वे यथेष्टं गृह्णन्तु, (तथापि) कवीश्वराणाम् कापि क्षतिः न अस्ति, (यतः) सर्वैः बहुषु रत्नेषु लुप्तेषु अद्य अपि सिन्धुः रत्नाकरः एव (अस्ति)।

सुधा—सिन्धुरिवाक्षयोऽयं कवीश्वराणां काव्यरत्नाकर इति मनसि विचार्य पक्षान्तरमाह-**गृह्णन्तु इति**। वा अथवा ("वा विकल्पोपमानयोः" इति शाश्वतः), यदि चेत् ("पक्षान्तरे तु चेद्यदि" इत्यभि० चिन्ता०) (पूर्वपद्योक्तं कर्णामृतं); सर्वे समस्ताः कवयः, यथेष्टम्—इष्टमनतिक्रम्य यथा स्यात्तथा यथेष्टमिच्छानुसारम् ["अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासंप्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्य-

थानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसंपत्तिसाकल्यान्तवचनेषु" इत्यव्ययीभावसमासः], गृह्णन्तु ग्रहणं कुर्वन्तु ['ग्रह' धातोः सम्भावनायां लोट्] (तथापि), कवीश्वराणां कवीन्द्राणां मादृशां महाकवीनामिति भावः, कापि काचित्, क्षतिर्हानिः, न अस्ति नैव वर्तते, (यतः) सर्वैः समस्तैर्देवैर्मनुष्यैश्च, बहुषु प्रचुरेषु ("प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यमदभ्रं बहुलं बहु · " इत्यमरः), रत्नेषु मणिषु ("रत्नं मणिर्द्वयोरश्मजातौ मुक्तादिकेऽपि च" इत्यमरः), लुप्तेषु नष्टेषु, मन्थयित्वा देवैरवगाह्य मानवैश्च गृहीतेषु, अद्यापि अस्मिन्दिनेऽपि ["सद्यःपरुत्परार्यैषमःपरेद्यव्यद्यपूर्वेद्युरन्येद्युरन्यतरेद्युरितरेद्युरपरेद्युरधरेद्युरुभयेद्युरुत्तरेद्युः" इति "इदमोऽश् घश्च" इति वार्तिकेन 'अद्य' इति सिद्धयति], सिन्धुः समुद्रः ("सिन्धुर्वमथुदेशाब्धिनदे ना सरिति स्त्रियाम्" इति मेदिनी)। रत्नाकरः—रत्नानां प्रवालमुक्तादिमणीनामाकर उत्पत्तिस्थानं खनिरिति यावत्, एव निर्धारणे, अस्तीति शेषः ("समुद्रोऽब्धिरकूपारः पारावारः सरित्पतिः) "उदन्वानुदधिः सिन्धुः सरस्वान् सागरोऽर्णवः । रत्नाकरो जलनिधिर्यादः पतिरपाम्पतिः—" इत्यमरः, एवौपम्ये परिभव ईषदर्थेऽवधारणे" इत्यनेकार्थसंग्रहः)। साहित्ये पाथोनिधित्वारोपाद्रूपकालङ्कारः, काव्यार्थचौराणां दैत्यैः सह सादृश्यादुपमालङ्कारश्च, काव्यामृतचौर्यस्यामृतापहरणसाधर्म्याद् दृष्टान्तालङ्कारोऽपि। एतस्य लक्षणं तु "दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्" इति विश्वनाथः । अत्रेन्द्रवज्राच्छन्दः ।

सुधासार—अथवा यदि सबलोग (साहित्य-समुद्रके मंथन या निरन्तर अभ्यास) से उत्पन्न कर्णामृतको इच्छानुसार ग्रहण करें, तथापि महाकवियोंकी कोई हानि नही होगी, क्योंकि सबलोगों (मन्थनकर देवताओं एवं गोता (डुबकी) लगाकर गोताखोर आदि मनुष्यों) के द्वारा रत्नोके लेनेपर समुद्र आज भी रत्नाकर (रत्नोंका उत्पत्तिस्थान या खान) ही है ।

विमर्श—देवासुरोंने समुद्र-मंथनकर उच्चैःश्रवाः, ऐरावत, अमृतादि १४ रत्नोंको और गोताखोरोंने गोते लगाकर मोती-मूँगा आदि रत्नोंको समुद्रसे निकाल लिया, तथापि समुद्र आज भी रत्नाकर (रत्नोंकी खान) ही है अर्थात् अब भी समुद्रसे उत्तमोत्तम रत्न निकलते ही रहते हैं, अतः साहित्यके निरन्तर अभ्याससे महाकवियोंने कर्णाह्लादक जो काव्य-रचनायें की हैं, उन्हें कोई सामान्य कवि अपनी रचनामें समाविष्ट कर ले, तथापि अनन्त कल्पना करनेवाले महाकवियोकी उससे कोई हानि नही होगी, अपितु वे नवीन-नवीन कल्पनाओं द्वारा उत्तमोत्तम काव्यरचना करते ही रहेगे ॥ १२ ॥

सहस्रशः सन्तु विशारदानां, वैदर्भलीलानिधयः प्रबन्धाः।
तथापि वैचित्र्यरहस्यलुब्धाः, श्रद्धां विधास्यन्ति सचेतसोऽत्र ॥१३॥

अन्वयः–विशारदानाम् वैदर्भलीलानिधयः प्रबन्धाः सहस्रशः सन्तु, तथापि वैदग्ध्यलीलारसिकाः सचेतसः अत्र श्रद्धाम् विधास्यन्ति ।

सुधा—सत्स्वपि प्रभूतेषु महाकाव्येषु वैदग्ध्यपूर्णे मत्काव्येऽपि सचेतसां प्रवृत्तिः स्यादेवेत्याह—**सहस्रशः** इति । विशारदानां विचक्षणानां काव्यरचना कुशलानां महाकवीनामिति भावः ("बुधः सुधीः कृती कृष्टिःकविर्व्यक्तो विशारदः । विचक्षणश्च मेधावी संख्यावान्मतिमान्मतः—" इति हलायुधः) वैदर्भलीलानिधयः–विदर्भाणामियं वैदर्भी सा चासौ लीला चेति वैदर्भलीला विदर्भदेशीया रीतिस्तस्या निधयो गूढकोषा. ("निधानं गूढकोपो वा निधिः शेवधिरस्त्रियाम्" इति वैजयन्ती), प्रबन्धाः सन्दर्भाः काव्यरचना इति यावत् ("सन्दर्भस्तु प्रबन्धः स्यात्" इति त्रिकाण्डशेषः), सहस्रशः—सहस्राणि सहस्राणीति सहस्रशः अनेकसहस्रसंख्यकाः ["इति संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्" इति संख्यावाचक 'सहस्र' शब्दात् 'शस्' प्रत्यये "तद्धितश्चासर्वविभक्तिः" इत्यव्ययत्वम्], सन्तु भवन्तु, तथापि प्राचीनमहाकविरचितानां वैदर्भ्यादिगुणयुक्तानां महाकाव्यानां बाहुल्येऽपि, वैचित्र्यरहस्यलुब्धाः–विचित्रस्य भावो वैचित्र्यं यथास्थानप्रयुक्तध्वन्यलङ्कारादिसन्निवेशपूर्णः सहृदयश्रोतृपाठकजनहृदयाह्लादजनकताविशेषस्तस्य रहस्य तत्त्वं तस्मिल्लुब्धाः लोलुपाः, सचेतसः–चेतसा सह वर्तन्त इति सचेतसो ध्वन्यलङ्कारादिचमत्कृतिपूर्णकाव्यास्वादनरसिकाः सहृदयाः, अत्रास्मिन्मद्रचितमहाकाव्ये, श्रद्धां स्पृहां ("श्रद्धा सम्प्रत्ययः स्पृहा" इत्यमरः), विधास्यन्ति करिष्यन्ति । प्राक्तनमहाकविरचितेषु प्रभूतेषु महाकाव्येषु सत्स्वपि ध्वन्यलङ्कारकल्पनादिवैचित्र्यमहितेऽस्मिन्मद्रचितमहाकाव्येऽपि सहृदयाः काव्यरसस्पृहालवो भविष्यन्त्येवेति न मदीयोद्यमस्य वैफल्यमिति तात्पर्यम्। विषमपादयोरुपेन्द्रवज्रा समपादयोश्चेन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'हंसी' नाम्न्युपजातिः ।

सुधासार—(प्राचीन) महाकवियोंकी वैदर्भीरीतिकी लीलाओके निधिस्वरूप (आकर, खान) हजारो रचनाएँ भले ही हों, तथापि ध्वन्यादिजन्य तत्त्वोके लोलुप सहृदय (श्रोता एवं पाठक) इस (मेरे महाकाव्य) में स्पृहा करेगे ॥ १३ ॥

विमर्श—अपने पूर्ववर्ती महाकवियोके प्रबन्धों (रचनाओं) के प्रति आदर प्रदर्शित करते हुए भी महाकवि 'विल्हण' ने उनकी अपेक्षा अपने महाकाव्यमें

ध्वन्यलङ्कारतात्पर्यादिकी विचित्रताओंके रहस्योंका आधिक्य प्रदर्शित कर प्रकृत महाकाव्यके सफल होनेका संकेत किया है ॥ १३ ॥

कुण्ठत्वमायाति गुणः कवीनां साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु ।
कुर्यादनार्द्रेषु किमङ्गनानां केशेषु कृष्णागुरुधूपवासः ॥ १४ ॥

अन्वयः—कवीनाम् गुणः साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु कुण्ठत्वम् आयाति, अङ्गनानाम् अनार्द्रेषु केशेषु कृष्णागुरुधूपवासः किम् कुर्यात् ? ।

सुधा—कवीनां काव्यकर्तृणाम्, गुणोऽभिनवकल्पनाचातुर्यम्, साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु—साहित्यस्य महाकविप्रबन्धस्य विद्याज्ञानं तत्त्वसाक्षात्कार इति यावत्, तत्र श्रमो निरन्तरपरिशीलनप्रयत्नस्तस्माद्वर्जितेषु रहितेषु महाकविरचनाऽनवरतश्रमपरिशीलनशून्येषु मानवेष्विति भावः ['सम्' पूर्वक 'धा' धातोः 'क्त' प्रत्यये "दधातेर्हिः" इति धातोर्ह्यादेशे "समो वा हिततत्योः" इति मस्य लोपे; यद्वा—'सह' शब्दात् "तदस्य संजातं तारकादिभ्य " इति 'इतच्' प्रत्यये 'सहितम्' इति, तस्य भाव इति विग्रहे 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च" इति 'ष्यञ्' ञित्त्वादादिवृद्धौ 'साहित्यम्' इति पदं सिद्ध्यति], कुण्ठत्वं क्रियासु मन्दत्वं ("कुण्ठो मन्दः क्रियासु यः" इत्यमरवैजयन्त्यौ), आयाति प्राप्नोति । यतः अङ्गनानाम्—कल्याणान्यङ्गानि यासां तास्तासां सुन्दरीणाम् ("अङ्गनं प्राङ्गणे याने कामिन्यामङ्गना मता" इति मेदिनी) ["अङ्गात् कल्याणे" इति 'अङ्ग' शब्दात् 'न' प्रत्यये "अजाद्यतष्टाप्" इति 'टाप्' प्रत्ययः], अनार्द्रेषु रूक्षेषु स्निग्धताशून्येष्वित्यर्थः ("उन्नोत्ततिमितक्लिन्नस्नपितार्द्राणि सार्द्रवत्" इति वैजयन्ती), केशेषु बालेषु ("चिकुरः कुन्तलो बालः कचः केशः शिरोरुहः" इत्यमरः), कृष्णागुरुधूपवासः—कृष्णं च अगुरु चेति कृष्णागुरु मल्लिकासमानगन्धवत्केशाद्यधिवासनोपयोगी सुरभितद्रव्यविशेषः तस्य धूपः सन्तपनं तस्य वासोऽधिवासनं सौरभापादनमिति भावः ("कालागुरु तु मङ्गल्या मल्लिकासमगन्धि चेत्" इति वैजयन्ती; "कालागुर्वगुरु च' इत्यमरश्च), ['धूप' सन्तापे इति धातोः धूप्यतेऽनेनेति विग्रहे "हलश्च" इति 'घञ्' प्रत्यये 'धूप' इति], किं कुर्यात् न किमपि कुर्यादिति भावः । स्नानान्ते कृष्णागुर्वादिसुरभिद्रव्याणि वह्नौ प्रक्षिप्य धूपनेन रमण्यः स्वकेशान् सुरभिणः शुष्कांश्च कुर्वन्ति स्निग्धेष्वेव केशेषु तथा धूपनेन सौरभमायाति न तु रूक्षकेशेषु, एवं मदीयकाव्यास्वादानन्दं काव्यपरिशीलनपरायणाः सहृदयरसिका एव लब्धुं शक्ष्यन्ति, नान्ये सामान्यबुद्धयोऽपीति भावः । अत्रारसिकहृदयेषु कविगुणकुण्ठत्वस्य प्रतिबिम्बनं

शुष्ककेशेषु अगुर्वधिवासनस्य निष्क्रियत्वमिति दृष्टान्तालङ्कारः। लक्षणन्तूक्तपूर्वम्। अत्रेन्द्रवज्रा छन्दः।

सुधा—महाकवियोंके अर्थवैचित्र्यादि गुण साहित्यशास्त्रमें (निरन्तर परिशीलनरूप) परिश्रम नहीं किये हुए साधारण बुद्धिवाले मनुष्योंमें निष्क्रिय हो जाते हैं, (क्योंकि) कालागुरुके धूपका अधिवासन स्त्रियोंके रूखे बालोंमें क्या कर सकता है? अर्थात् कुछ नहीं।

विमर्श—सुन्दरियाँ स्नानके बाद भीगे हुए बालोंको आगमें अगुरु आदि सुगन्धयुक्त वस्तुओंका धूप देकर उनके धुएँसे सुखाती एवं सुरभित करती हैं। वह सुरभीकरण कार्य जैसे गीले बालों में ही सफल होता है रूखे-सूखे बालोंमें नहीं, वैसे ही जिनलोगोने साहित्यशास्त्रके मर्म-बोधक अलङ्कार ध्वनि प्रभृति शास्त्रोंमें परिश्रम नहीं किया है, वे लोग महाकवियोंके अर्थ-वैचित्र्यादिको नहीं समझ सकते हैं, किन्तु साहित्यशास्त्रमें परिश्रम करनेवाले विचक्षण-बुद्धि ही समझ सकते हैं॥ १४॥

प्रौढिप्रकर्षेण पुराणरीति-व्यतिक्रमः श्लाघ्यतमः पदानाम्।
अत्युन्नतिस्फोटितकञ्चुकानि वन्द्यानि कान्ताकुचमण्डलानि॥ १५॥

अन्वयः-पदानाम् प्रौढिप्रकर्षेण पुराणरीतिव्यतिक्रमः श्लाघ्यतमः (भवति); अत्युन्नतिस्फोटितकञ्चुकानि कान्ताकुचमण्डलानि वन्द्यानि (भवन्ति)।

सुधा—'सर्वो ह्यभिनवप्रियः' इत्युक्त्या प्राचीनपरिपाटीं त्यक्त्वा नूतनपरिपाट्याश्रयेण रचितस्य स्वग्रन्थस्य श्लाघ्यतां वर्णयन्नाह—प्रौढीति। पदानां 'सुप्तिङन्तरूपाण्वर्थकशब्दानाम्, प्रौढिप्रकर्षेण—प्रौढ्याः प्रगल्भतायाः प्रकर्षेणाधिक्येन ("उत्साहः प्रगल्भता" "अभियोगोद्यमौ प्रौढिरुद्योगः कियदेतिका। अध्यवसाय ऊर्जः" इत्यभि० चिन्ता०), पुराणरीतिव्यतिक्रमः—पुराणी पुराणानां वा रीतिः पुराणरीतिः पुरातनशैली तस्याः व्यतिक्रम उल्लङ्घनम् ("पुराणे प्रतनप्रत्नपुरातनचिरन्तनाः" इत्यमरः) ['पुरा भवमिति विग्रहे "सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च" इति 'ट्यु-ट्युल्' प्रत्ययौ "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु" इति निर्देशात्तुडागमाभावे 'पुराण' शब्दसिद्धिः], श्लाघ्यतमः—अतिशयेन श्लाघ्य इति श्लाघ्यतमः अतिशयं प्रशंसनीयः (भवति)। एतदेव दृष्टान्तद्वारा द्रढयति—अत्युन्नतीति। अत्युन्नतिस्फोटितकञ्चुकानि—अतिशयितोन्नतिरत्युन्नतिरतिशयिता तुङ्गता तया स्फोटिताः विदारिताः कञ्चुकाश्चोलायैस्तानि ("उन्नामस्तुङ्गतोन्नतिः" इति, "निचोलः कञ्चुकश्चोलः कूर्पासश्चाङ्गि-

कोऽस्त्रियाम्" इति च वैजयन्ती), कान्ताकुचमण्डलानि–कान्तायाः कामिन्याः कुचयोः स्तनयोर्मण्डलानि परिघयः कान्ताकुचमण्डलानि कामिनीस्तनपरिघयः (कान्ता कामिनी वामलोचना" इति, "स्तनो वक्षसिजः कुचः" इति च वैजयन्ती, "मण्डलं परिघौ कोष्ठे देशे द्वादशराजसु" इति मेदिनी), वन्द्यानि प्रशंसनीयानि ['वदि अभिवादनस्तुत्योः' इति धातोः "इदितो नुम् धातोः" इति नुमागमे "ऋहलोर्ण्यत्" इति 'ण्यत्' प्रत्यये रूपम्], भवन्तीति शेषः। दृष्टान्तालङ्कारः। द्वितीयचरण उपेन्द्रवज्रेतरेषु चरणेष्विन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'वाणी' नाम्न्युपजातिर्बोध्या।

सुधासार– (सुप्तिङन्तरूप सार्थक) पदोंकी प्रौढताके बाहुल्यसे पुरानी या पुराने कवियोंकी शैलीका उलटफेर (अथवा-त्याग भी) अत्यधिक प्रशंसनीय होता है, क्योंकि अत्यधिक बढने से कञ्चुक (स्त्रियोंकी चोली) को फाड़ देनेवाले कामिनियोके स्तनोके घेरे प्रशसनीय (ही) होते है।

विमर्श—'सर्वो ह्यभिनवप्रियः' इस लोकोक्तिका अनुसरण करते हुए महाकवि 'विल्हण' ने इस महाकाव्यकी रचना प्राचीन महाकवियोंकी शैलीका त्यागकर नवीन शैलीमें करनेका समर्थन प्रकृत पद्यमें दृष्टान्त द्वारा किया है।। १५ ।।

व्युत्पत्तिरावर्जितकोविदाऽपि न रञ्जनाय क्रमते जडानाम्।
न मौक्तिकच्छिद्रकरी शलाका प्रगल्भते कर्मणि टङ्किकायाः ॥ १६ ॥

अन्वयः—आवर्जितकोविदा अपि व्युत्पत्तिः जडानाम् रञ्जनाय न क्रमते; मौक्तिकच्छिद्रकारी शलाका टङ्किकायाः कर्मणि न प्रगल्भते।

सुधा—'कुण्ठत्वमायाति' (१।१४) इति पूर्वोक्तिमेव पुनर्दृढीकुर्वन्नाह—**व्युत्पत्तिरिति**। आवर्जितकोविदा—आवर्जिता अभिनवकल्पनादिभिर्वशीकृताः कोविदाः साहित्यानुशीलनपरिनिष्ठितमतयः पण्डिताः यया सा ("आवर्जयति वशयत्यपि राधयतीति च। वशीकरोति संगृह्णात्यात्मने द्वौ वशीकृतौ" इत्याख्यातचन्द्रिकोक्तेरावर्जेर्वशीकरणमर्थः, "विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञः सन् सुधीः कोविदो बुधः। धीरो मनीषो ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान् पण्डितः कविः" "इत्यमरः) ['विद' ज्ञाने इति धातोः "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इति 'क' प्रत्ययः, कोर्वेदस्य विदो ज्ञातेति कोविदः षष्ठीतत्पुरुषः, कवि वेदे विदा ज्ञानं यस्येति षष्ठीबहुव्रीही वा 'कोविद' इति], अपि, व्युत्पत्तिरभिनवकल्पनाचातुरी, जडानां मूर्खाणां साहित्यशास्त्रानभ्यासान्मन्दमतीनामित्याशयः ("जडो मूर्खे हिमाघाते जडा स्याच्छूकशिम्बिका" इत्यनेकार्थसंग्रहः), रञ्जनाय रागजननाय ("रञ्जनो

रागजनने रञ्जने रक्तचन्दने। शुण्डारोचनिकानीलीमञ्जिष्ठासु च रञ्जनी" इति मेदिनी), न नहि, क्रमते उत्सहते ("क्रमते क्रम्यते स्यातां तायनोत्साह-वृत्तिषु" इत्याख्यातचन्द्रिका) ['क्रमु' पादविक्षपे इति धातोः "वृत्तिसर्गताय-नेषु क्रमः" इत्यात्मनेपदम्]। एतदेव द्रढयन्नाह—नेति। मौक्तिकच्छिद्रकरी—मौक्तिकेषु मुक्तासु छिद्रं बिलं करोति तच्छीला ("अथ मौक्तिक मुक्ता" इति, "अथ कुहरं शुषिरं विवरं विलम्। छिद्रं निर्व्यथनं रोकं रन्ध्रं श्वभ्रं वपा शुषिः—" इति च अमरः) ['कृ' धातोः "कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु" इति 'ट' प्रत्यये "टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः" इति ङीपि मौक्तिकच्छिद्रकरोति], शलाका शल्यं, मुक्तादौ छिद्रकारिणी लोहमयी शूचि-रित्यर्थः ("शलाका शल्यमदनशारिकाशाल्मलीषु च" इति मेदिनी, टङ्किकायाः पाषाणभेदकस्य लौहशस्त्रस्य 'टाँकी छेनी' इत्याख्यस्य, कर्मणि कार्ये पाषाण-दारणकार्ये इत्यर्थः, न नहि, प्रगल्भते ओजायते समर्था जायत इत्यर्थः ("विक्रम्यते वीरयते पराक्रमत इत्यपि। प्रगल्भते शूरयते पराक्रम्यत इत्यसौ। ओजायते विक्रमते विक्रमेऽष्टपदी भवेत्" इत्याख्यातचन्द्रिका)। अभिनयोक्तिभी रमणीय-तमोऽपि प्रबन्धः काव्यशास्त्रानभ्यासान्मन्दमतीनामनुरञ्जको यद्यपि न भवति, तथाप्येतावता तस्य प्रबन्धस्यानिन्द्यतैव, यतोऽतिकठिनमौक्तिक हीरकादिषु छिद्रकारिणोऽस्त्रस्य पाषाणदारणाशक्तत्वेऽप्यनिन्दनीयतैवेत्यतो जडाननुरञ्जको ऽप्लुत्तमः प्रबन्धः सुधियामनुरञ्जकतया प्रशंसनीय एवेत्याशयः। अत्र दृष्टान्ताल-ङ्कारः। प्रथमपाद इन्द्रवज्रेतरेषु त्रिषु पादेषूपेन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'वृद्धि'नाम्न्युप-जातिः।

सुधासार—सुधियोंको अनुरञ्जित करनेवाला भी उक्ति-वैचित्र्यपूर्ण उत्तमप्रबन्ध मन्दमतिवालोंको आनन्दित नही कर सकता, क्योंकि मोतीको छेदनेवाली (कठिनतम) वर्मी पत्थरको तोड़नेवाली टाँकी (छेनी या घन) का काम नही कर सकती है।

विमर्श—महाकवि 'विल्हण' का कहना है कि उक्ति-वैचित्र्यसे अभिनव-कल्पनापूर्ण यह मेरा प्रबन्ध (महाकाव्य) शास्त्रपरिशीलन किये हुए सुधी-जनोका ही मनोरञ्जन करेगा, शास्त्राभ्यास न करनेसे मन्द बुद्धिवालोका मनोरञ्जन नही करेगा, क्योकि मोतीको छेदनेवाली वर्मी पत्थर तोड़नेवाले शस्त्र (टाँकी या घन) का कार्य नही कर सकती। फिर भी जैसे उस वर्मी की ही प्रशंसा होती है, पाषाण तोड़नेवाले शस्त्र (टाँकी या घन) की नही, वैसे ही मन्दबुद्धिवालोका मनोरञ्जन न करनेवाला भी मेरा प्रबन्ध विद्वज्जनोंका मनोरञ्जक होनेसे प्रशंसनीय ही होगा, निन्दनीय नहीं॥ १६॥

कथासु ये लब्धरसाः कवीनां ते नानुरज्यन्ति कथान्तरेषु ।
न ग्रन्थिपर्णप्रणयाश्चरन्ति कस्तूरिकागंन्धमृगास्तृणेषु ॥ १७ ॥

अन्वयः—ये कवीनाम् कथासु लब्धरसाः (सन्ति), ते कथान्तरेषु न अनुरज्यन्ति, ग्रन्थिपर्णप्रणयाः कस्तूरिकागन्धमृगा तृणेपु न चरन्ति ।

सुधा—सत्काव्यानुरक्ताः सुधियो हीनकाव्येपु रुचिं न कुर्वन्तीत्याह—कथास्विति। ये सुधियः कवीनां श्रेष्ठकाव्यकर्तृणाम्, कथासु आख्यानेषु ("आख्यायिका कथाऽऽख्यानम्" इति हलायुध.), लब्धरसा —लब्धः प्राप्तो रस आनन्दो यैस्ते प्राप्तानन्दाः सन्ति, ते सत्कविकथाप्राप्तानन्दाः सुधियः, कथान्तरेषु–अन्याः कथाः कथान्तराणि तेषु साधारणकविकाव्येपु, न नहि, अनुरज्यन्ति अनुरक्ता भवन्ति । एतदेव द्रढयन्नाह—**न ग्रन्थिपर्णेति** । ग्रन्थिपर्णप्रणयाः—ग्रन्थिपर्ण सौरभवत्क्षुपविशेपे 'गठिवने'ति ख्याते प्रणय. परिचयः प्रीतिर्येषां ते ("ग्रन्थिपर्ण शुकं बर्हं पुष्पं स्थौणेयकुक्कुरे" इत्यमरः, "ग्रन्थिपर्ण ग्रन्थिकं च काकपुच्छं च गुच्छकम् । नीलपुष्पं सुगन्धे च कथितं तैलपर्णकम्" इत्यभिनवनिघण्टु', "प्रणयः स्यात्परिचये" इति वैजयन्ती), कस्तूरिकागन्धमृगा—कस्तूरिकायाः गन्धधूल्याः गन्ध आमोदो येपु ते कस्तूरिकागन्धास्ते च ते मृगाश्चेति कस्तूरिकागन्धमृगाः कस्तूरीगन्धवद्धरिणाः, ("अथ मृगनाभिजा । मृगनाभिर्मृगमदः कस्तूरी गन्धधूल्यपि" इत्यभि० चिन्ता०, "गन्धः प्रतिवेश्यामोदलेशसम्बन्धगन्धके" इति मेदिनी, "कस्तूरीकायामामोदः" इति वैजयन्ती च) तृणेषु घासेषु ("शष्पं बालतृण घासो यवस तृणमर्जुनम्" इत्यमरः), न नहि चरन्ति तृणानि न भक्षयन्ति । सत्कव्युक्तिरसिका सुधिय. सामान्यकव्युक्तिषु तथैवानुरक्ता न भवन्ति, यथा ग्रन्थिपर्णलब्धास्वादा कस्तूरीमृगा घासेषु नानुरक्ता भवन्ति इति भावः । एवञ्च मदीयोक्त्या. प्रकृष्टतयाऽत्रोत्तमकाव्यरसिका. सुधियो नियतमनुरक्ता भविष्यन्तीति काव्याशयः । अत्रापि ग्रन्थिपर्णस्य सत्कविकथाभिः सहृदयरसिकानां कस्तूरिकामृगै. कथान्तराणां च घासैः प्रतिबिम्बतया दृष्टान्तालङ्कारः । अत्र प्रथमचरण इन्द्रवज्रा शेषत्रये चोपेन्द्रवज्रेत्यतः 'कीर्ति'र्नामोपजातिः ।

सुधासार—जो उत्तम कवियोंकी रचनाओंमें अनुरक्त हो चुके है, वे सामान्य कवियोंकी रचनाओंमे अनुरक्त नहीं होते, (क्योंकि) गठिवन (एक प्रकारकी सुगन्धित झाड़ी) से परिचित (उसका रसास्वादन किये हुए) कस्तूरीमृग (मामूली) घास नहीं चरते है ।

विमर्श—उत्तम वस्तुके आनन्दको पाया कोई व्यक्ति साधारण वस्तुमें प्रेम

नहीं करता, जैसे खुशबूदार गठिवनके स्वादसे परिचित (उसके आनन्द को पाया हुआ) कस्तूरीमृग मामूली घास नहीं चरता (चाहे वह भूखा भले ही रह जाय)। कहा भी है—

"मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति।
अपि निर्वाणमायाति नानलो याति शीतताम् ॥" इति ॥१७॥

जडेषु जातप्रतिभाभिमानाः खलाः कवीन्द्रोक्तिषु के वराकाः ?।
प्राप्ताग्निनिर्वापणगर्वमम्बु रत्नाङ्कुरज्योतिषि किं करोति ? ॥१८॥

अन्वयः—जडेषु जातप्रतिभाभिमानाः वराकाः खलाः कवीन्द्रोक्तिषु के (सन्ति) ?, प्राप्ताग्निनिर्वापणगर्वम् अम्बु रत्नाङ्कुरज्योतिषि किम् करोति ?

सुधा—गुणग्राहिणां मध्ये सत्कवय एव आद्रियन्ते न तु मन्दाः कुकवय इत्याह—जडेष्विति। जडेषु अज्ञेषु मूर्खेष्वित्यर्थः ("जडा स्त्रियाम्। शूकशिम्ब्यां हिमग्रस्तमूकाप्रज्ञेषु तु त्रिषु" इति मेदिनी। जडस्य लक्षणं यथा—"इष्टं वाऽनिष्टं वा न वेत्ति यो मोहात्। परवशगः स भवेदिह नित्यं जडसंज्ञकः पुरुषः ॥—" इति व्याख्यासुधा), जातप्रतिभाभिमानाः—जात उत्पन्नः प्रतिभाया नवनवोन्मेषशालिन्याः प्रज्ञाया अभिमानो गर्वो येषां ते ("प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालीनी 'प्रतिभा' मता" इति रुद्रः, इति वाचस्पत्यम्। "गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारः" इत्यमरः), वराकाः शोचनीया हीना इति भावः ("वराकः शङ्करे पुंसि शोचनीयेऽभिधेयवत्" इति मेदिनी खला नीचाः कुकवय इति तात्पर्यम् ("खलभूस्थानकल्केषु नीचक्रूराधमे त्रिषु" इति मेदिनी) कवीन्द्रोक्तिषु—कवीनां पण्डितानां काव्यरचयितॄणामिन्द्रा ईश्वरास्तेषामुक्तिषु व्याहारेषु ('व्याहार उक्तिर्लपितं भाषितं वचनं वचः" इत्यमरः) ['वच' परिभाषणे इति धातोः "स्त्रियां क्तिन्" इति 'क्तिन्' प्रत्यये 'वंचिस्वपियजादीनां किति" इति सम्प्रसारणम्), के सन्ति किमपि न सन्ति नितरां तुच्छाः सन्तीति भावः। एतदुक्तिं द्रढयन्नाह—प्राप्तेति। प्राप्ताग्निनिर्वापणगर्वम्—प्राप्तो लब्धः अग्नेरनलस्य निर्वापणेन प्रतिघातेन (निर्वापणस्य प्रतिघातस्य वा) गर्वोऽहङ्कारो येन तत् ("प्रमापणं निबर्हणं निकारणं विशारणम्। प्रवासनं परासनं निषूदनं निहिंसनम्। निर्वासनं संज्ञपनं निर्ग्रन्थनमपासनम्। निस्तरणं निहननं क्षणनं परिवर्जनम्। निर्वापणं विशसनं मारणं प्रतिघातनम्। उद्वासनप्रमथनक्रथनोज्जासनानि च। आलम्भपिञ्जविशरघातोन्माथवधा अपि" इत्यमरः) अम्बु जलम् ("आपस्तोयं घनरसपयः पुष्करं मेघपुष्पं, कं पानीयं सलिलमुदकं वारि वाः शंवरं च।

अर्णः पाथ. कुशजलवनं क्षीरमम्भोऽम्बु नीरं, प्रोक्तं प्राज्ञैर्भुवनममृतं जीवनीय उदकं च" इति हलायुधः), रत्नाङ्कुरज्योतिषि—रत्नस्य मणेरङ्कुर एवाभिनवोद्भिदेव ज्योतिः प्रकाशस्तस्मिन् ("रत्नं स्वजातिश्रेष्ठेऽपि मणावपि नपुंसकम्" इति, "अङ्कुरो रुधिरे लोम्नि पानीयेऽभिनवोद्भिदि" इति, 'ज्योतिरग्नौ दिवाकरे पुमान्', 'नपुंसकं दृष्टौ स्यान्नक्षत्रप्रकाशयोः" इति च मेदिनी), किं करोति ? किं विदधाति ? न किमपीत्यर्थः । अग्निज्वालाप्रशामकं जलं हीरकादिरत्नस्य प्रकाशप्रशमने न क्षमत इत्याशयः। साधारणजनेषु स्वप्रतिभाप्रभावजनकाः कुकवयः सत्कविरचनाबोधे तथैवासमर्थाः, यथाऽग्निप्रकाशस्य प्रशामकं जलं हीरकादिरत्नानां प्रकाशशमनेऽसमर्थमिति भावः। अत्र दृष्टान्तालङ्कारः, 'किं करोति' इत्यतो 'न किमपि करोति' इत्यर्थाक्षेपादर्थापत्त्यलङ्कारश्च, "वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये । निषेधाभास आक्षेपः" इति विश्वनाथोक्तेः । अत्र पूर्वार्द्धे उपेन्द्रवज्रोत्तरार्द्धे चेन्द्रवज्रेति 'माला' नाम्न्युपजातिः ।

सुधासार—मूर्खो (साधारण बुद्धिवालो) में अपनी प्रतिभाका प्रभाव दिखाकर गर्व करनेवाले वेचारे क्षुद्र कवि श्रेष्ठ कवियोंकी रचानाओमें कौन होते हैं ? अर्थात् कोई नही होते, क्योंकि आगके प्रकाशको बुझानेवाला पानी (हीरा आदि) रत्नोके प्रकाशमे क्या कर सकता है? अर्थात् कुछ नही कर सकता ।

विमर्श—जिन सामान्य कवियोको मूर्खोके आगे अपनी प्रतिभाका प्रभाव जमानेसे अहङ्कार हो गया है, वे वेचारे सामान्य कवि उत्तम कवियोंकी रचनाओमें कोई नही होते, क्योंकि उनकी बुद्धि सत्कविरचनाओंमें कुण्ठित हो जाती है । आगकी लहरको बुझाने (नष्ट करने) वाला पानी हीरा आदि रत्नोके प्रकाशको नष्ट नही कर सकता ॥ १८॥

उल्लेखलीलाघटनापटूनां सचेतसां वैकटिकोपमानाम् ।
विचारशाणोपलपट्टिकासु मत्सूक्तिरत्नान्यतिथीभवन्तु ॥ १९ ॥

अन्वयः—मत्सूक्तिरत्नानि उल्लेखलीलाघटनापटूनाम् वैकटिकोपमानाम् सचेतसाम् विचारशाणोपलपट्टिकासु अतिथीभवन्तु ।

सुधा— इदानीं स्वरचितप्रबन्धस्य सुधीपरीक्ष्यतां प्रतिपादयति—उल्लेखेति। मत्सूक्तिरत्नानि—मम 'विल्हण' कवेः सूक्तयः सदुक्तय एव रत्नानि मणय इति, मत्सूक्तयो रत्नानीवेति वा मत्सूक्तिरत्नानि, आद्ये रूपकमन्त्ये चोपमालङ्कारः, उल्लेखलीलाघटनापटूनाम्-उल्लेखस्य काव्यवर्णनस्य रत्नोत्कर्षणस्य वा लीलायाः विलासस्य घटनायां सम्पादने पक्षे—शाणोपलोपरि घर्षणेनोत्कृष्टत्वसम्पादने पटूनां

चतुराणां काव्यशास्त्रानुशीलनेन लब्धोत्कृष्टज्ञानकुशलानां, पक्षे–शाणोपले रत्न-घर्षणेनोत्कृष्टत्वापादननिपुणानां ("तनूकृतं समुत्कीर्णं द्वयमुल्लिखितं विदुः" इति शाश्वतः), वैकटिकोपमानाम्–वैकटिकाः मणिकाराः उपमा सादृश्यं येषां तेषां मणिकारसदृशानामिति भावः ("वैकटिको मणिकारः" इति यादवहलायुधौ), सचेतसां सहृदयानाम् विचारशाणोपलपट्टिकासु–विचाराः सदसद्विवेका एव शाणोपलाः निकषपाषाणास्तेषां पट्टिकासु फलकेषु ("शाणस्तु निकषः कषः" इत्यमरः) अतिथीभवन्तु नास्ति तिथिर्येषान्तेऽतिथयो न अतिथयोऽनतिथयस्तेऽतिथयो भवन्तु इत्यतिथीभवन्तु परीक्षणीयानि भवन्तु [अतिथ्युपपदाद् भूधातोरभूततद्भावे 'च्वि' प्रत्यये दीर्घः]। शाणोपले घर्षणेन यथा मणिकारा रत्नानां निर्दोषत्वं सदोषत्वं वा निश्चिन्वन्ति, तथैव सूक्तिमयमत्काव्यस्य समालोचनादिना सहृदयाः सुधियः परीक्षणं कुर्वन्त्विति तात्पर्यम्। सूक्तिषु रत्नानां विचारेषु शाणोपलानाञ्चारोपाद्रूपकालङ्कारः, वैकटिकैः सचेतसो सादृश्यादुपमालङ्कारश्चेत्यनयोस्तिलतण्डुलन्यायेन संसृष्टिः। आद्यन्तचरणयोरिन्द्रवज्रा मध्यगतद्वितीयतृतीयचरणयोश्चोपेन्द्रवज्रेत्यतो 'माया' नाम्न्युपजातिः।

सुधासार—मेरे सुन्दर उक्तिरूप रत्न, काव्यवर्णन (पक्षान्तरमें—रत्नका उत्कृष्टीकरण) के विलासमें निपुण मणिकारो (जौहरियो) के समान सहृदय विद्वानोके 'कसौटी' पत्थरके फलकपर, अतिथि होवें।

विमर्श–जिस प्रकार रत्नपरीक्षक जौहरी रत्नोंको 'कसौटी' पर घिसकर उनके गुण-दोषों (खरा-खोटा होने) की परीक्षा करते है, उसी प्रकार मेरे काव्यको सहृदय विद्वान् समालोचनादि द्वारा गुण-दोषकी परीक्षा करे। यहाँपर रत्नोंके साथ अपनी सूक्तियोंकी तुलना करते हुए ग्रन्थकारने यह सङ्केत किया है कि जिस प्रकार रत्नके उत्तम होनेकी परीक्षा केवल जौहरी ही कर सकते है, साधारणलोग नहीं, उसी प्रकार मेरे सूक्तिमय महाकाव्यके उत्तम होनेकी परीक्षा काव्य-मर्मज्ञ सहृदय ही कर सकते है, सामान्य बुद्धिवाले नही ॥१९॥

न दुर्जनानामिह कोऽपि दोषस्तेषां स्वभावो हि गुणासहिष्णुः।
द्वेष्यैव केषामपि चन्द्रखण्डविपाण्डुरा पुण्ड्रकशर्करापि ॥ २० ॥

अन्वयः—इह दुर्जनानाम् कोऽपि दोषः न (अस्ति), हि तेषाम् स्वभावः एव गुणासहिष्णुः (भवति), चन्द्रखण्डविपाण्डुरा पुण्ड्रकशर्करा अपि केषामपि द्वेष्याः एव (भवन्ति)।

सुधा–दृष्टान्तद्वारा दुर्जनानां परगुणासहिष्णुत्वं वर्णयन्नाह–नेति। इह अत्र

सत्काव्यगुणाग्रहणात्मकेऽस्मिन् विषय इत्यर्थः [सप्तम्यन्तादिदं शब्दात् "इदमो हः" इति 'अल'पवादको 'ह' प्रत्ययस्ततः 'इदम ईश्' इतीदंशब्दस्येशादेशः] दुर्जनानां खलानां ("पिशुनो दुर्जनः खलः" इत्यमरः), कोऽपि कश्चित्, दोषो दूषणं ("दोषः स्याद् दूषणे पापे दोषा रात्रौ भुजेऽपि च" इति मेदिनी), न नहि, अस्तीति शेषः । हि यतः ("हि हेतावबधारणे। विशेषे पादपूर्तौ च" इत्यनेकार्थसंग्रहः), तेषां दुर्जनानाम्, स्वभावः प्रकृतिः ("संसिद्धिप्रकृती त्विमे। स्वरूपश्च स्वभावश्च निसर्गश्च" इत्यमरः), एव निश्चयेन ("एवौपम्ये परिभवे ईषदर्थेऽवधारणे" इत्यनेकार्थसंग्रहः)। गुणासहिष्णुः—गुणानां परकीयगुणानामसहिष्णुरसहनशीलः [न सहते इति तच्छील इत्यर्थे नञुपपदात् 'षह' मर्षणे इति धातोः "अलंकृञ्निराकृञ्प्रजनोत्पचोत्पतोन्मदरुच्यपत्रपवृतुवृधुसहचर इष्णुच्" इतीष्णुच् प्रत्ययः), भवतीति शेषः। परगुणासहनरूपेण हेतुना प्रकृतिविवशाः खलास्तत्र दोषमेव प्रकटयन्ति, न तु गुणानित्याशयः । चन्द्रखण्डविपाण्डुरा-चन्द्रस्य सुधाकरस्य खण्डं शकलमिव विपाण्डुरा विशेषेण पाण्डुवर्णा, अत्र 'चन्द्र' शब्दोपादानात् 'सुधारस'त्वमपि व्यज्यते ("हरिणः पाण्डुरः पाण्डुः" इत्यमरः) [पाण्डुत्वमस्यास्तीति विग्रहे 'पाण्डु' शब्दात् "नगपांसुपाण्डुभ्यश्च" इति 'र' प्रत्ययः), अपि समुच्चयेऽयम्, पुण्ड्रकशर्करा—पुण्ड्रकस्योत्तमेक्षुविशेषस्य शर्करा सिता ("रसाल इक्षुस्तद्भेदाः पुण्ड्रकान्तारकादयः" इति, "शर्करा सिता" इति च अमरः, "पुण्ड्रेक्षौ पुण्ड्रकः सेव्यः पौण्ड्रकोऽतिरसो मधुः" इति वाचस्पतिः) ['पुडि' खण्डने इति धातोः "स्फायितञ्चिवञ्चिशकिक्षिपिक्षुदिः…" इत्युणादिसूत्रेण 'र' प्रत्ययः), केषामपि केषाञ्चित् पित्तदूषितरसनामिति भावः ("पित्तेन दूने रसने सिताऽपि तिक्तायते मानसराजहंस" इति नैषधीयचरितमपि ।३।९४), द्वेष्या द्वेषार्हा ['द्विष्' धातोः "ऋहलोर्ण्यत्" इति 'ण्यत्' प्रत्यये स्त्रियां टाप्), एव निश्चयेन, भवतीति शेषः।

"न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणं न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः ।
स्वभाव एवात्र तथाऽतिरिच्यते यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः॥" इति ।

(हितोपदेशमित्रलाभः) प्रकृतेर्दुस्त्यजतया खलाः सद्गुणेष्वपि दोषानेव पश्यन्ति न तु गुणान्, रोगादिजातस्य विकारस्य मन्त्रतन्त्रौषधादिना परिवर्तन सम्भवेऽपि प्रकृतेः परिवर्तनस्यासम्भवात् प्रकृतिपराधीनानां दुर्जनानां सद्गुणेष्वपिदोषदर्शनेऽदोष एवेति भावः। दृष्टान्तालङ्कारः। आद्यन्तपादयोरुपेन्द्रवज्रा-द्वितीयतृतीयपादयोश्चेन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'आर्द्रो'पजातिः ।

सुधासार—इस (दूसरोंके गुणोंको सहन नहीं करने) में दुर्जनोंका कोई दोष नहीं है, क्योंकि उनका स्वभाव ही परगुणासहिष्णु (दूसरेके गुणोंको नहीं सहनेवाला) होता है। चन्द्रमाके टुकडोंके समान श्वेत वर्ण चीनी भी किन्ही (पित्तसे दूषित होनेके कारण कड़वी जीभवालों) को द्वेष्य (अरुचि-कर-कड़वा) ही लगती है।

विमर्श—जैसे चन्द्र-खण्डके समान शुभ्रवर्ण अमृतोपम मीठी शक्कर भी पित्तसे दूषित जीभवाले व्यक्तिको अच्छी (मीठा—रुचिकर) नही लगती, वैसे ही परगुणको सहन नही करना दुर्जनोका स्वभाव होनेसे उत्तम काव्य इन्हें (दुर्जनोंको) अच्छा न लगनेपर भी उनका दोष नही मानना चाहिए। किसी दोषके कारण विकृत गुणको तो मन्त्र-तन्त्र औषधादिके द्वारा दूर किया जा सकता है, किन्तु स्वभावका परिवर्तन करना सर्वथा असम्भव ही है ॥ २० ॥

सहोदरा कुङ्कुमकेसराणां भवन्ति नूनं कविताविलासाः।
न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः॥ २१ ॥

अन्वयः—कविताविलासाः नूनम् कुङ्कुमकेसराणाम् सहोदरा भवन्ति, यत् तेषाम् प्ररोहः शारदादेशम् अपास्य मया अन्यत्र न दृष्टः।

सुधा—अधुना स्वजन्मभूः कश्मीरदेशः शारदादेश इति तन्महत्त्वमाह—**सहोदरा इति**। कविताविलासाः—कवीनां भावः कविता तस्याः सत्काव्यस्य विलासाः विभ्रमाः, नून निश्चितं ("तर्कनिश्चितयोर्नूनम्" इति हलायुधः), कुङ्कुमकेसराणाम्—कुङ्कुमस्य कश्मीरदेशे जातस्य 'कुङ्कुमा'ख्यद्रव्यस्य केसराणां किञ्जल्कानां ("कश्मीरजन्म घुसृणं वर्ण लोहितचन्दनम्। वाह्लीकं कुङ्कुमं वह्निशिखं कालेयजागुडे। सङ्कोचपिशुनं रक्तं धीरं पीतनदीपने" इति, "किञ्जल्कं केसरे" इति चाभि० चिन्ता०), सहोदराः सहजाः ("भ्राता तु स्यात्सहोदरः। समानोदर्यसोदर्यसगर्वसहजा अपि" इत्यपि० चिन्ता०), [सह उदरेण वर्तते इति विग्रहे "वोपसर्जनस्य" इत्यस्य वैकल्पिकत्वात्सहस्य सादेशा-भावः], भवन्ति सन्ति। यत् यतः, तेषां कविताविलासानाम्, पक्षे—कुङ्कुम-केसराणाम्, प्ररोहोऽङ्कुरः प्रादुर्भाव इति यावत् ("स्यात् प्ररोहोऽङ्कुरोऽङ्कुरो रोहश्च" इत्यभि० चिन्ता०), शारदादेशम्—शारदाया सरस्वत्याः देश कश्मीर-देशं; पक्षान्तरे—शारदाया आदेश निदेशम् ("कश्मीरास्तु माधुमताः सारस्वता विकर्णिकाः" इत्यभि० चिन्ता०), 'शारदादेशम्' इत्यत्र श्लेषालङ्कारः, अपास्य त्यक्त्वा, अन्यत्रान्यस्मिन् देशे [सप्तम्यन्तादन्यशब्दात् "सप्तम्यास्त्रल्"

इति 'अल्' प्रत्ययः], न नहि, दृष्टोऽवलोकितः ['दृश्' धातोर्भूतेऽर्थे "क्तक्तवतू निष्ठा" इति कर्मणि 'क्त' प्रत्ययः]। यथा कश्मीरदेशं विहायान्यस्मिन्देशेकुङ्कुमकेसरप्रादुर्भावो न भवति, तथैव शारदादेव्याः प्रसन्नतां विनोत्कृष्टकाव्यरचनायाः सम्भवो नास्ति। 'शारदादेशम्' इति श्लेषेण ग्रन्थकारः कश्मीरदेश एवोत्कृष्टकाव्याविर्भावः सम्भाव्यत इति सूचयन् स्वजन्मभूमित्वमपि कश्मीरदेशस्य प्रशंसया ध्वनितवान्। तुल्यार्थक-'सहोदर' शब्दोक्तयोपमा, 'नूनं' पदेनोत्प्रेक्षा, 'शारदादेशम्' इति पदेन श्लेषश्चात्र, "मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः" इत्यनेनोपमाया वाचको 'नूनम्' इति विश्वनाथ आह। अत्र 'केवलमन्तिमचरण इन्द्रवज्रेतरेषु त्रिषु पादेषूपेन्द्रवज्रेत्यता 'जाया' भिधोपजातिः।

सुधासार—कवियाओंके विलास निश्चय ही कुङ्कुमकेसरोंके सहोदर (सहज अर्थात् एक देशमें उत्पन्न होनेवाले, पक्षान्तरमें–समान) हैं, क्योंकि उन (सत्कविताओ, पक्षान्तरमें–कुङ्कुकेसरों) के अङ्कुर (प्रादुर्भाव) शारदादेश (शारदादेवीके देश अर्थात् कश्मीरदेश, पक्षान्तरमें–शारदादेवीके आदेश) के विना अन्यत्र नही देखा गया है।

विमर्श—कुङ्कुम-केसर केवल सरस्वतीके देश (कश्मीर देश) में ही उत्पन्न होते है एवं उनके सहोदर (एक स्थानमें उत्पन्न होनेवाले) काव्यविलास (सत्काव्य) भी कश्मीर देश (पक्षान्तरमें–सरस्वती देवीके आदेश अर्थात् कृपादृष्टि) में ही होते हैं, अतः वे दोनों सहोदर हैं। यहाँ पर महाकवि 'बिल्हण'ने अपने ऊपर सरस्वती देवीकी कृपादृष्टि होनेसे इस महाकाव्यके उत्तम होनेका तथा कश्मीरदेशकी प्रशसासे अपनी जन्मभूमि होनेका भी सङ्केत किया है। किंवदन्ती है कि पहले 'नवद्वीप'में 'न्यायशास्त्र', 'काशी'में 'व्याकरणशास्त्र' तथा 'कश्मीर'में 'काव्यशास्त्र'के प्रकाण्ड विश्वविश्रुत विद्वान् होते थे, इसीसे 'श्रीहर्ष' आदि महाकवियोंने अपने-अपने काव्यग्रन्थोंकी परीक्षा कश्मीरमें जाकर करायी थी ॥ २१ ॥

रसध्वनेरध्वनि ये चरन्ति सङ्क्रान्तवक्रोक्तिरहस्यमुद्राः।
तेऽस्मत्प्रबन्धानवधारयन्तु कुर्वन्तु शेषाः शुकवाक्यपाठम् ॥ २२ ॥

अन्वयः—संक्रान्तवक्रोक्तिरहस्यमुद्राः ये रसध्वनेः अध्वनि चरन्ति, ते अस्मत्प्रबन्धान् अवधारयन्तु, शेषाः शुकवाक्यपाठम् कुर्वन्तु।

सुधा—ध्वनिमार्गपथिकाः सचेतस एवास्मत्काव्यतत्त्वं वेत्स्यन्तीत्याह—रसध्वनेरिति। संक्रान्तवक्रोक्तिरहस्यमुद्राः—संक्रान्ता पूर्णतः प्रतिफलिता वक्रोक्तीनां

व्यङ्गयद्वाराऽन्यार्थकवचनानां रहस्यस्य तात्त्विकाभिप्रायस्य मुद्रा मुद्रणं येषु ते, पित्तल-सीसकादिमुद्राचिह्नं यथा लाक्षा-कर्गदादिष्वविकल्पं प्रतिफलति तथैव वक्रोक्तिरहस्यं हृदयपटलेऽविकलं धारयन्त इति भावः, ये सहृदयकाव्यमर्मज्ञा इति यावत्, रसध्वनेः—रसानां शृङ्गारकरुणादिनवरसानां ध्वनेर्व्यञ्जना-व्यापारस्य (" शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः । वीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ रसाः शान्तस्तथा मतः" इति साहित्यदर्पणे विश्वनाथः, "यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ । व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥" इति ध्वनिकारः) अवनि मार्गे ("अयनं वर्त्ममार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः । सरणिः पद्धतिः पद्या वर्तन्येकपदीति च" इत्यमरः), चरन्ति चलन्ति, ते ध्वनितत्त्वज्ञाः रसिकाः, अस्मत्प्रबन्धान्—अस्माकं श्रेष्ठकवीनां प्रबन्धान् रचनाः ["अस्मदो द्वयोश्च" इत्येकवचनेऽपि बहुवचनम्] तेनात्मन उत्तमकवित्वं ध्वनितवान् ग्रन्थकारः, अवधारयन्तु याथार्थ्येनावगच्छन्तु, शेषाः ध्वनिरहस्यानभिज्ञाः ("शेषो नाऽनन्तसीरिणोः । उपयुक्तेतरे त्वस्त्री" इति त्रिकाण्डशेषः), शुकवाक्यपाठम् - शुकवत्कीरवत् वाक्यपाठमर्थज्ञानशून्यवाक्य-मात्रोच्चारणम् ("शुकस्त्रिकेतुर्मेधावी श्रीमान् वाग्मी फलासनः । दरणो दण्डिकीरौ च" इति वैजयन्ती), कुर्वन्तु विदधतु । काव्यं "ध्वनिर्गुणीभूतव्य-ङ्गयश्चेति द्विधा मतम्" इत्युक्त्या काव्यं द्विधा विभज्य "वाच्यातिशायिनि व्यङ्गये ध्वनिस्तत् काव्यमुत्तमम्" इति ध्वन्यात्मकस्य काव्यस्य श्रेष्ठत्वमुक्तं विश्वनाथेन, "काकुर्ध्वनिविकारः स्यात्" इति हेमचन्द्राचार्यवचनेन सामा-न्यार्थं परित्यज्य व्यञ्जनादिनाऽन्यार्थप्रतीतिकृदुत्तमं काव्यं भवति, एवंविधानार्थ-बोधकं काव्यं न हि सकलजनसंवेद्यमपि तु कतिचनसहृदयसुधीसंवेद्यमेव, अतो-ऽस्मदीयध्वनिचमत्कृतिमयकाव्यस्यास्वादानन्दं विशेषज्ञा एव लप्स्यन्ते, सामा-न्यधियस्तु शुकवत्केवलं पारायणमेव करिष्यन्ति इति तात्पर्यम् । 'शुकवाक्य-पाठम्' इत्यत्र शुकवदित्यर्थेन शुकैः सह ध्वनिज्ञानहीनानां साम्यादुपमालङ्कारः । आद्यपाद उपेन्द्रवज्रान्येषु त्रिपु पादेष्विन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'कीर्त्या'ख्योपजातिः ।

सुधासार—वक्रोक्तिकी मुद्रा (मुहर) जिनके हृदयपटलपर अङ्कित हो गयी है, ऐसे (सहृदय काव्यमर्मज्ञ) रसध्वनिके मार्गपर चलते हैं, वे ही हमारी रचनाओंको समझें, बाकी (सामान्य ज्ञानवाले) लोग तोतेके समान इस काव्यका पारायणमात्र करें ।

विमर्ष—पीतल या सीसे आदिकी मुहर (पर खुदे हुए अक्षर, चिह्न,

चित्रादि) चमड़े या कागज आदिपर अविकल (ज्यो के त्यो) प्रतिफलित (अङ्कित) होनेके समान वक्रोक्तिपूर्ण श्रेष्ठकाव्यका अविकल रहस्य हृदय-पटलपर प्रतिफलित होने से जो रसध्वनिके पथिक हैं, वे ही काव्यमर्मज्ञ विद्वान् हमारी रचनाके सारको समझेंगे, अन्य सामान्यलोग तो तोतेके समान मेरी रचनाका पारायण--(अर्थज्ञान-रहित कण्ठोच्चारण) मात्र करेंगे (यहाँपर ग्रन्थकारने अपने लिए 'बहुवचन' का प्रयोगकर अपनेको श्रेष्ठकवि होनेका गर्वपूर्वक सङ्केत किया है ॥ २२ ॥

अनन्यसामान्यगुणत्वमेव भवत्यनर्थाय महाकवीनाम् ।
ज्ञातुं यदेषां सुलभाः सभासु न जल्पमल्पप्रतिभाः क्षमन्ते ॥ २३ ॥

अन्वयः महाकवीनाम् अनन्यसामान्यगुणत्वम् एव अनर्थाय भवति, यत् सभासु सुलभाः अल्पप्रतिभाः एषाम् जल्पम् ज्ञातुम् न क्षमन्ते ।

सुधा अधुना व्याजस्तुत्या स्वकाव्यस्य श्रेष्ठत्वं प्रतिपादयन्नस्य सर्व-साधारणावोध्यत्वमाह- अनन्येति । महाकवीनाम्--महान्तश्च ते कवयश्चेति महाकवयस्तेषां विशिष्टकाव्यरचयितॄणां कवीन्द्राणा [कर्मधारयसमासे "आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः" इति 'मह'च्छब्दस्यात्त्वम्], अनन्यसामान्यगुणत्वम् अन्येष्वितरेषु सामान्यः साधारण इत्यन्यसामान्यः स न भवतीत्यनन्यसामान्यः सर्वसाधारणभिन्नः स चासौ गुणश्चेत्यनन्यसामान्यगुण-स्तस्य भावो विशिष्टगुणत्वम्, एव निश्चयेन, अनर्थायाप्रयोजनाय लक्ष्यासिद्धय इत्याशयः ("अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु" इत्यमरः), भवति जायते महाकवीनां काव्यतत्त्वज्ञानामानन्दोपलब्धिश्च सामान्य काव्य तत्वज्ञानां नैव जायत इत्याशयः । यत् यतः सभासु कविगोष्ठीषु राजसंसत्सु वा, ("सभा सामाजिके गोष्ठ्यां द्यूतमन्दिरयोरपि ' इति मेदिनी), सुलभाः--सुखेन लब्धुं शक्या अनाहूता अपि समागता वा अल्पप्रतिभाः--अल्पा किञ्चिन्मात्रा प्रतिभा नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धिर्येषान्ते किञ्चिन्मात्र प्रतिभायुक्ताः ("सूक्ष्मलेशलवश्लक्ष्णक्षुद्रदभ्रकणाणवः । किञ्चिन्मात्रतनुस्तोकह्रस्वाल्पत्रुटयः समाः" इति हलायुधः, "प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता" इति रुद्रः), एषां महाकवीनाम् जल्पं कथनम् ज्ञातुं बोद्धुम् न क्षमन्ते नैव शक्नुवन्ति ("पर्याप्नोति तु शक्नोति क्षमते प्रभवत्यपि' इत्याख्यातचन्द्रिका) । सर्वत्र सुलभानां तुच्छप्रतिभावतां काव्यश्रोतॄणां साधारणजनानां गूढाभिप्राय-युक्तमहाकाव्यावबोधस्तज्जन्याह्लादश्च न जायत इत्यतो महाकविरचना सर्व-साधारणेष्टसाधकत्वाभावेनानर्थकरीत्यर्थः । 'अनन्यसामान्य' 'सुलभा सभासु',

'जल्पमनल्पे'त्येतेषु अनुप्रासालङ्कारः "अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्" इति विश्वनाथः, महाकवीनामनन्यसामान्यगुणत्वस्यानर्थत्वप्रतिपादन-द्वारा सामान्यतो निन्दाया गम्यत्वेऽपि व्याजेन महाकविगुणत्वस्य स्तुत्या व्याजस्तुत्यलङ्कारश्च, एतल्लक्षणं च "उक्ता व्याजस्तुतिः पुनः। निन्दास्तुति-भ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः" इति विश्वनाथः। पूर्वार्द्धोत्तरार्द्धयोः क्रमशः उपेन्द्रवज्रेन्द्रवज्रयोः सत्त्वादत्र 'माला'ख्योपजातिः।

सुधासार—महाकवियों का सर्वसाधारण-भिन्न गुण ही अनर्थकारी होता है, क्योंकि गोष्ठियों (या—राजसभाओं) में सुलभ (अनायास बहुलतासे प्राप्य) तुच्छ प्रतिभावाले लोग उन (महाकवियों) के कथनको समझनेमें समर्थ नही होते हैं।

विमर्श—महाकवियोकी रचनाओमें भरे हुए गूढ़ अभिप्राय साधारण बुद्धिगम्य न होनेसे अनर्थकारी होते हैं, क्योंकि गोष्ठियों या राजसभाओंमें स्वयं विना बुलाये ही आये हुए अल्पबुद्धिवाले लोग उन महाकवियोंके कथन (के गूढ़ अभिप्राय) को नही समझ सकते है, अतः प्रतिभासम्पन्न तीक्ष्ण-बुद्धिवाले विरले ही लोगोकी बोध्य महाकवि-रचना एक प्रकारसे इष्टसाधिका नही होती। यहाँपर ग्रन्थकारने व्याजस्तुतिद्वारा महाकवियोकी प्रशसा करते हुए अपनी भी प्रशंसा की है॥ २३॥

अलौकिकोल्लेखसमर्पणेन विदग्धचेतःकषपट्टिकासु।
परीक्षितं काव्यसुवर्णमेतल्लोकस्य कण्ठाभरणत्वमेतु॥ २४॥

अन्वयः—विदग्धचेतःकषपट्टिकासु अलौकिकोल्लेखसमर्पणेन परीक्षितम् एतत् काव्यसुवर्णम् लोकस्य कण्ठाभरणत्वम् एतु॥ २४॥

सुधा—विदग्धैः परीक्षितमिदं मत्काव्यं जना आद्रियेयुरित्यभिलपन्नाह—अलौकिकेति। विदग्धचेत.कषपट्टिकासु—विदग्धानां दक्षिणानां चतुराणामिति यावत् चेतांसि मनांसि एव कपपट्टिका निकपपाषाणस्य फलकास्तासु चतुरमनोरूपनिकपोपलफलकेषु ("अग्राम्ये सरलोदारविदग्धच्छेकदक्षिणा" इति, "उच्चलं मानसं चेतश्चित्तमुच्चलितं मनः" इति च वैजयन्ती), अलौकिकोल्लेखसमर्पणेन—लोके भवो लौकिकः न लौकिक इत्यलौकिको लोकसामान्यभिन्नो य उल्लेख उत्कृष्टो लेखश्चमत्कारः, पक्षान्तरे उत्कृष्टत्वा-पादनाय शाणोपले घर्षणं तस्य समर्पणेन विधानेन प्रदानेनेत्यर्थः, परी-क्षितं कृतपरीक्षं। परीक्षा जाताऽस्येति विग्रहे 'परीक्षा' शब्दात् "तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्" इतीतच्प्रत्ययः) एतदिदं मच्चित्तविषयीभूतम्,

काव्यसुवर्णम्——काव्यं कविकृतिरेव सुवर्णं स्वर्णं शोभनाक्षरं वा ("स्वर्णं सुवर्णं कनकं हिरण्यं हेम हाटकम्। तपनीयं शातकुम्भं गाङ्गेयं जाम्बूभर्म कर्वुरम्॥ चामीकरं जातरूपं महारजतकाञ्चने। रुक्मं कार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः), लोकस्य सत्काव्यास्वादनपरस्य जनस्य ("लोकस्तु भुवने जने" इत्यमरः) कण्ठाभरणत्वम्——कण्ठस्य ग्रीवाया आभरणत्वं भूपणत्वं (कण्ठो ध्वनौ सन्निधाने ग्रीवायां मदनद्रुमे" इत्यनेकार्थसंग्रहः "अलङ्कारस्त्वाभरणं भूपणं" इति वैजयन्ती), एतु प्राप्नोतु ['इण्' धातोर्लोटि प्रथमपुरुषैकवचने रूपम्], यथा शाणोपले घर्पणेन परीक्षितं निर्दुष्टं सुवर्णं धनिकानां जनानां कण्ठाभूषणं" भवति, तथैव विद्वज्जनचेतसि चमत्कारितया परीक्षितमिदं महाकाव्यं विद्वज्जनकण्ठस्थ सद्भूषणवच्चमत्कारकं परेपां श्रोतॄणां रोचकं च भवत्वित्याशयः। विदग्धचेतःसु कपपट्टिकायाः काव्ये च सुवर्णस्याभेदारोपादत्र परम्परितरूपकालङ्कारः। तथा च विश्वनाथः-"रूपकं रूपितारोपाद्विपये निरपह्नवे" इति, "यत्र कस्यचिदारोपः परारोपणकारणम् तत्परम्परितं…" इति। प्रथमपादत्रय उपेन्द्रवज्रा चरमपादे चेन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'जाया'ख्योपजातिः।

सुधासार——चतुरोंके चित्तरूप शाणपर (अलौकिक——असाधारण) चमत्कारपूर्ण वर्णन (पक्षान्तरमें——घर्पण) करनेसे परीक्षित यह (मेरा) काव्य रूप सुवर्ण सहृदयों विज्ञों (पक्षमें-धनियो) के कण्ठका भूपण बने।

विमर्श——जैसे शाणपर असाधारण (वार-वार घिसनेसे) परीक्षित सुवर्ण धनवान लोगोंके कण्ठका भूषण बनता है अर्थात् खरे सुवर्णाभरणको कण्ठमें पहनकर धनवान् सुशोभित होते हैं, वैसे ही काव्यमर्मज्ञ चतुर विद्वानोंके चित्तमें अलौकिक चमत्कारपूर्ण कथनसे परीक्षित यह मेरा महाकाव्य विद्वज्जनोंके कण्ठका आभूपण बने अर्थात् अनेक वार मनन आदिके द्वारा परीक्षित इस मेरे काव्यसुवर्ण (सुन्दर रंग, पक्षान्तरमें——सुन्दर अक्षरोंवाले) काव्यको कण्ठस्थकर विद्वज्जनगोष्ठियोमें चमत्कारपूर्ण सूक्तियोंको सुनानेसे सुशोभित (सुप्रतिष्ठित—प्रतिष्ठाको पाये हुए) होवें॥ २४॥

किं चारुचारित्रविलासशून्याः कुर्वन्ति भूपाः कविसङ्ग्रहेण?।
किं जातु गुञ्जाफलभूषणानां सुवर्णकारेण वनेचराणाम्?॥ २५॥

अन्वयः——चारुचारित्रविलासशून्या भूपाः कविसंग्रहेण किम् कुर्वन्ति? गुञ्जाफलभूपणानाम् वनेचराणाम् जातु सुवर्णकारेण किम्?

सुधा——सदाचारहीनानां भूपानां सत्कविसंग्रहेण न किमपि प्रयोजनं फलं

वेत्याह—किमिति। चारुचारित्रविलासशून्याः—चारूणि च तानि चारित्राणि चारुचारित्राणि सदाचारास्तेषां विलासात् लीलायाः शून्या रिक्ता रहिता इत्याशयः। असदाचारा इति भावः। ("सुन्दरं रुचिरं चारु सुषमं साधु शोभनम्। कान्तं मनोरमं रुच्यं मनोज्ञं मञ्जु मञ्जुलम्" इत्यमरः, "चरित्रं चरितं शीलं चारित्रं च सम स्मृतम्" इति हलायुधः, विलासो हावभेदे स्याल्लीलायामपि पुंस्ययम्" इति, "शून्यं तु वशिकं तुच्छरिक्तके" इति च मेदिनी), ['चर' धातोः "हसनिजनिचरिचटिभ्यो ञुण्" इत्युणादिसूत्रेण 'ञुण' प्रत्यये 'चारु' इति, तस्मादेव धातोः "अर्तिलूधूसुखनसहचर इत्रः" इति 'इत्र' प्रत्यये 'चरित्रमिति, चरित्रमेव 'चारित्रम्' इति 'शुने हितम्' इति विग्रहे "उगवादिभ्यो यत्" इति सूत्रोक्तेन "शुनः सम्प्रसारणं ना च दीर्घः" इत्यनेन 'यत्' प्रत्यये सम्प्रसारणे दीर्घे च 'शून्यम्' इति पदम्], भूपाः—भुवं पृथिवीं पान्ति रक्षन्तीति भूपाः राजानः ['भू' शब्दोपपदात् 'पा' रक्षणे इति धातोः "आतोऽनुसर्गे कः" इति 'क' प्रत्यये "आतो लोप इटि च" इति धातोराकारस्य लोपे 'भूपाः' इति], कविसङ्ग्रहेण-कवीनां काव्यकर्तृणां मनीषिणा सङ्ग्रहेण समाहृत्या समाहरणेनेति भावः, (संग्रहस्तु समाहृतिः" इत्यभि० चिन्ता०) [सम्पूर्वकाद् 'ग्रह' धातोः, "ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च" इत्यनेन 'अप्' प्रत्यये 'सङ्ग्रह' इति] किं कुर्वन्ति किं विदधति ? न किंचित् कुर्वन्तीत्याशयः: शीलशून्यानां नृपाणां विद्वज्जनसमुदायः किमप्युपकर्तुं न शक्त इति तात्पर्यम्। एतदेवोदाहरणेन द्रढयति—किमिति। गुञ्जायाः कृष्णलायाः 'घुंघची'ति ख्यातायाः फलानि गुञ्जाफलानि, तान्येव भूषणान्याभरणानि येषा तेषां ("काकचिञ्चिगुञ्जे तु कृष्णला" इत्यमरः' "भूषणं स्यादलङ्कारो नेपथ्याभरणे तथा" इति हलायुधः), वनेचराणाम्—वने अरण्ये चरन्ति चलन्ति इति वनेचरास्तेषामारण्यकभिल्लादीनाम् ['वन' पूर्वकात् 'चर'-धातोः "चरेष्टः" इति 'ट' प्रत्यये सप्तम्या अलुक्], जातु कदाचित् ("जातुशब्दो विगर्हणे। कदाचिदर्थेऽपि तथा" इति मेदिनी), सुवर्णकारेण सुवर्णं करोतीति सुवर्णकारः स्वर्णकारस्तेन ("नाडिन्धमः स्वर्णकारः कलादो रुक्मकारकः" इत्यमरः) ['सुवर्णो'पपदात् 'कृ' धातोः "कर्मण्यण्" इत्यपि णित्वादादिवृद्धौ रपरत्वं च], किं किम्प्रयोजनम् ? न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः। यथा गुञ्जाभरणा वनेचराः स्वर्णकारेण कमपि लाभं कर्तुं न क्षमन्ते तथैव सदाचारशून्या नृपा अपि सत्कविसमुदायेन लाभं कर्तुं न क्षमाः, अतस्तादृशनृपसभासु सत्कवयोऽपि कदाचिन्नैव गच्छन्ति, ते नृपाश्च प्रयोजना-

भावात्ताहक्सत्कविसङ्ग्रहमपि न कुर्वन्तीति भावः। दृष्टान्तालङ्कारः किं कुर्वन्ति, किम्, इति पदाभ्यां 'न किमपि कुर्वन्ति, न किञ्चित् 'इत्यर्थाक्षेपादत्रार्थापत्त्यलङ्कारश्च। आदिपादत्रय इन्द्रवज्रान्त्यपादे चोपेन्द्रवज्रेत्यतो 'वाला'ख्योपजातिः।

सुधासार—सद्विचारशून्य राजा कवियोंके सङ्ग्रहसे क्या करते है (क्या लाभ उठाते हैं) ? अर्थात् कुछ नहीं, क्योंकि घुंघची (करेजनी) के गहनोंको पहननेवाले वनेचरों (कोल, भील आदि) को सुनारसे क्या मतलब है अर्थात् कुछ भी मतलव नही है।

विमर्श—जो राजा अच्छे आचार-विचारसे हीन हैं, वे सत्कवियोंको एकत्र कर क्या करते हैं ? अर्थात् ऐसे राजा अच्छे विद्वानोको एकत्र करनेमें अभिरुचि नहीं रखते है, क्योंकि घुंघचीके आभूपणोको पहननेवाले जंगली कोल-भील आदिको सोनेका आभूपण वनानेवाले सुनारोंसे क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ प्रयोजन नही है। तात्पर्य यह है कि ऐसे राजा उत्तम कवियोको न तो वुलाकर इकट्ठाकर लाभ उठाते हैं और न उत्तम कवि ही ऐसे राजाओके पास कभी जाते हैं ॥ २० ॥

पृथ्वीपतेः सन्ति न यस्य पार्श्वे कवीश्वरास्तस्य कुतो यशांसि ?
भूपाः कियन्तो न बभूवुरुर्व्यां जानाति नामापि न कोऽपि तेषाम् ?॥२६॥

अन्वयः—यस्य पृथ्वीपतेः पार्श्वे कवीश्वराः न सन्ति, तस्य यशांसि कुतः (भविष्यन्ति) ? उर्व्याम् कियन्तः भूपाः न वभूवुः, (परन्तु) तेषाम् नाम अपि कोऽपि न जानाति।

सुधा—यशोभिलापुकैः राजभिः सत्कविसङ्ग्रहोऽवश्यं कर्त्तव्य इति कविमाहात्म्येन वर्णयति—**पृथ्वीति**। यस्य पृथ्वीपतेः—पाति रक्षतीति पतिः स्वामी भर्तेति यावत्, पृथ्व्याः पतिः पृथ्वीपतिस्तस्य भूभर्तुः ['पा' रक्षणे इति धातोः "पातेर्डतिः" इत्युणादिसूत्रेण 'डति' प्रत्यये डित्वाद्धातोरालोपे 'पतिः' इति], पार्श्वे समीपे, कवीश्वराः—कविपु कवीनां वा ईश्वराः कवीश्वरा श्रेष्ठाः कवय., न नहि, सन्ति वर्तन्ते, तस्य कविसान्निध्यशून्यस्य भूपालस्य, यशांसि कीर्तयः ("कीर्तिः श्लोको यशोऽभिख्यासमाख्यास्तुल्यलक्षणाः" इति हलायुधः, "यशः कीर्तिः समज्या च" इत्यमरश्च) कुतः कस्मात् ? भविष्यन्तीति शेषः। सत्कविसान्निध्यहीनस्य भूपस्य कीर्तयो न भवन्तीत्याशयः। उर्व्यां विशालायां भूमौ, कियन्तः कतिसंख्यकाः [किं परिमाणं येपामिति 'किम्' शब्दात् "किमिदम्भ्यां वो घः" इति 'वतु' प्रत्यये 'व'-कारस्य 'घ'कारादेशे च "आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्" इति

घस्येयादेशो बोध्यः] भूपाः राजानः, न नहि, बभूवु अभूवन्, (परन्तु) तेषां भूपानाम्, नामापि नामधेयमपि, ("आख्याह्वेऽभिधानं च नामधेयं च नाम च" इत्यमरः), कोऽपि कश्चित्' न नहि, जानाति वेत्ति । अतो यशोऽभिलाषुकैः पृथ्वीपतिभिः श्रेष्ठानां कवीनां सङ्ग्रहोऽवश्यं कर्त्तव्यः, यतः श्रेष्ठाः कवय एव भूपतियशसां स्थायित्वकरणे समर्था इत्याशयः । पूर्वोक्तकारणस्य वाक्यान्तरसमर्थनादत्र काव्यलिङ्गालङ्कारस्तदुक्त "हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गम्" इत्यलङ्कारसर्वस्वे । द्वितीयचरण उपेन्द्रवज्रेतरेषु त्रिपु पादेष्विन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'प्रेमा'ख्योपजातिः ।

सुधासार—जिस भूपति के पास (राजसभा) में श्रेष्ठ कविलोग नहीं हैं, उसका यश कैसे होगा ? अर्थात् राजसभामें उत्तम कवियोके नही रहनेपर उस राजाका यश नही हो सकता है, क्योंकि पृथ्वीपर कितने राजा नहीं हुए? किन्तु उनका नाम भी कोई नही जानता है।

विमर्श—अपने यशको वहुत समयतक स्थिर रहनेके लिए राजाओंको अपने निकटमें अच्छे कवियोंको रखना (धन आदिसे सादर प्रश्रय देना) चाहिये, क्योकि सत्कवि ही अपने आश्रयदाता राजाके यशको उत्तमोत्तम काव्य-रचनाद्वारा फैलाकर स्थिर करते हैं ॥ २६ ॥

लङ्कापते. सङ्कुचितं यशो यद्यत् कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः ।
स सर्व एवादिकवेः प्रभावो न कोपनीयाः कवयः क्षितीन्द्रैः ॥२७॥

अन्वयः—यत् लङ्कापतेः यश. सङ्कुचितम्, यत् रघुराजपुत्रः कीर्तिपात्रम् (वर्तते), सः सर्वः एव आदिकवेः प्रभावः (अस्ति, अत एव) क्षितीन्द्रैः कवयः न कोपनीयाः ।

सुधा—पूर्वोक्तमेव सोदाहरणं द्रढयति—लङ्केति । यत्, लङ्कापते.—लङ्कायाः पतिर्लङ्कापतिस्तस्य लङ्केश्वरस्य रावणस्य, यशः कीर्तिः, सङ्कुचितं न्यूनतां गतम्, यत्, रघुराजपुत्र.—रघुराजस्य दशरथस्य पुत्रः सुतो रामचन्द्र इत्यर्थः, कीर्तिपात्रम्—कीर्तेर्यशसः पात्रः भाजनम्, वर्तत इति शेषः, स सर्वः समस्तः, एव निश्चयेन ("एव साम्येऽवधारणे" इति नानार्थरत्नमाला) आदिकवेः—आदिश्चासौ कविश्चेत्यादिकविस्तस्य वाल्मीकिमहाकवेः ("प्राचेतसस्तु वाल्मीकिर्वाल्मीकश्च कुशी कवि" इति वैजयन्ती) "तद् ब्रूहि रामचरितमाद्यः कविरसि" इति भवभूतिरचिते उत्तररामचरिते 'वाल्मीकि' कृते ब्रह्मणो वचनादित्याशयः । प्रभावो महत्त्वम्, वर्तत इति शेषः । (अत एव) क्षितीन्द्रैः क्षितेः पृथिव्या इन्द्रैरीश्वरैः पृथ्वीश्वरैः कवयः काव्यकर्तारो बुधाः, न नहि, कोप-

नीयाः कोपयितुं योग्या अपि तु सम्यगादरणीयाः सन्ति 'कुज्' धातोः "तव्यत्तव्यानीयरः" इत्यनीर् प्रत्ययः]। अर्थान्तरन्यासालङ्कारः। पूर्वार्द्धोत्तरार्द्धयोः क्रमश इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोः सत्त्वात् 'भद्रा'ख्योपजातिरत्र।

सुधासार—जो लङ्केश्वर (रावण) का यश कम हो गया और जो राघवेन्द्रकुमार (रामचन्द्र) यशके भाजन बने हैं, वह सभी आदिकवि (वाल्मीकि) का प्रभाव है (अत एव) राजाओंको चाहिए कि वे कवियोंको क्रुद्ध न करें।

विमर्श—रामचन्द्रके यशको बढ़ाने एवं रावणके यशको कम करनेमें आदिकवि वाल्मीकिका ही प्रभाव है, क्योंकि उन्होंने ही रामके उत्तम गुणोंका वर्णनकर उनके यशको बढ़ाया तथा रावणके अवगुणोंका वर्णनकर उसके यशको घटाया, (अत एव) राजाओको चाहिए कि वे महाकवियोका आदरकर उन्हें खुश रखे॥ २७॥

गिरां प्रवृत्तिर्मम नीरसापि मान्या भवित्री नृपतेश्चरित्रैः।
के वा न शुष्कां मृदमभ्रसिन्धुसम्बन्धिनीं मूर्धनि धारयन्ति ?॥२८॥

अन्वय—मम नीरसा अपि गिराम् प्रवृत्तिः नृपतेः चरित्रैः मान्या भवित्री, के वा अभ्रसिन्धुसम्बन्धिनीम् शुष्काम् (अपि) मृदम् मूर्धनि न धारयन्ति ?

सुधा—साम्प्रतं स्वमहाकाव्यनायक श्रीविक्रमाङ्कदेव संस्तुवम् स्वगर्व परिहरति—गिरामिति। मम 'बिल्हण' महाकवेः, निरसा—रसान्निर्गता नीरसा माधुर्यादिरसरहिता, ["निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या" इति समासः], अपि, गिरां वाचां ("ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती" इत्यमरः), प्रवृत्तिः प्रवाहो व्यापार इति यावत् ("प्रवृत्तिस्तु प्रवाहे स्यादुदन्ते च प्रवर्तने" इति मेदिनी), नृपतेः—नॄन् पातीति नृपतिस्तस्य श्रीविक्रमाङ्कदेवस्य नरेश्वरस्य, चरित्रैः चरितैः, मान्या माननीया ['मन्' धातो "ऋहलोर्ण्यत्" इति 'ण्यत्' प्रत्यये णित्वाद् "अत उपधायाः" इति वृद्धौ रूपम्], भवित्री भूष्णुः (भूष्णुर्भविष्णुर्भविता" इत्यमरः) ['भू' धातोस्ताच्छील्ये 'तृन्' प्रत्यये स्त्रीत्वात् "ऋन्नेभ्यो ङीप्" इति 'ङीप्' प्रत्ययः] वा अथवा, के के जनाः, अभ्रसिन्धुसम्बन्धिनीम्—अभ्रस्याकाशस्य सिन्धुर्नदी अभ्रसिन्धुर्गङ्गा तस्याः सम्बन्धोऽस्या अस्तीति अभ्रसिन्धुसम्बन्धिनी गङ्गासम्बन्धवती ता गङ्गाया इत्याशयः, शुष्कामनार्द्राम् ['शुष्' धातोर्भूतार्थे ' निष्ठा" इति 'क्त' प्रत्यये "शुषः कः" इति तस्य कादेशे 'टाप्' प्रत्ययः], मृदं मृत्तिकां ("मृन्मृत्तिका" इत्यमरः) मूर्धनि

शिरसि ("उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षं मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः) ['मूर्धन्' शब्दात्सप्तम्येकवचने "विभाषा ङिश्योः" इत्यस्य वैकल्पिकत्वादुपधा लोपाभावः], न हि, धारयन्ति धारणं कुर्वन्ति ? अपि तु सर्वेऽपि जना शुष्कामपि गङ्गाया मृत्तिकां तिलकरूपेण मस्तके धारयन्ति। श्रीविष्णुचरणनिर्गताया परमपवित्राया गङ्गाया एव माहात्म्येन नीरसामपि मृत्तिकां यथा सर्वे तिलकरूपेणोत्तमाङ्गे धारयन्ति, तथा सच्चरित्रशालिनः श्रीविक्रमादेङ्कस्य प्रभावेण माधुर्यादिगुणविरहतया नीरसामपि मदीयां वाणी सदाचारवन्तः सहृदया अवश्यं श्रोष्यन्तीति भावः। गङ्गाया मृदो मस्तके धारणस्य माहात्म्यं याज्ञवल्क्यस्मृतौ 'मिताक्षरा' व्याख्यायां 'नीलकण्ठी' टीकायामेवं वर्तते--

"जाह्नवीतीरसम्भूतां मृदं मूर्ध्ना विभर्ति यः।
विभर्ति सूर्यं सोऽर्कः स्यात्तमोनाशाय केवलम् ॥" इति (१।२२)

'नैषधमहाकाव्ये' श्रीहर्षेणाप्येवंविधेनात्मनो लाघवं वर्णितम्। तद्यथा--
"पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे स्मृता रसक्षालनयेव यत्कथा।
कथं न सा मद्गिरमाविलामपि स्वसेविनीमेवपवित्रयिष्यति ॥" इति(१।२)

अत्र "वाक्यस्यार्थगतत्वेन सामानस्य वाक्यद्वये पृथङ्निर्देशे प्रतिवस्तुपमा" इत्यलङ्कारसर्वस्वोक्तेरत्र प्रतिवस्तूपमालङ्कारः, "समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्तम्" इति च तत्रैवदर्शनादत्रश्रीविक्रमाङ्कदेवनृपतेरतिशयितसमृद्धिवर्णनेनोदात्तालङ्कारो वा। प्रथमपाद उपेन्द्रवज्राऽन्येषु त्रिष्विन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'कीर्ति' नाम्न्युपजातिः।

सुधासार--मेरी नीरस भी वाणी राजा (विक्रमाङ्कदेव) के उत्तम चरित्रों द्वारा (सब विद्वानोको) माननीय होगी, अथवा कौन लोग गङ्गाजीकी सूखी मिट्टीको भी मस्तकपर नही धारण करते हैं ? अर्थात् सभी लोग धारण करते हैं।

विमर्श--यहाँपर महाकवि 'विल्हण'ने अपनी लघुता प्रकट करते हुए गङ्गाजीकी सूखी मिट्टीको धार्मिकलोगोंद्वारा मस्तकपर तिलकरूपमें धारण करनेका उदाहरण देकर विक्रमाङ्कदेवके चरित्रोंको अत्यधिक महत्त्व दिया है॥ २८॥

कर्णामृतं सूक्तिरसं विमुच्य दोषे प्रयत्नः सुमहान् खलानाम्।
निरीक्षते केलिवनं प्रविश्य क्रमेलकः कण्टकजालमेव ॥ २९ ॥

अन्वयः--कर्णामृतम् सूक्तिरसम् विमुच्य खलानाम् दोषे सुमहान् प्रयत्नः (भवति), क्रमेलकः केलिवनम् प्रविश्य कण्टकजालम् एव निरीक्षते।

सुधा--दुर्जनाः सद्गुणान् त्यक्त्वा केवलं दोषस्यैवान्वेषणं कुर्वन्तीत्याह--

कर्णेति । कर्णामृतम्—कर्णयोः श्रोत्रयोरमृतं पीयूषमिवेति कर्णामृतं कर्णद्वारा श्रवणेनामृतवदानन्दकरम्, सूक्तिरसम् शोभनोक्तिः सूक्तिः सत्कविभणितिस्तस्या रसम्, विमुच्य त्यक्त्वा, ['वि' पूर्वका'न्मुच्'धातोः "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" इति 'क्त्वा' प्रत्यये "समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्" इति तस्य ल्यबादेशः], खलानां दुर्जनानां ("पिशुनो दुर्जनः खलः" इत्यमरः), दोषेऽवगुणे दोषान्वेषण इति यावत्, सुमहान् अधिकतमः, प्रयत्नः प्रयासः, भवतीति शेषः । एतदेवोदाहरण-द्वारा समर्थयति—क्रमेलक इति । क्रमेलक उष्ट्रः ("उष्ट्रे क्रमेलकमयमहाङ्गाः" इत्यमरः), केलिवनम्—केलीनां प्रमदाविलासानां केल्यर्थं वा वनमुद्यानमिति केलीवनं प्रमदाक्रीडोपवनम्, प्रविश्य प्रवेशं कृत्वा (अपि), कण्टकजालम्—कण्टकानां शमीबदरीबब्बूलादीनां जालं वृंदं समूहमिति यावत् "गवाक्षवृन्द-दम्भेषु जालं मत्स्यादिबन्धने" इति शाश्वतः), एव निश्चयेन, निरीक्षते पश्यति तदुक्तं नीतिकारैः—

दोषैकदृष्टिर्दुर्जनचित्तं भवतीति किं चित्रम् ।
हित्वा स्वादुतृणादीनुष्ट्रोऽत्ति कटुनिम्बबब्बुलाद्येव ॥ इति ।

काव्यगतध्वनिरसालङ्कारादिसद्गुणान् परित्यज्य दुर्जनाश्च दोषान्वेषणं तथैव कुर्वन्ति यथोष्ट्राः केलिवनभवान् स्वादिष्टघासपर्णादिभोज्यपदार्थान् परित्यज्य कण्टकमयानां कटुस्वादानां च शमीनिम्बबब्बूलबदर्यादीनामेवान्वेषणं कुर्वन्ति इत्याशयः । अत्र दृष्टान्तालङ्कारः । पूर्वार्द्धोत्तरार्द्धयोः क्रमश इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोः सत्त्वादत्र 'भद्रा'ख्योपजातिः ।

सुधासार—कानोंके लिए अमृततुल्य (सुखप्रद) सुभाषित-रसको छोड़कर दुर्जनोंका प्रयास दोष (को ढूँढने) में ही होता है, ऊँट केलिवनमें प्रवेशकर भी (शमी, बबूल आदि) कण्टक-समूहको ही देखता (खोजता) है ।

विमर्श—स्वभावका प्रभाव सर्वोपरि होनेसे दुर्जनोंका प्रयत्न सद्गुणोंको छोड़कर केवल दोष खोजनेमें ही होता है, क्योंकि केलिवनमें घुसकर भी ऊँट मधुर एवं कोमल घास पत्ते आदिको छोड़कर काँटेदार एवं कड़वे नीम, शमी, बेर और बबूल आदिको ही खोजता है ॥ २९ ॥

एषास्तु चालुक्यनरेन्द्रवंशसमुद्गतानां गुणमौक्तिकानाम् ।
मद्भारतीसूत्रनिवेशितानामेकावली कण्ठविभूषणं वः ॥ ३० ॥

अन्वय—चालुक्यनरेन्द्रवंशसमुद्गतानाम् मद्भारतीसूत्रनिवेशितानाम् गुण-मौक्तिकानाम् एषा एकावली वः कण्ठविभूषणम् अस्तु ।

सुधा—साम्प्रतं स्वमहाकाव्यनायकं श्रीविक्रमाङ्कदेवं प्रस्तोष्यन् महाकवि-'विल्हणः' प्रथमं तद्वंशवर्णनमारभते—एषेति। चालुक्यनरेन्द्रवंशसमुद्गतानाम्—चालुक्याश्च ते नरेन्द्राश्चेति चालुक्यनरेन्द्राश्चालुक्यराजानस्तेषां वंशः कुलं वेणुश्चेति श्लेषः तस्मात् समुद्गतानामुत्पन्नानां चालुक्यनृपतिकुलजातानां पक्षान्तरे—चालुक्यरूपवेणूत्पन्नानां ("वंशो वेणौ समूहे च पृष्ठास्थिनि कुलेऽपि च" इति नानार्थरत्नमाला), मद्भारतीसूत्रनिवेशितानाम्—मम 'विल्हण'कवेः भारती वाणी एव सूत्रं तन्तुस्तत्र निवेशितानां गुम्फितानां मद्वचस्तन्तुग्रथितानाम् [षष्ठ्येकवचनान्तास्मच्छब्दस्य "प्रत्ययोत्तरपदयोश्च" इति 'म'देश.], गुणमौक्तिकानाम्—मुक्ता एव मौक्तिकानि मुक्ताफलानि गुणाः चालुक्यराजगुणा एव मौक्तिकानि मुक्ताफलानि तेषां गुणमौक्तिकानाम्, एषा इयम् एकावली—एका चासावावलीत्येकावली एकयष्टिको हारः ("हारभेदा यष्टिभेदाद् गुत्सगुत्सार्द्धगोस्तनाः। अर्द्धहारो माणवक एकावल्येकयष्टिका" इत्यमर) वो युष्माकं ["बहुवचनस्य वस्नसौ" इति षष्ठीबहुवचनान्तस्य 'युष्म'च्छब्दस्य 'नस'ादेशः], कण्ठविभूषणम्—कण्ठस्य ग्रीवाया विभूषण विशिष्टाभरणम्, अस्तु भवतु। मौक्तिकोत्पत्तिस्थानानि यथा—

"करीन्द्रजीमूतवराहशङ्खमत्स्याहिशुक्त्युद्भववेणुजानि ।
मुक्ताफलानि प्रथितानि लोके तेषा तु शुक्त्युद्भवमेव भूरि ॥" इति,

अन्यच्च—"हस्तिमस्तकदन्तौ तु दंष्ट्रा शुनवराहयोः।
मेघो भुजङ्गमो वेणुर्मत्स्यो मौक्तिकयोनयः ॥" इति।

अथ यष्टिसङ्ख्याभेदाद् हाराणां विभिन्नानि नामान्याह यादवस्तद्यथा—

"हारो मुक्तावली स्त्री स्यात्तद्भेदा यष्टिसंख्यया।
देवच्छन्दः शतं साष्टमिन्द्रच्छन्दः सहस्रकम् ॥
तस्यार्धं विजयच्छन्दो हारस्त्वष्टोत्तरं शतम्।
अर्धं रश्मिकलापोऽस्य द्वादशस्त्वर्धमाणवः" ॥
द्विर्द्वादशोऽर्धगुच्छोऽथ पञ्च हारफलं लता.।
अर्धहारश्चतु षष्टिर्गुच्छमाणवमन्दरा. ॥
अपि गोस्तनगोपुच्छावर्धमर्धं यथोत्तरम्।
एकावल्यनुकण्ठी च हारः स्यादेकयष्टिकः ॥
यष्टिर्नक्षत्रमालैका सप्तविंशतिमौक्तिका।" इति वैजयन्ती।

अत्र पद्ये वंशे वेणुत्वारोपस्य गुणेषु मौक्तिकारोपे, भारत्यां सूत्रत्वारोपस्य वाक्यावल्यामेकावल्यारोपस्य च कारणत्वात् परम्परितरूपकालङ्कारः, तल्लक्षणमाह—

काव्यप्रकाशे "नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य यत् । तत्परम्परितं श्लिष्टे वाचके भेदभाजि वा ॥" इति । अत्र द्वितीयपाद उपेन्द्रवज्रा शेषेषु त्रिषु पादेष्विन्द्रवज्रेत्यतो 'वाणी'नाम्न्युपजातिः ।

सुधासार—चालुक्य राजाओंके कुलमें उत्पन्न (पक्षान्तरमें–चालुक्यराजरूप बाँससे उत्पन्न) मेरे वचनरूप धागेमें गुथे हुए गुणरूप मोतियोंकी एकावली (एक लड़ीवाली मुक्तामाला) आपलोगोंके कण्ठका उत्तम आभूषण बने ॥

विमर्श—मोतियोंकी एकावली (एक लड़ीवाले मुक्ताहार) को कण्ठमें धारण करनेसे मनुष्य जैसे सुशोभित (समाजमें प्रतिष्ठित) होता है, वैसे ही चालुक्य राजाओंके वंशमें उत्पन्न गुणोंसे युक्त मेरे महाकाव्यके कण्ठमें धारणकर (कण्ठस्थकर) काव्यरसिक आपलोग भी समाजमें प्रतिष्ठित होवें ॥३०॥

लोकेषु सप्तस्वपि विश्रुतोऽसौ, सरस्वतीविभ्रमभूः स्वयंभूः ।
चत्वारि काव्यानि चतुर्मुखस्य यस्य प्रसिद्धाः श्रुतयश्चतस्रः ॥३१॥

अन्वयः—सप्तसु अपि लोकेषु विश्रुतः सरस्वतीविभ्रमभूः असौ स्वयम्भूः (अस्ति), चतुर्मुखस्य यस्य चत्वारि काव्यानि चतस्रः श्रुतयः प्रसिद्धाः (सन्ति) ।

सुधा—चालुक्यवंशीयाद्यपुरुषस्योत्पत्तिं वर्णयिष्यन् (१।४७–५५) इदानीं ब्रह्मण आदिकवित्वं प्रतिपादयति—लोकेष्विति । सप्तसु अपि सप्तसंख्यकेष्वपि, लोकेषु भुवनेषु ("लोकस्तु भुवने जने" इत्यमरः) सप्तलोकानां नामान्यग्निपुराण उक्तानि, यथा—

"भूर्भुवः स्वर्महश्चैव जनश्च तप एव च ।
सत्यलोकश्च सप्तैते लोकास्तु परिकीर्तिताः ॥" इति,

अन्यत्र च—"भूर्लोको भुवः स्वर्लोकस्त्रैलोक्यमिदमुच्यते ।
महर्जनः तपः सत्यः सप्त लोकाः प्रकीर्तिताः ॥" इति ।

विश्रुतः ख्यातः प्रसिद्ध इत्यर्थः (ख्याते प्रतीतप्रज्ञातवित्तप्रथितविश्रुताः ।" इत्यभि० चिन्ता०), सरस्वतीविभ्रमभूः—सरस्वत्याः शारदायाः विभ्रमस्य विलासस्य भूः स्थानम्, असावयम्, स्वयम्भूः—स्वयमात्मना भवतीति स्वयम्भूर्ब्रह्मा ("ब्रह्मात्मभूः सुरज्येष्ठः परमेष्ठी पितामहः । हिरण्यगर्भो लोकेशः स्वयम्भूश्चतुराननः ॥ " इत्यमरः)[स्वयं'शब्दोपपदाद् 'भू' धातोः "भुवः संज्ञान्तरयोः" इति 'क्विप्' प्रत्यये स्वयम्भूरिति], अस्तीति शेषः । चतुर्मुखस्य—चत्वारि चतुःसंख्यकानि मुखान्याननानि यस्य स चतुर्मुखस्तस्य चतुराननस्य, यस्य स्वयम्भुवः, चत्वारि चतुःसंख्यानि, काव्यानि कविकृतिरूपा ग्रन्थाः,

("काव्यं ग्रन्थे पुमान् शुक्रे काव्या स्यात्पूतनाधियोः" इति मेदिनी), चत-स्रश्चतुःपरिमिताः, श्रुतयो वेदाः—ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदश्चेति चत्वारो वेदाः सन्ति, तदुक्तम्—"ऋक् स्त्री साम यजुश्चेति वेदास्ते तु त्रय-स्त्रयी। आथर्वणं पौरोहितं वेदाश्चत्वार एव ते" इति वैजयन्ती), प्रसिद्धाः प्रख्याताः, सन्तीति शेषः। अत्र ब्रह्मणः कवित्वं प्रतिपादयन् ग्रन्थकारो वाल्मीक्यादीनामपि प्रथमाचार्यत्वं सूचितवान्। अत एव महाकवि-'भवभूत्य'-नुसारं ब्रह्मैव वाल्मीकिमुनि'माद्यकवि' पदे स्थापितवान्। तदाहोत्तरराम-चरिते—"तेन खलु समयेन तं भगवन्तमाविर्भूतशब्दब्रह्मप्रकाशमृषिमुपसंगम्य भगवान् भूतभावनः पद्मयोनिरवोचत्—"ऋषे! प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि, तद् ब्रूहि रामचरितम्, अव्याहतज्योतिरार्षं ते चक्षुः प्रतिभातु, आद्यः कविरसि" इत्युक्त्वाऽन्तर्हित इति। अत्र द्वितीयपाद उपेन्द्रवज्रा शेषेषु त्रिषु पादेष्विन्द्र-वज्रेत्यतो 'वाणी'नाम्युपजातिः।

सुधासार—सात लोकोंमें प्रसिद्ध सरस्वतीके विलासके स्थान (आश्रयी-भूत) ये ब्रह्मा है, जिनके चार मुखोंवाले चार काव्य 'वेद' कहलाते हैं।

विमर्श—'भू भुवः स्वः महः जनः, तपः तथा सत्य'—इन सात लोकोंमें प्रसिद्ध स्वयम्भू (स्वयं उत्पन्न ब्रह्मा) सरस्वती देवीकी विलास-भूमि है अर्थात् यहाँ सरस्वती निवास करती है, चार मुखोवाले इनके चार काव्य (ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व) वेद कहलाते हैं। ब्रह्माके मुखोसे चार वेदोंको 'काव्य' कहकर ग्रन्थकारने इन्हें आदिकवि वाल्मीकिको भी प्रथमाचार्य कहा है, इस बात का समर्थन महाकवि 'भवभूति' ने भी अपने 'उत्तररामचरित' नाटकमें किया है॥ ३१ ॥

एकस्य सेवातिशयेन शङ्के पङ्केरुहस्यासनतां गतस्य।
आराधितो यः सकलं कुटुम्बं चकार लक्ष्मीपदमम्बुजानाम्॥ ३२॥

अन्वयः—आसनताम् गतस्य यस्य एकस्य पङ्केरुहस्य सेवातिशयेन आरा-धितः यः अम्बुजानाम् सकलम् कुटुम्बम् लक्ष्मीपदम् चकार (इति अहं) शङ्के।

सुधा—आसनताम्—आसनस्य भाव आसनता तां पीठत्वम् ["विष्टरं त्वासने पीठम्" इति वैजयन्ती। [आस्यतेऽस्मिन्निति विग्रहे 'आस' उपवेशन इति धातोः "करणाधिकरणयोश्च" इति विहितस्य 'ल्युट्' प्रत्ययस्य "युवोर-नाकौ" इत्यनादेशे "तस्य भावस्त्वतले" इति 'तल्' प्रत्ययः, तलन्तस्त्रीत्वात् 'टाप्' प्रत्ययः], गतस्य प्राप्तस्य, एकस्यान्यतमस्य ("मुख्यान्यकेवलेष्वेकः" इति

वैजयन्ती), पङ्केरुहस्य-कमलस्य ("पङ्केरुहं तामरसं कमलं दारदोलके" इति वैजयन्ती) [पङ्के रोहतीति 'पङ्को'पपदाद् 'रुह्' धातो. "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इति 'क' प्रत्यये "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इति सप्तम्यां अलुकि 'पङ्के-रुहम्' इति], सेवातिशयेन-सेवायाः परिचर्याया अतिशयेन अधिक्येन ("वरि-वस्या परिचर्या शुश्रूषोपासना परीष्टिः स्यात् । सेवा भक्तिरुपास्तिः प्रसाद-नाराधनोपचारश्च" इति हलायुधः) आराधितः सेवितः 'यः ब्रह्मा, अम्बुजानां कमलानाम् [अम्बुनि जातान्यम्बुजानि 'अम्बु' शब्दोपपदात् 'जनी' प्रादुर्भावे इति धातोः "सप्तम्या जनेर्ड." इति 'ड' प्रत्यये "उपपदमतिङ्" इति समासे धातोष्टेर्लोपे "सुपो धातुप्रातिपदिकयोः" इति सप्तम्या लुक्], सकलं सर्वं ('कृत्स्न समग्रं सकलं समस्तं सर्वं च विश्वं निखिलाखिले च" इति हलायुधः), कुटुम्बं सुतादिक ("कुटुम्बन्तु सुतादिकम्" इति वैजयन्ती), लक्ष्मीपदम्-लक्ष्म्याः श्रिय शोभायाश्च पदं स्थानं सम्पदास्पद शोभास्पदं चेति भावः, ("लक्ष्मीः सम्पत्तिशोभयोः" इति मेदिनी), चकार कृतवान्, (इति एतदहं) शङ्के शङ्कां करोमि । विशेषाराधनापूर्वकं सेवितेन स्वामिरूपेण ब्रह्मणा सकलकुटुम्बदास-स्थानीयकमलस्य सम्पदाश्रयीकरणं समुचितमेव । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारस्तल्लक्षण-माह विश्वनाथः—" मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः" इति । आद्ये पादत्रय इन्द्रवज्रा चरमपादे चोपेन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'बाला'ख्योपजातिः ।

सुधासार—आसन बने हुए एक कमलकी विशिष्ट सेवासे प्रसन्न जिस (ब्रह्मा) ने कमल के पूरे कुटुम्बको शोभा (पक्षान्तरमें—सम्पत्ति) का आश्रय बना दिया (ऐसी मैं) शङ्का (कल्पना) करता हूँ।

विमर्श—"विरञ्चिः कमलासनः" आदि वचनोंसे ब्रह्माका आसन कमल है, आसनभूत केवल एक कमलने अत्यधिक सेवासे ब्रह्माको इतना प्रसन्न कर लिया कि उन्होंने सब कमलोंको शोभा (पक्षान्तर मे—श्री अर्थात् सम्पदा) का आश्रय बना दिया, "लक्ष्मी पद्मालया पद्मा" आदि वचनोसे लक्ष्मीका निवास-स्थान कमल ही है । व्यवहारमे भी देखा गया है कि सेवककी विशिष्ट सेवासे प्रसन्न मालिक सेवकके समस्त परिवारको सम्पन्न (लक्ष्मीपात्र) बना देता है ।।३२।।

ब्रह्मर्षिभिर्ब्रह्ममयीममुष्य सार्धं कथा वर्धयतः कदाचित् ।
त्रैलोक्यबन्धोः सुरसिन्धुतीरे प्रत्यूषसन्ध्यासमयो बभूव ।। ३३ ।।

अन्वयः—कदाचित् सुरसिन्धुतीरे ब्रह्मर्षिभिः सार्धम् ब्रह्ममयीम् कथाम् वर्धयतः अमुष्य त्रैलोक्यबन्धोः प्रत्यूषसन्ध्यासमयः बभूव ।

सुधा—ब्रह्माणं संस्तुत्येदानीं स्वमहाकाव्यवस्तूपन्यासोपोद्घातं करोति—ब्रह्मेति। कदाचित् जातु कस्मिंश्चित्समये इत्यर्थः ("कदाचिज्जातु कर्हिचित्" इत्यभि० चिन्ता०), सुरसिन्धुतीरे—सुराणां देवानां सिन्धुर्नदी गङ्गेत्यर्थस्तस्यास्तीरे तटे स्वर्गङ्गातटे इति यावत् ("गङ्गा विष्णुपदी जह्नुतनया सुरनिम्नगा। भागीरथी वियद्गङ्गा त्रिस्रोता भीष्मसूरपि" इत्यमरः), ब्रह्मर्षिभिः—ब्रह्माणश्च ते ऋषयश्चेति ब्रह्मर्षयस्तैर्मरीचिकश्यपादिभिः, सार्धं सह ("सार्धं तु साकं सत्रा समं सह" इत्यमरः), ब्रह्ममयीं परब्रह्मसम्बन्धिनीम्, कथां चर्चां 'कथ' वाक्यप्रबन्धे इति चौरादिकाद्धातोः "चिन्तिपूजिकथिकुम्बिचर्चश्च" इति 'अङ्' प्रत्यये स्त्रीत्वाट्टापि 'कथे'ति], वर्धयतः समेधयतः 'वृधु' धातोर्लटि 'शतृ' प्रत्ययान्तस्य षष्ठ्येकवचनम्], अमुष्य अस्य त्रैलोक्यबन्धोः—त्रैलोक्यस्य त्रिलोक्यस्य त्रिलोक्याः बन्धोस्त्रातुः ("बन्धुः स्यात् पुंसि बन्धूके मित्रे त्रातरि बान्धवे" इति मेदिनी), प्रत्यूषसन्ध्यासमयः—प्रत्यूषस्य प्रभातस्य सन्ध्यायाः सन्ध्योपासनस्य समयः कालः प्रातःसन्ध्योपासनसमयः इत्यर्थ ("प्रत्यूषोऽहर्मुखं कल्यमुषः प्रत्युषसी अपि। प्रभातञ्च" इति, 'कालो दिष्टोऽप्यनेहाऽपि समयोऽपि" इति च अमरः), बभूव अभूत्। प्रातःसन्ध्योपासनसमयोपस्थितेर्वर्णनेन पूर्णा रात्रि कथायामेवातीतेति सूच्यते। 'ब्रह्म-ब्रह्मे'त्याद्यनेकाक्षरसाम्यादत्र च्छेकानुप्रासोऽलङ्कारस्तदुक्तं साहित्यदर्पणे—"अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत् छेको व्यञ्जनसङ्घस्य सकृत्साम्यमनेकधा"॥ इति। द्वितीयपाद उपेन्द्रवज्रा शेषेषु त्रिषु पादेष्विन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'वाण्यु'पजातिः।

सुधासार—किसी समय आकाशगङ्गाके तटपर (मरीचि-कश्यप आदि) ब्रह्मर्षियोंके साथ परब्रह्म परमात्मा (या—शब्दब्रह्म वेद) से सम्बद्ध चर्चा करते हुए इस त्रिलोकी·रक्षक (ब्रह्मा) के प्रातःकालके सन्ध्योपासनका समय हो गया।

विमर्श—मरीच्यादि ब्रह्मर्षियोंके साथ परब्रह्म परमात्मा या शब्दब्रह्म अर्थात् वेद से सम्बद्ध बातचीतकी दौड़ इतनी बढ़ गयी कि ब्रह्माके प्रातःकालीन सन्ध्योपासनका समय हो गया अर्थात् लगभग रातभर परस्पर चर्चा होती रही। प्रातःकालके सन्ध्योपासनका समय शास्त्रकारोंने आकाशमें ताराओंके वर्तमान रहते ही श्रेष्ठ माना है, यथा—

"उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका।
अधमा सूर्यसहिता प्रातःसन्ध्या त्रिधा स्मृता॥" इति॥३३॥

मृणालसूत्रं निजवल्लभायाः समुत्सुकश्चाटुषु चक्रवाकः ।
अन्योन्यविश्लेषणयन्त्रसूत्रभ्रान्त्येव चञ्चुस्थितमाचकर्ष ॥ ३४ ॥

अन्वयः—चाटुषु समुत्सुकः चक्रवाकः निजवल्लभायाः चञ्चुस्थितम् मृणालसूत्रम् अन्योन्यविश्लेषणयन्त्रसूत्रभ्रान्त्या इव आचकर्ष ।

सुधा–प्रसङ्गप्राप्त-प्रदोष-वर्णनमारभते—मृणालेति । चाटुषु (प्रेयसीं चक्रवाकीं प्रति) प्रियप्रायवचनेषु, ("चटु चाटु प्रियप्रायम्" इत्यभि० चिन्ता०), समुत्सुकः उत्कण्ठितः, चक्रवाकः कोकः ("कोकश्चक्रश्चक्रवाको रथाङ्गाह्वयनामकः" इत्यमरः), ['चक्र' शब्देनोच्यत' इति 'चक्रो'पपदाद् 'वच्' धातो'र्घञ्' प्रत्ययः], निजवल्लभा तस्या इति वा, चञ्चुस्थितम्–चञ्च्वां त्रोटचा स्थितमवस्थितं चञ्चुगृहीतमिति भावः ("चञ्चुस्त्रोटिरुभे स्त्रियौ" इत्यमरः), मृणालसूत्रम्–विसतन्तुम् ("अथास्त्रियाम् । मृणालं विसम्" इति, "सूत्राणि नरितन्तवः" इति च अमरः), अन्योन्यविश्लेषणयन्त्रसूत्रभ्रान्त्या–अन्योन्यस्य परस्परस्य विश्लेषणं विरहस्तस्य यन्त्र तस्य सूत्रं तन्तुस्तस्य भ्रान्त्या भ्रमेण परस्परविरहयन्त्रतन्तुभ्रमेण, इव सदृशम्, आचकर्ष आकृष्टवान् । चक्रवाकद्वारा प्रियाचञ्चुगतविससूत्राकर्षणे विसतन्तौ परस्परविरहयन्त्रतन्तोर्भ्रान्तेः कारणत्वात् सम्भावनाप्रतीत्याऽत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः । एतल्लक्षणन्तूक्तचरम् । पूर्वार्द्धोत्तरार्द्धयोः क्रमशः उपेन्द्रवज्रेन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'माला'ख्योपजातिः ।

सुधासार—(रातभर प्रिया चकवीसे वियोग होनेके कारण उसे खुश करने के लिए) प्रिय वचन कहनेके लिए उत्कण्ठित चकवेने अपनी प्रियाके चोंचमें स्थित (पकड़े गये) मृणालसूत्र (कमलके नालके धागे) को मानों आपसमें विरह करानेवाले यन्त्र (तावीज) के धागेकी भ्रान्तिसे खींच लिया ।

विमर्श—(रातमें चकवा-चकईका परस्परमें विरह होनेसे) रुष्ट चकईको झूठी-सच्ची प्रिय बातोंसे खुश करनेके लिए उत्कण्ठित चकवाने, चकईके चोंचमें पकड़े हुए विसतन्तु (कमल-नालके धागे) को मानो इस भ्रमसे खींच लिया कि यह मृणाल-तन्तु नहीं, वल्कि प्रियासे विरह करानेवाला यन्त्र (तावीज) का धागा है, अत एव यदि मैं इसे हटा देता हूँ तव प्रियाके साथ मेरा विरह फिर कभी (रातमें भी) नहीं होगा ॥ ३४ ॥

आरक्तमर्घार्पणतत्पराणां सिद्धाङ्गनानामिव कुङ्कुमेन ।
बिम्बं दधे बिम्बफलप्रतिष्ठं राजीविनीजीवितवल्लभस्य ॥ ३५ ॥

अन्वयः—अर्घार्पणतत्पराणाम् सिद्धाङ्गनानाम् कुङ्कुमेन इव आरक्तम् राजीविनी जीवितवल्लभस्य विम्बम् विम्बफलप्रतिष्ठाम् दधे।

सुधा—साम्प्रतं प्राभातिकारुणं सूर्यमण्डलं वर्णयति—आरक्तेति। अर्घार्पणतत्पराणाम्—अर्घस्य पूजार्थजलस्यार्पणे दाने तत्पराणामुद्यतानाम्, सिद्धाङ्गनानाम्—सिद्धानां देवयोनिविशेणामङ्गना रमण्यस्तासां सिद्धरमणीनाम् ("पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः" इत्यमरः), कुङ्कुमेन घुसृणेन ("कुङ्कुमं घुसृणं वर्णं प्रोक्तं लोहितचन्दनम्। कश्मीरजं च विद्वद्भिः कालेयं जागुडं स्मृतम्" इति हलायुधः), इव समम् आरक्तं रक्तवर्णम्, राजीविनीजीवितवल्लभस्य—राजीविन्याः कमलिन्याः जीवितस्य जीवनस्य वल्लभः प्रिय इति राजीविनीजीवितवल्लभः कमलिनीप्राणप्रियः सूर्य इत्यर्थस्तस्य ("चक्षुष्यः सुभगः कान्तो दयितो वल्लभः प्रियः" इति वैजयन्ती), विम्बं मण्डलं ("विम्बोऽस्त्री मण्डलं त्रिषु" इत्यमरः), विम्बफलप्रतिष्ठाम्—विम्बस्य विम्बिकायाः फलं विम्बफलं तस्य प्रतिष्ठां सादृश्यं ("विम्बस्तु प्रतिविम्बे स्यान्मण्डले पुन्नपुंसकम्। विम्बिकायाः फले क्लीबं कृकलासे पुनः पुमान्" इति मेदिनी), दधे दधौ। स्वर्गङ्गायां स्नात्वा सूर्यायार्घं ददतीनां सिद्धरमणीनां निशि स्तनलिप्तकुङ्कुमसम्पर्कादिव सूर्यविम्बं विम्बिकाफलसादृश्यं लेभे। अत्र प्रातःसूर्यस्य विम्बफलेन सादृश्यादुपमालङ्कारः, सूर्यविम्बस्यारक्तत्वे सिद्धाङ्गनाकुङ्कुमस्य हेतुत्वसम्भावनया हेतूत्प्रेक्षालङ्कारश्च। अनयोः संसृष्टिः। अत्रेन्दवज्रा वृत्तम्।

सुधासार—(प्रातःकाल सूर्य के लिए) अर्घ देनेमें तत्पर सिद्धाङ्गनाओंके पयोधरोंके) कुङ्कुमसे लाल सूर्यमण्डल विम्बफल (पके हुए कुन्दरू) के समान हो गया।

विमर्श—सिद्धोंकी रमणियोंने अपने पयोधरोंमें कुङ्कुम लगाया था, वे आकाशगङ्गामें प्रवेशकर स्नानके वाद सूर्यार्घ देने लगीं तो वह धुल गली और मानो उस कुङ्कुमके संसर्गसे रक्तवर्ण सूर्यमण्डल पके हुए विम्बफलके समान हो गया॥ ३५॥

सुधाकरं वार्धकतः क्षपायाः सम्प्रेक्ष्य मूर्द्धानमिवानमन्तम्।
तद्विप्लवायेव सरोजिनीनां स्मितोन्मुखं पङ्कजवक्त्रमासीत्॥ ३६॥

अन्वयः—क्षपायाः वार्धकतः मूर्धानम् आनमन्तम् इव क्षपाकरम् संप्रेक्ष्य तद्विप्लवाय इव सरोजिनीनाम् पङ्कजवक्त्रम् स्मितोन्मुखम् आसीत्।

सुधा—प्रातर्वर्णनप्रसङ्गे सरोजिनीविकासं वर्णयति—सुधेति। क्षपायाः रात्रेः

("अथ शर्वरी । निशा निशीथिनी रात्रिस्त्रियामा क्षणदा क्षपा । विभावरी-तमस्विन्यौ रजनी यामिनी तमी" इत्यमरः), वार्धकतः—वृद्धस्य भावो वार्धकं वृद्धत्वं तस्मात् ["द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च" इति विहितस्य 'वुन्' प्रत्ययस्य "युवो-रनाकौ" इत्यनादेशे "पञ्चम्यास्तसिल्" इति 'तसिल्' प्रत्यये रूपम्], मूर्धानं शिरः, आनमन्तमिव नम्रीभवन्तमिव, अस्ताचलोन्मुखत्वादधो गच्छन्तमिवेति यावत् सुधाकरम्—करोतीति करः सुधायाः करः सुधाकरस्तं, यद्वा—सुधा अमृतं कराः किरणा यस्य स सुधाकरस्तं चन्द्रम् ("करो वर्षोपले रश्मौ पाणौ प्रत्याय-शुण्डयोः" इति मेदिनी), सम्प्रेक्ष्य दृष्ट्वा, तद्विप्लवाय तस्य चन्द्रस्य तस्याश्चन्द्र-पत्न्या रात्रेर्वा विप्लवायोपहासाय, इव वा, सरोजिनीनां पद्मिनीनाम्, पङ्कज-वक्त्रम्—पङ्कजं कमलमेव वक्त्रं मुखमिति पङ्कजवक्त्रं मुखकमलम् स्मितोन्मुखमी-षद्धास्ययुक्तम्, आसीदभूत् । स्वरिपोः स्वरिपुपत्न्या वा दुःस्थितिदर्शनेन काचि-न्नारी यथा तदुपहासं विदधती स्मितानना भवति, तथैव सरोजिन्यः स्वरिपोश्च-न्द्रस्य निशानाथ (चन्द्र पत्न्या निशाया वा वृद्धत्व (विनाशोन्मुखत्व) जन्याव-नतमूर्धानं (स्वरिपुं चन्द्रं) दृष्ट्वा प्रफुल्ला जाता इति भावः । अत्राप्रस्तुतस्य नायिकाव्यवहारस्य पद्मिनीरूपायां नायिकायां समारोपात् समासोक्तिरलङ्कारः, सुधाकरे च वार्धकजन्यावनमन्नायिकामूर्ध्न उत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालङ्कारश्च, पङ्कजे वक्त्रत्वारोपाद्रूपकालङ्कारोऽपि, एवञ्चोत्प्रेक्षारूपकमूलायाः समासोक्तेः सत्त्वेन त्रयाणामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करस्तल्लक्षणं यथा— 'विशेषाणां साम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः, अध्यवसाये व्यापारप्राधान्य उत्प्रेक्षा, क्षीरनीरन्यायेन सङ्करः" इत्यलङ्कारसर्वस्वम् । अत्र प्रथमचतुर्थचरणयोरुपेन्द्रवज्रा द्वितीयतृती-यपादयोश्चेन्द्रवज्रेत्यत 'आर्द्रा'ख्योपजातिः ।

सुधासार— (प्रातःकालमें अपनी प्रिया) रात के बुढ़ापे के कारण मस्तकको झुकाये (अस्ताचलोन्मुख होने से नीचे किये) हुए चन्द्रको देखकर मानो उस (वैरी होने से चन्द्रमा या—चन्द्रपत्नी रात्रि) की हँसी उड़ाने के लिए कम-लिनीका मुखपद्म स्मितयुक्त हो गया अर्थात् मुस्कराने लगा ।

विमर्श—सरोजिनी रात में नहीं विकसित होती और प्रातःकाल होते ही विकसित होने लगती है, रातमें चाँदनी तेज होनेसे चन्द्रमा निशानाथ अर्थात् रातके पति माने जाते हैं, अतः चन्द्रमा तथा रात दोनों ही सरोजिनीके शत्रु हैं। प्रातःकाल रात्रि का वार्धक-समय है, क्योंकि रात्रिका अन्त निकट रहता है और चाँदनी फीकी हो जाती है, अतः अपनी पत्नी रात्रिका बुढ़ापा देखकर चन्द्रमा

का मस्तक झुक गया है—अस्तोन्मुख होनेसे नीचेकी ओर हो गया है, यह सब देखकर इन दोनों की वैरिणी सरोजिनीका मुखपद्म उन दोनोंका मजाक उड़ानेके लिए मुस्करा रहा है। अधिक सवेरेमें कमलिनीका मुख (अग्रभाग-) थोड़ा ही खिलता है, अतएव स्मितोन्मुख कहा गया है, क्योंकि मुस्कुराहटमें मुख पूरा न खुलकर थोड़ा ही खुलता है। लोकव्यवहारमें भी देख जाता है कि कोई स्त्री अपने शत्रु और शत्रु पत्नी की दुरवस्था देखकर मुस्कराती हुई उनकी हँसी उड़ाती है ॥ ३६ ॥

ज्ञात्वा विधातुश्चुलुकात्प्रसूतिं तेजस्विनोऽन्यस्य समस्तजेतुः ।
प्राणेश्वरः पङ्कजिनीवधूनां पूर्वाचलं दुर्गमिवारुरोह ॥ ३७ ॥

अन्वयः—पङ्कजिनीवधूनाम् प्राणेश्वरः विधातुः चुलुकात् समस्तजेतुः अन्यस्य तेजस्विनः प्रसूतिम् ज्ञात्वा इव पूर्वाचलम् दुर्गम् आरुरोह, यद्वा—दुर्गम् इव पूर्वाचलम् आरुरोह ।

सुधा—चालुक्यकुलाद्यपुरुषस्य विधातुश्चुलुकात्प्राकटच वर्णयति—ज्ञात्वेति । पङ्कजिनीवधूनाम्—पङ्कजिन्यः कमलिन्य एव वध्वः पत्न्यस्तासां कमलिनी-प्रेयसीनाम्, ("स्त्री योषिल्ललना योषा वशा सीमन्तिनी वधूः । वनिता महिला नारी" इति वैजयन्ती), प्राणेश्वरः—प्राणानामीश्वरः प्राणेश्वरः प्राण-नाथः सूर्य इत्याशयः, विधातुः ब्रह्मणः चुलुकात् गण्डूषात् ("प्रसृते तु द्रवाधारे गण्डूषश्चुलुकश्चुलुः" इति वैजयन्ती), समस्तजेतुः— जयती तिजेता समस्तानां सर्वेषां भूपानां तेजस्विनां वा जेता विजयी तस्य ['जि'धातोः कर्तरि'तृच्'प्रत्यये 'जेता' इति], अन्यस्येतरस्य स्वस्माद्भिन्नस्य चालुक्यवशीयमूलपुरुषस्येति यावत्, तेजस्विनः— तेजोऽस्त्यस्यस्मिन् चेति तेजस्वी तस्य तेजोयुक्तस्य ['तेजः' शब्दात् "अस्मायामेधास्रजो विनिः" इति 'विनि' प्रत्ययः], प्रसूतिमुत्पत्तिम् ("प्रसूतिः प्रणवोत्पत्तिपुत्रेषु दुहितर्यपि" इत्यनेकार्थसंग्रहः), ज्ञात्वेव विदित्वेव, पूर्वाचलम्—न चलतीत्यचलः पर्वतः पूर्वोऽचलः पूर्वाचलस्तमुदयगिरिम् ("उदयः पूर्वपर्वतः" इत्यमरः), दुर्गम्—दुःखेन गम्यत इति दुर्गस्तं कोट्टम् (कोट्टदुर्गे पुनः समे" इत्यभि० चिन्ता०) [दुरुपपदाद् गम्धातोः "सुदुरोरधिकरणे" इति 'ड' प्रत्यये डित्वाट्टिलोपः], आरुरोहारूढवान् । परमतेजस्वी सूर्यः सर्वविजयिनः स्वस्मादपि अधिकतेजस्विनोऽन्यस्य (चालुक्यकुलमूलपुरुषस्य) उत्पत्तिं ब्रह्मणश्चुलुकाद्विदित्वे-वात्मरक्षार्थं दुर्गममुदयाचलमारूढवान्, अन्योऽपि कश्चिन्नृपतिः स्वस्मादधिक-बलवत उपस्थितिं विदित्वाऽऽत्मनो रक्षार्थं दुर्गमं पर्वतादिकमारोहति। अत्र पङ्क-

जिनीषु वधूतादात्म्यारोपस्य सूर्ये प्राणेश्वरस्यारोपाभेदारोपे हेतुत्वात्परम्परितं रूपकम्, पूर्वाचले दुर्गाभेदारोपाद्रूपकम्, सूर्यस्य दुर्गारोहणेऽन्यतेजस्विनो विधातृ-चुलुकादुत्पत्तिज्ञानस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणाद्धेतूत्प्रेक्षा, सूर्यवृत्तान्ते तादृग्लौकिकान्य-पुरुषवृत्तान्ताभेदसमारोपात्समासोक्तिश्चालङ्कारः। एषां समेषामलङ्काराणां "क्षीरनीरन्यायेन सङ्कर" इत्युक्तेः 'सङ्करः'। इन्द्रवज्राच्छन्दोऽत्र।

सुधासार—पद्मिनीरूप स्त्रियोंके प्राणनाथ (सूर्य), ब्रह्माके चुल्लूसे सबको जीतनेवाले दूसरे तेजस्वी (चालुक्यवंशके आदि पुरुष) की उत्पत्ति जानकर मानो उदयाचलरूप दुर्ग (दुर्गम स्थान) पर चढ़ गया; अथवा—जान-कर किलेके तुल्य उदयाचलपर चढ़ गया।

विमर्श—सूर्य सब तेजस्वियोमें अधिक तेजस्वी है, किन्तु ब्रह्माके चुल्लूसे चालुक्यवंशके आदिपुरुषकी उत्पत्ति हुई तो उसे सब तेजस्वियोंका विजेता मानकर वह भयसे दुर्गम स्थान उदयाचलपर चढ़ गया, अथवा—दुर्ग (किला) के समान उदयाचलपर चढ़ गया। अपनेसे बलवान् विश्वविजयी शत्रुको आया हुआ देखकर अपनी पराजयके भयसे दुर्बल राजा दुर्गम पहाड़ आदिपर चढ़कर आत्म-रक्षा करता है, अथवा—किलेके ऊपर चढ़कर आत्म-रक्षा करता है॥ ३७॥

जगाम याङ्गेषु रथाङ्गनाम्नां परस्परादर्शनलेपनत्वम्।
सा चन्द्रिका चन्दनपङ्ककान्तिः शीतांशुशाणाफलके ममज्ज॥ ३८॥

अन्वयः—या रथाङ्गनाम्नाम् अङ्गेषु परस्परादर्शनलेपनत्वम् जगाम, चन्दनपङ्ककान्तिः सा चन्द्रिका शीतांशुशाणाफलके ममज्ज।

सुधा—प्रातश्चन्द्रिकाया दर्शनाभावं वर्णयति—येति। या चन्द्रिका, रथा-ङ्गनाम्नाम्–रथस्याङ्ग रथाङ्गं चक्रम् नाम येषां ते रथाङ्गनामानश्चक्रवाकास्तेषां ("कोकश्चक्रवाको रथाङ्गाह्वयनामकः" इत्यमरः), अङ्गेषु गात्रेषु ("अङ्गं गात्रे प्रतीकोपाययोः पुंभूम्नि नीवृति। क्लीबैकत्वे त्वप्रधाने त्रिष्वङ्गवति चान्तिके" इति मेदिनी), परस्परादर्शनलेपनत्वम्—परस्परस्यान्योन्यस्यादर्शने दर्शनाभावे लेपनत्वं लेपभावं, जगाम गता, चक्रवाकदम्पत्यो रात्रौ परस्परानव-लोकने या चन्द्रिकाच्छादिका जातेत्याशयः, चन्दनपङ्ककान्तिः—चन्दनस्य हरि-चन्दनस्य पङ्कः कर्दमस्तस्य कान्तिश्छविरिव कान्तिर्यस्याः सा चन्दनलेपवर्णा शुभ्रेति भावः, सा चन्द्रिका ("चन्द्रिका कौमुदी ज्योत्स्ना" इत्यमरः), शीतांशु-शाणाफलके—शीताः शीतला अंशवः किरणा यस्य स शीतांशुश्चन्द्रः एव शाणा

फलकं चन्दनघर्षणाय वर्तुलाकारः शिलाखण्डस्तस्मिन् चन्द्ररूपे चन्दनघर्षण-शिलाखण्डे ('होरसा' इत्याख्ये), ममज्ज मग्ना । प्रभाते चन्द्रिका न दृश्यतेऽतः परं चन्द्र एव शुभ्रता दृश्यतेऽतश्चन्द्रिकायाश्चन्द्रे मग्नत्वकल्पना कविना कृता, चन्दनपङ्कस्य 'होरसा'ख्ये शिलाखण्डे मग्नतोचितैव । रात्रौ चन्द्रिकायाश्चक्र-वाकदम्पत्योश्च शुभ्रतया चक्रवाकदम्पत्योरन्योन्यादर्शने चन्द्रिकैव हेतुः, सा च प्रभाते निष्प्रभा (विलीना) सती वर्तुलाकारे चन्द्रे दृश्यमाना चन्दनघर्षण-प्रस्तरखण्डे गतेति तात्पर्यम् । चन्द्रिकायाश्चन्दनपङ्केन साम्यादुपमा, चन्द्रे च शाणफलकत्वारोपाद्रूपकमलङ्कारश्चात्र । पूर्वार्द्धोत्तरार्द्धयोः क्रमेणोपेन्द्रवज्रेन्द्र-वज्रेत्यतो 'माला'ख्योपजातिरत्र ।

सुधासार—जो चाँदनी रातमें चक्रवाक-दम्पती (चकवा चकईकी जोड़ी) के परस्परमे नहीं दिखाई देनेका कारण थी, चन्दन-पङ्कके समान श्वेतवर्णवाली वह चाँदनी (प्रातःकालमे फीकी या विलीन होनेसे) चन्द्ररूप होरसेमें चली गयी ।

विमर्श—चकवा-चकईका और रातमें चाँदनीका एक रंग (श्वेत वर्ण) होनेसे मानो चाँदनी ही चक्रवाकदम्पतीका परस्परमें दिखाई तक नहीं पड़नेमें कारण (बाधक) बन गयी थी, प्रातःकाल एकदम फीकी पड़ने या विलीन होनेसे चन्दनके लेपके समान वह चाँदनी अब गोलाकार चन्द्ररूप होरसे (चन्दन रगड़नेका पत्थर) में विलीन हो (समा) गयी । रातमें चाँदनी सर्वत्र दीख पड़ती थी, किन्तु प्रातः वह केवल चन्द्रमें ही दीखती है । चन्दनलेपका होरसे में लग जाना उचित ही है ॥ ३८ ॥

सन्ध्यासमाप्तौ भगवान् स्थितोऽथ शक्रेण बद्धाञ्जलिना प्रणम्य ।
विज्ञापितः शेखरपारिजातद्विरेफनादद्विगुणैर्वचोभिः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—अथ सन्ध्यासमाप्तौ स्थितः भगवान् बद्धाञ्जलिना शक्रेण प्रणम्य शेखरपारिजातद्विरेफनादद्विगुणैः वचोभिः विज्ञापितः ।

सुधा—प्रातर्वर्णनं विधायाधुना ग्रन्थकारः शक्रस्य प्रार्थनां प्रस्तौति—सन्ध्येति । अथानन्तरम् सन्ध्यासमाप्तौ—सन्ध्यायाः सन्ध्योपासनकर्मणः समाप्तौ पूर्णतायां सन्ध्यावन्दनकार्ये पूर्ण इति भावः । स्थितोऽवस्थितः, भगवान्—भगाः षड्विधाः समग्रैश्वर्यादिरूपा सन्त्यस्येति भगवान् ब्रह्मेत्यर्थः ("ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां 'भग' इति स्मृतः ॥" इति), बद्धाञ्जलिना—बद्धोऽञ्जलिर्येन स बद्धाञ्जलिः सम्पुटितकरस्तेन विहितप्रणामाञ्जलिनेत्यर्थः ("अञ्जलिस्तु पुमान् हस्तसम्पुटे कुडवेऽपि च"

इति मेदिनी), शक्रेणेन्द्रेण, प्रणम्य नमस्कृत्य, धर्मशास्त्रे प्रणामावसरेऽञ्जलेर्विधानस्य प्रतिपादितत्वादिन्द्रस्य तथाविधाय समुचितमेव, शेखरपारिजातद्विरेफनादद्विगुणैः–शेखरे भूषणभूते शिखामाल्ये पारिजातेषु 'पारिजाता'ख्यदेवतरोः पुष्पेषु ये द्विरेफा भ्रमरास्तेषां नादेन गुञ्जनरवेण द्विगुणैर्द्विगुणितैः, शिखामालापारिजातकुसुमानां सौरभेनाकृष्टभ्रमराणां गुञ्जनध्वनिना द्विगुणितैरिति भावः ("अथापीडवतंसोत्तंसशेखराः" इति वैजयन्ती, "शिखास्वापीडशेखरौ" इति, "पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः। सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम्" इति, "मधुव्रतो मधुकरो मधुलिण्मधुपालिनः। द्विरेफपुष्पलिड्भृङ्गषट्पदभ्रमरालयः" इति च अमरः), वचोभिर्वचनैः, विज्ञापितः सूचितः प्राथित इति यावत्। पारिजातकुसुमसौरभाकृष्टभ्रमराणां गुञ्जनरवैरिन्द्रवचसामतिशयेन गम्भीर्यं ध्वन्यते, सन्ध्यासमासौ इत्यनेन विधातुः कार्यान्तरान्निश्चिन्ततया प्रार्थनावसरस्यौचित्यं सूच्यते। तदाह श्रीहर्षः–

"धरातुरासाहि मदर्थयाञ्चा कार्या न कार्यान्तरचुम्बिचित्ते।
तदर्थितस्यानवबोधनिद्रा विभर्त्यवज्ञाचरणस्य मुद्राम् ॥"

इति नैषधीयचरिते (३।९५)। अत्राद्येषु त्रिषु चरणेष्विन्द्रवज्रा चतुर्थपादे चोपेन्द्रवज्रेत्यतो 'बाला'भिधोपजातिः।

सुधासार—सन्ध्योपासनके पूरा होनेपर स्थित भगवान् ब्रह्मासे, हाथ जोड़कर प्रणाम करके इन्द्रने अपनी शिखामें स्थित पारिजातपुष्पमालाके खुशबूसे (ऊपर मँडराते हुए) भौंरोके गुञ्जारसे द्विगुणित (अत्यन्त गम्भीर) वचनोंसे निवेदन किया।

विमर्श—समस्त ऐश्वर्यादि छह 'भगों' से युक्त होनेसे ब्रह्माके इन्द्रके कार्य की सिद्धिमें समर्थ होना सूचित होता है, सन्ध्योपासन कार्यके पूरा करनेसे ब्रह्माके दूसरे कार्यसे निश्चिन्त होनेके कारण प्रार्थना करनेका सुअवसर सूचित होता है, अपनेसे बड़े लोगोंके प्रति कोई प्रार्थना करनेके पहले हाथ जोड़कर प्रणाम करनेके बाद प्रार्थना करनेका शास्त्रीय विधान होनेसे इन्द्रका शास्त्रानुसार आचरण करना सूचित होता है, इन सभी कारणोंसे इन्द्रकी प्रार्थनाका सफल होना अभिव्यक्त होता है ॥ ३९ ॥

आस्ते यदैरावणवारणस्य मदाम्बुसङ्गान्मिलिताऽलिमाला।
साम्राज्यलक्ष्मीजयतोरणाभे दन्तद्वये वन्दनमालिकेव ॥ ४० ॥

अन्वय—यत् ऐरावणवारणस्य मदाम्बुसङ्गात् मिलिता अलिमाला साम्राज्य-

लक्ष्मीजयतोरणाभे दन्तद्वये वन्दनमालिका इव आस्ते ('स सर्वोऽपि शिरोधृतानां त्वत्पादसेवारजसां प्रभावः' इत्यग्रिमेण त्रिचत्वारिंशत्तमपद्येन सम्बन्धो बोध्यः)।

सुधा—इत आरभ्य चतुर्भिः पद्यैः स्वकीयैश्वर्यं वर्णयन्निन्द्रो विधातारं स्तौति —आस्त इति। यत् ऐरावणवारणस्य—ऐरावणश्चासौ वारणः ऐरावणवारण-स्तस्य ऐरावतनाम्नो गजस्य ("ऐरावतोऽभ्रमातङ्गैरावणाभ्रमुवल्लभाः" इति, "दन्ती दन्तावली हस्ती द्विरदोऽनेकपो द्विपः। मतङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी। इभः स्तम्बेरमः पद्मी" इति च अमरः), [ईरया जलेन वणति इति विग्रहे 'वण'शब्दे इति धातोः "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" इति 'ल्युट्' प्रत्यये तस्यानादेशे 'इरावण' इत्यतः "प्रज्ञादिभ्यश्च" इत्यण्यादिवृद्धौ 'ऐरावण' इति, वारयति रिपूनिति नन्द्यादित्वाल्ल्युटि 'वारण' इति च], मदाम्बुसङ्गात्—मदाम्बुनो मदजलस्य सङ्गात् संसर्गात्, मिलिता समागता, अलिमाला भ्रमरश्रेणिः, साम्राज्यलक्ष्मीजयतोरणाभे—सम्यग्राजत इति सम्राट् तस्य भावः साम्राज्यं तस्य लक्ष्मीः श्रीस्तस्या जयतोरणं विजयसूचकवहिर्द्वारं तस्याभा इवाभा यस्य तत्साम्राज्यलक्ष्मीजयतोरणाभं तस्मिन् साम्राज्यश्रीविजयसूचकवहिर्द्वार-तुल्ये ("तोरणोऽस्त्री वहिर्द्वारम्" इत्यमरः), दन्तद्वये—द्वौ अवयवौ यस्य तद् द्वयं दन्तयोर्दशनयोर्द्वयं दशनयुगलं तस्मिन् ("दशमे शैलशृङ्गे च दन्तः स्यादौषधे स्त्रियाम्" इति त्रिकाण्डशेषः) 'द्वि' शब्दादवयवार्थे "संख्याया अवयवे तयप्" इति विहितस्य 'तयप्' प्रत्ययस्य "द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा" इत्ययजादेशे 'द्वयम्' इति], वन्दनमालिका तोरणस्तम्भद्वयेऽशोकादिपत्रैः पुष्पैर्वा सज्जिता माला ("नन्दिको तोरणस्तम्भौ शुककूटस्तयोः स्रजि। सैव वन्दनमालाऽपि" इति वैजयन्ती), इव तुल्यम्, आस्ते वर्तते, ('स सर्वोऽपि शिरोधृतानां त्वत्पादसेवारजसां प्रभावः' इत्यग्रिमेन त्रिचत्वारिंशत्पद्येन सम्बन्धः) यद्यपि "ऐरावतो राथन्तरिरभ्रनागोऽभ्रमुप्रियः। ऐरावणश्चतुर्दंष्ट्रः सूर्यभ्रातारिमर्दनः" इति वैजयन्त्युक्तेः, "ऐरावचोऽभ्रमातङ्गश्चतुर्दन्तोऽर्कसोदरः" इति हैमाद्युक्तेश्चैरावतस्य 'चत्वारो दन्ता' इति सिध्यति, तथापि तोरणस्तम्भापेक्षयाऽत्र 'दन्तद्वय' इत्युक्तम्। दन्तद्वयस्य जयतोरणेनालिमालायाश्च वन्दनमालिकया साम्यादुपमालङ्कारोऽत्र। द्वितीयपाद उपेन्द्रवज्रा शेषेषु त्रिषु पादेष्विन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'वाण्यु'पजातिः।

सुधासार—जो ऐरावत हाथीके मदजलके संसर्गसे (सौरभके कारण आकृष्ट होकर) आयी हुई भौरोंकी श्रेणी साम्राज्य-लक्ष्मीके विजयसूचक वहिर्द्वारके

समान (उक्त ऐरावतके) दोनो दाँतोंपर वन्दनमाला (अशोकादि के पत्तों या फूलोसे बनाये गये वन्दनवार) के समान (शोभती) है ('यह सभी मेरे शिरपर धारण की गयी, आपके चरणोंकी सेवासे प्राप्त, धूलियोंका प्रभाव है' ऐसा सम्बन्ध आगे वाले ४३ वें श्लोकसे जानना चाहिए)।

विमर्श—इन्द्रके वाहन ऐरावत हाथीके खुशबूदार मदजलसे आकृष्ट होकर ऊपर मँडराती हुई भ्रमर-श्रेणि (इन्द्रके) साम्राज्यलक्ष्मीके विजयसूचक बहिर्द्वार तुल्य दोनों दाँतोपर लटकाये गये 'वन्दनवार' (अशोकादिके पत्तों या अन्यान्य फूलोसे रची गयी माला) के समान शोभती है। वैजयन्ती तथा अभिधानचिन्तामणि आदिके वचनानुसार (१।२।१२ तथा २।९१) ऐरावतके चार दाँत हैं, तथापि यहाँ ग्रन्थकारने तोरणस्तम्भके दो खम्भे होनेसे 'दो दाँतो' का ही उल्लेख किया है ॥ ४० ॥

यदातपत्रं मम नेत्रपद्मसहस्रलोलालिकदम्बनीलम् ।
कुरङ्गनाभीतिलकप्रतिष्ठां मुखे समारोहति राजलक्ष्म्याः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—यत् मम नेत्रपद्मसहस्त्रलोलालिकदम्बनीलम् आतपत्रम् राजलक्ष्म्याः मुखे कुरङ्गनाभीतिलकप्रतिष्ठाम् समारोहति ('स' सर्वोऽपि शिरोधृतानां त्वत्पादसेवारजसां प्रभावः' इत्यग्रिमत्रिचत्वारिंशत्तमपद्येन सम्बन्धः ।

सुधा—यत्, ममेन्द्रस्य, नेत्रपद्मसहस्त्रलोलालिकदम्बनीलम्—नेत्राणि नयनान्येव पद्मानि कमलानीति नेत्रपद्मानि तेषां सहस्त्रं दशशती नेत्रपद्मसहस्त्रं लोलानां चञ्चलानामलीनां भ्रमराणां कदम्बं समूहस्तेन नीलं नीलवर्णं मदीयनयनकमलदशशत्यां चपलभ्रमरसमूहेन नीलवर्णं ("कदम्बं निकुरम्बे स्यान्नीपसर्षपयोः पुमान्" इति मेदिनी), आतपत्रम्—आतपाद् घर्मात्त्रायते रक्षतीत्यातपत्रं छत्रं (छत्रं स्यादातपत्रम्" इति वैजयन्ती) [अत्र "आतोऽनुपसर्गे कः" इति 'क' प्रत्ययः, "आतो लोप इटि च" इत्यालोपः], राजलक्ष्म्याः—राज्ञो नृपस्य लक्ष्मीः श्रीः राजलक्ष्मीस्तस्याः राजश्रियः, मुखे आनने ("आननं लपन मुखम्" इत्यमरः), कुरङ्गनाभीतिलकप्रतिष्ठाम्—कुरङ्गस्य महाहरिणस्य नाभी कुरङ्गनाभी कस्तूरी तस्यास्तिलकस्तस्य प्रतिष्ठां साम्यमिति कुरङ्गनाभीतिलकप्रतिष्ठाम् कस्तूरीतिलकसाम्यं ('नाभिर्नाभी प्रतारिका' इति वैजयन्त्युक्ते 'नाभी' शब्दो दीर्घान्तोऽपि वर्तते, "कुरङ्गो हरिणो महान्" इति वैजयन्ती, "अथ मृगनाभिजा । मृगनाभिर्मृगमदः कस्तूरी गन्धधूल्यपि" इत्यभि० चिन्ता०), समारोहति प्राप्नोति ('स सर्वोऽपि शिरोधृतानां त्वपादसेवारजसां प्रभावः' इत्य-

ग्रिमत्रिचत्वारिंशत्तमपद्येन सम्बन्धो बोध्यः)। इन्द्रस्य सहस्रं नेत्राणि कमलरूपाणि, तत्रत्याश्चञ्चलास्तारकाश्चञ्चलभ्रमररूपास्तेषां नीलिम्नेन्द्रस्य श्वेतातपत्रमपि नीलवर्णं जातमित्याशयः। यत्तु केश्चित् 'नेत्रपद्मसहस्रलोलालिकदम्बवन्नीलमि'ति विगृह्य प्रकृत्यैवातपत्त्रस्य नीलत्व स्वीक्रियते, तन्न समीचीनं प्रतिभाति, यतो राजचिह्नस्यातपत्त्रस्य शुभ्रताया एव महाकवि'कालिदासा'दिभिर्वर्णनात्, तथा च रघुवंशमहाकाव्ये कालिदासः—

जनस्य शुद्धान्तचराय शंसते कुमारजन्मामृतसम्मिताक्षरम्।
अदेयमासीत्त्रयमेव भूपतेः शशिप्रभं छत्त्रमुभे च चामरे॥ (३।१६) इति।

नैषधीयचरिते श्रीहर्षोऽप्याह—

"निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथां तथाऽऽद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि।
नलः सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः स राशिरासीन्महसां महोज्ज्वलः॥
(१।१) इति।

अतोऽत्र 'नेत्रपद्मसहस्रलोलालिकदम्बेन नीलम्' इत्येव विग्रहो मे समीचीनः प्रतिभाति। नेत्रेषु पद्मत्वारोपाद्रूपकम्, नीलालिकदम्बेनातपत्त्रस्य स्वशुभ्रत्वगुणत्यागपूर्वकालिनीलत्वगुणग्रहणात् तद्गुणालङ्कारः, नेत्रस्थ-कृष्णचञ्चलतारकाणां लोलालिकदम्बेनाध्यवसिततयाऽतिशयोक्तिरित्येतेषां त्रयाणां साङ्कर्यात्सङ्करः। तद्गुणस्यातिशयोक्तेश्च क्रमेण लक्षणम्—"तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः।" इति, "सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते" इति च विश्वनाथः। अत्रोपेन्द्रवज्रावृत्तम्।

सुधासार—जो मेरा हजार नेत्र-कमलोंमें चञ्चल भ्रमर-समूहसे नीलवर्ण (साम्राज्यचिह्न) छत्र राजलक्ष्मीके मुख (ललाट) पर कस्तूरीके तिलककी शोभा पाता है ('यह सभी शिरपर धारणकी हुई, आपके चरणोंकी सेवासे प्राप्त धूलियोंका प्रभाव है' ऐसा सम्बन्ध आगेवाले ४३ वें श्लोकसे जानना चाहिए।)

विमर्श—शास्त्रोमें इन्द्रके नेत्रोंकी संख्या एक सहस्र मानी गयी है, वे ही मानो सहस्र कमल है, उनमें चञ्चल (तारा अर्थात् आँखोकी पुतलीरूप) भौरोंके समूहसे नीलवर्ण हुआ (राजचिह्न शुभ्र) छत्र ऐसा मालूम होता है कि वह इन्द्रकी राजलक्ष्मीके ललाटपर लगाया हुआ कस्तूरीका नीला तिलक (टीका) हो। इन्द्रका साम्राज्यचिह्न छत्र प्रकृत्या तो श्वेत है, किन्तु कमल-समूहमें चञ्चल भौरोंसे ही नीला होकर राजलक्ष्मीके ललाटपर लगाये हुए कस्तूरी-तिलक-जैसा

शोभता है, ऐसा ही ग्रन्थकारका अभिप्राय है। अतः उक्तरूप भ्रमरोंके समान नीला छत्र इन्द्रकी राजलक्ष्मीके ललाटपर लगाये हुए कस्तूरी-तिलक-जैसा शोभता है यह अर्थ ठीक नही प्रतीत होता, क्योंकि कालिदास और श्रीहर्ष आदि महाकवियोने राज-चिह्न छत्रका श्वेत ही वर्णन किया है ॥ ४१ ॥

यन्नन्दने कल्पमहीरुहाणां छायासु विश्रम्य रतिश्रमेण।
गायन्ति मे शौर्यरसोर्जितानि गीर्वाणसारङ्गदृशो यशांसि ॥ ४२ ॥

अन्वयः—यत् गीर्वाणसारङ्गदृशः नन्दने कल्पमहीरुहाणाम् छायासु रतिश्रमेण विश्रम्य मे शौर्यरसोर्जितानि यशांसि गायन्ति ('स सर्वोऽपि शिरोधृतानाम् त्वत्पादसेवारजसाम् प्रभावः' इत्यग्रिमपद्येन सम्बन्धो ज्ञेयः)।

सुधा—यत्, गीर्वाणसारङ्गदृशः-सारङ्गस्य मृगस्य दृशाविव नेत्रे इव दृशौ यासां ताः सारङ्गदृशो मृगनयन्य', गीर्वाणानां देवानां सारङ्गदृश इति गीर्वाणसारङ्गदृशो देवाङ्गनाः, ("अमरा निर्जरा देवाः । वर्हिर्मुखाः क्रतुभुजो गीर्वाणा दानवारयः" इति, "चातके हरिणे पुंसि सारङ्गी धवले त्रिषु" इति च अमरः), नन्दने एतन्नामके इन्द्रोद्याने ("नन्दनं वासवोद्याने नन्दनो हर्षके सुते" इति मेदिनी), कल्पमहीरुहाणां कल्पवृक्षाणां ('वृक्षो महीरुहः शाखी विटपः पादपस्तरुः । अनोकहः कुटः शालः पलाशी द्रुद्रुमागमाः" इत्यमरः), छायास्वनातपेषु, रतिश्रमेण सुरतजन्यपरिश्रमेण, विश्रम्य विश्रामं कृत्वा, मे मम इन्द्रस्येत्यर्थः [षष्ठ्येकवचनान्तास्मच्छब्दस्य "तेमयावेकवचनस्य" इति 'मे' इत्यादेशः], शौर्यरसोर्जितानि—शूरस्य भावः कर्म वेति शौर्य वीरत्वम् तदेव रसः शौर्यरसो वीररसस्तेनोर्जितानि वलवन्ति उत्कृष्टानीति यावत् ("गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च" इति 'ष्यञ्' प्रत्यये ञित्त्वादादिवृद्धौ 'शौर्य'मिति], यशांसि कीर्तीः ("यशः कीर्तिः समज्या च" इत्यमरः), गायन्ति उच्चस्वरेण गानं कुर्वन्ति ('स सर्वोऽपि शिरोधृतानां त्वत्पादसेवारजसां प्रभावः' इत्यग्रिमश्लोकेन सम्बन्धः) गीर्वाणसारङ्गदृश इत्यत्रोपमालङ्कारः । इन्द्रवज्राच्छन्दः ।

सुधासारः—जो देवताओंकी मृगके नेत्रोंके समान (चपल) नेत्रोंवाली रमणियाँ 'नन्दन'वनमें कल्पवृक्षोंकी छायामें सम्भोगजन्य थकावटसे विश्रामकर मेरे वीर-रससे उत्कृष्ट यशोंको गाती है ('वह सभी शिरपर धारण की हुई, आपकी चरणसेवाकी धूलोका प्रभाव है' ऐसा सम्वन्ध अगले श्लोकसे जानना चाहिए)।

विमर्श—थकावटके वाद उद्यानके पेड़ोंकी छायामें विश्राम कर मनोरञ्जन

एवं स्वामीके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करनेके वास्ते स्वामीके यशोंको उच्च स्वरसे गाना देवाङ्गनाओंको उचित ही है ॥ ४२ ॥

किं वा बहूक्तैः ? पुरुहूत एष पात्रं महिम्नो यदनङ्कुशस्य ।
स्वामिन् ! स सर्वोऽपि शिरोधृतानां त्वत्पादसेवारजसां प्रभावः ॥४३॥

अन्वयः–वा (हे) स्वामिन् ! बहूक्तैः किम् (अस्ति) ?, यद् एषः पुरुहूतः अनङ्कुशस्य महिम्नः पात्रम् (वर्तते), सः सर्वः अपि शिरोधृतानाम् त्वत्पाद-सेवारजसाम् प्रभावः (अस्ति) ।

सुधा––वाऽथवा ("वा स्याद्विकल्पोपमयोर्वितर्के पादपूरणे । समुच्चये च विस्रम्भे नानार्थातीतयोरपि" इति मेदिनी), स्वामिन् हे प्रभो ! ("स्वामी त्वीश्वरः पतिरीशिता । अधिभूर्नायको नेता प्रभुः परिवृढोऽधिपः" इत्यमरः) [स्वमस्यास्तीति विग्रहे "स्वामिन्नैश्वर्ये" इति 'स्वामी'ति पदम्], बहूक्तैर्विशेष-कथनैः, किं किम्प्रयोजनम् ? न किमपि प्रयोजनमित्याशयः, अस्तीति शेषः । यत् यतः कारणात् ("यद्धेतौ प्रगते त्रिषु" इति वैजयन्ती), एषोऽयम्, पुरुहूतः–पुरु प्रचुरं हूतमाह्वानं कर्तृत्वस्येति, पुरूणि प्रचुराणि हूतानि नामान्यस्येति वा पुरुहूतः पुरन्दरः ("इन्द्रो मरुत्वान् । पुरुहूतः पुरन्दरः " इत्यमरः), अनङ्कुशस्य––नास्त्यङ्कुशो यस्मिन् सोऽनङ्कुशस्तस्याङ्कुशरहितस्य स्वाधीन-स्येति भावः, महिम्नः ऐश्वर्यविशेषस्य ("लघिमा वशितेशित्व प्राकाम्य महिमा-ऽणिमा । यत्र कामावशायित्वं प्राप्तिरैश्वर्यमष्टधा" इत्यभि० चिन्ता०), पात्र योग्यः ("योग्यभाजनयोः पात्रम्" इत्यमरः), वर्तत इति शेषः, स पूर्वोक्तः, सर्वोऽपि समस्तोऽपि, शिरोधृतानाम्––शिरसि मस्तके धृतानां स्थापितानाम्, त्वत्पादसेवारजसाम्––त्वत्र भवतः पादयोश्चरणयोः सेवाया अर्चनाया रजांसि धूलय इति त्वत्पादसेवारजांसि तेषां श्रीमच्चरणार्चाधूलीनामित्याशयः, प्रभावः प्रतापः [भवत्यनेनेति भावः "श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे" इति 'घञ्' प्रत्यय आदि वृद्धिः, प्रकृष्टो भावः 'प्रभाव' इति, यद्वा––प्रभवनं 'प्रभावः' 'भावे' इति 'घञ्' प्रत्ययः], अस्तीति शेषः । तव चरणसेवाप्रसादेनैवाहं निरङ्कुशं शासनं करोमीति भावः । "आस्ते यदैरावण" (श्लो० ४०) इति आरभ्य श्लोक-चतुष्टयस्यैकत्रान्वयेनात्र 'कलापकम्' । तदुक्तं विश्वनाथेन––

"छन्दोबद्धपदं पद्यं तेनैकेन च मुक्तकम् ।
द्वाभ्यां तु युग्मकं सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते ।
कलापकं चतुर्भिः स्यात् पञ्चभिः कुलकं स्मृतम् ॥" इति,

क्वचित्तु-द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् ।
कलापकं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम् ।।" इत्युक्तम् । 'कलापक'मेव कश्मीरे 'चक्कलकमि'त्युच्यते इति विदुषां मतम् । अत्रेन्द्रवज्रावृत्तम् ।

सुधासार—अथवा हे प्रभो ! बहुत 'कहनेसे क्या ?' (प्रयोजन है अर्थात् अधिक कहना व्यर्थ है), क्योंकि 'यह इन्द्र निरङ्कुश महिमाके योग्य है' वह सभी (मेरे) शिरपर धारण की गयी, आपकी चरण-सेवासे प्राप्त धूलिका प्रभाव है ।

विमर्श—आपकी चरण-सेवाके प्रभावसे ही मेरा ऐश्वर्य निरङ्कुश (निर्बाध) चल रहा है । अतः अधिक कुछ कहना व्यर्थ है । गत ४० वें श्लोक से इस श्लोकतक--कुल चार श्लोकोंका एक साथ अन्वय होनेसे यहाँ 'कलापक' है, इसे कश्मीरमें 'चक्कलक' भी कहते है ॥ ४३ ॥

निवेदितश्चारजनेन नाथ ! तथा क्षितौ सम्प्रति विप्लवो मे ।
मन्ये तथा यज्ञविभागभोगः स्मर्तव्यतामेष्यति निर्जराणाम् ॥ ४४ ॥

अन्वयः—(हे) नाथ ! चारजनेन साम्प्रतम् मे तथा विप्लवः निवेदितः, यथा निर्जराणाम् यज्ञविभागभोगः क्षितौ स्मर्तव्यताम् एष्यति ।

सुधा--पूर्वं चतुर्भिः पद्यैर्विधातारं स्तुत्वा सम्प्रतीन्द्रो यागादिकर्मण्यन्तरायं सूचयति--निवेदितेति । (हे) नाथ प्रभो ! ("नाथस्त्विन्द्रे प्रभावपि' इति वैजयन्ती), चारजनेन—चरतीति चरः चर एव चारः स चासौ जनश्चेति चारजनस्तेन गुप्तचरेणेत्यर्थः ['चर' धातोः पचाद्यचि 'चर.' ततः "प्रज्ञादिभ्यश्च" इत्यपि णित्वादादिवृद्धौ 'चार' इति], साम्प्रतमधुना ("एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा" इत्यमरः) ['सम्-प्रति' इत्युपसर्गयोः समाहारद्वन्द्वे "प्रज्ञादिभ्यश्चे"त्यत्र गणपाठान्मान्तत्वम्], मे मह्यम् [चतुर्थ्यन्तस्य 'अस्म'च्छब्दस्य "तेमयावेकवचनस्य" इति 'मे' इत्यादेशः], तथा तेन प्रकारेण ['त'च्छब्दात् "प्रकारवचने थाल्" इति 'थाल्' प्रत्यये "प्राग्दिशो विभक्तिः" विभक्तिसंज्ञायां "त्यदादीनामः" इत्यकारः], विप्लवो डमरो धर्मविरुद्धयुद्धलुण्ठनाद्युपद्रव इत्यर्थः । ("डिम्बे डमरविप्लवौ" इत्यमरः), निवेदितः कथितः, यथा येन प्रकारेण, निर्जराणां देवानाम् ('अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः" इत्यमरः) [निर्गता जरा येभ्यस्ते, जराया निष्क्रान्ता इति वा 'निर्जराः' इति], यज्ञविभागभोगः--यज्ञेषु यागेषु विभागो विभजनं तस्य भोगो ग्रहणमुपभोगो वा यज्ञेषु विभज्य दत्तस्य स्व-स्वांशस्योपभोग इति भावः, क्षितौ भूमौ,

स्मर्तव्यताम्—स्मर्तुं योग्यं स्मर्तव्यं तस्य भावस्तां रमणीयतामिति यावत्, ['स्मृत' धातोः "तव्यत्तव्यानीयरः" इति 'तव्य' प्रत्यये "तस्य भावस्त्वतलौ" इति 'तल्' प्रत्यये 'तल्' प्रत्ययान्तस्य स्त्रीत्वात् "अजाद्यतष्टाप्" इति 'टाप्' प्रत्ययः], एष्यति गमिष्यति, (इत्यहं) मन्ये जाने। भविष्यत्काले भूलोके विप्लवेन यज्ञादिनाशे देवांशप्राप्तिर्नामशेषा भविष्यतीति भावः। पूर्वोत्तरार्द्धयोः क्रमेणोपेन्द्रवज्रेन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'माला'ख्योपजातिः।

सुधासार—हे प्रभो ! गुप्तचरोंने इस समय मुझसे उस प्रकार विप्लव (लूट-पाट, धर्मविरुद्धकार्यो) को निवेदन किया है, जिस प्रकार 'देवताओंका' यज्ञमें विभक्तकर दिये गये (अपने-अपने) हिस्सोंका भोग करना पृथ्वीपर स्मरणीय (लुप्त, नामशेष) हो जायेगा (ऐसा मैं) मानता हूँ।

विमर्श—'भूलोकमें' असुरादिका उपद्रव बढनेसे यज्ञादिका अन्त हो जायेगा, जिससे देवता लोगोको यज्ञ-भाग नही मिल सकेगा, ऐसा मै समझता हूँ ॥४४॥

धर्मद्रुहामत्र निवारणाय कार्यस्त्वया कश्चिदवार्यवीर्यः।
रवेरिवांशुप्रसरेण यस्य वंशेन सुस्थाः ककुभः क्रियन्ते ॥ ४५ ॥

अन्वयः—अत्र धर्मद्रुहाम् निवारणाय त्वया अवार्यवीर्यः कश्चित् कार्यः, रवेः अंशुप्रसरेण इव यस्य वंशेन ककुभः स्वस्थाः क्रियन्ते।

सुधा—सम्प्रति धर्मरक्षणोपायार्थं निवेदयति—धर्मेति। अत्र भूमौ भूलोक इत्यर्थः, धर्मद्रुहाम्-धर्मं द्रुह्यन्तीति धर्मद्रुहस्तेषां धर्मविरोधिनाम्, निवारणाय निषेधाय, त्वया भवता ब्रह्मणेत्यर्थः, अवार्यवीर्यः—वारयितुं योग्यं वार्यं न वार्यमवार्यमनिवारणीयं तादृशं वीर्यं पराक्रमो यस्य सोऽनिवारणीयपराक्रमः ['वृ' धातोः "ऋहलोर्ण्यत्" इति 'ण्यत्' प्रत्यय आदिवृद्धि-रपरत्वयोः 'वार्य'मिति], कश्चित्कश्चन शूरः पुरुष इत्याशयः, कार्यः कर्तव्यः ['कृञ्' धातोः ण्यत्प्रत्यय आदि-वृद्धि-रपरत्वे च 'कार्य' इति], रवेः सूर्यस्य, अंशुप्रसरेण—अंशूनां किरणानां प्रसरेण विसर्पणेन [प्रोपसर्गात् 'सृ' धातोर्बाहुलकात् 'अप्' प्रत्ययः] इव सदृशम्, यस्य त्वया कृतस्यावार्यवीर्यस्य शूरस्य, वंशेन कुलेन ("वंशः पुंसि कुले वेणौ पृष्ठावयववर्गयोः" इति मेदिनी), ककुभो दिशः ("दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः" इत्यमरः), सुस्थाः स्वस्था उपद्रवहीना इत्यर्थः, क्रियन्ते विधीयन्ते। जगत्स्रष्ट्रा भवता तादृशोऽजय्यः शूरवीरः स्रष्टव्यः, सूर्यांशुविस्तारेणेव यस्य कुलेन (कुले जातैः पुरुषैः), दिशः सुप्रसन्ना भवेयुरिति भावः।

सूर्ये ब्रह्मोत्पादितपुरुषस्य तद्वंशे चांशुप्रसरस्य साम्यादत्रोपमालङ्कारः। तृतीये पाद उपेन्द्रवज्रा शेषेषु त्रिषु पादेष्विन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'शाला'ख्योपजातिः।

सुधासार—पृथ्वीपर धर्मद्रोहियोंको रोकनेके वास्ते आप अप्रतिहत पराक्रम वाले किसी (शूरवीर पुरुष) को उत्पन्न कीजिये, सूर्यकी किरणोंके फैलावके समान जिसके कुलसे दिशाएँ स्वस्थ (प्रकाशमान, पक्षान्तरमें—सुखी) हो जायँ।

विमर्श—ब्रह्मा जगत्के स्रष्टा हैं, अत एव उनसे इन्द्रका धर्मद्रोहियोंके नाशक शूरवीर पुरुषकी सृष्टि करनेकी प्रार्थना करना सर्वतोभावेन समुचित है॥ ४५॥

पुरन्दरेण प्रतिपाद्यमानमेवं समाकर्ण्य वचो विरिञ्चिः।
सन्ध्याम्बुपूर्णे चुलुके मुमोच ध्यानानुविद्धानि विलोचनानि॥ ४६॥

अन्वयः—विरिञ्चिः पुरन्दरेण एवम् प्रतिपाद्यमानम् वचः समाकर्ण्य ध्यानानुविद्धानि विलोचनानि सन्ध्याम्बुपूर्णे चुलुके मुमोच।

सुधा—विरिञ्चिर्ब्रह्मा ("धाताऽब्जयोनिर्द्रुहिणो विरिञ्चिः कमलासनः" इत्यमरः) [विरचयतीति विग्रहे 'रच' प्रतियत्ने इति धातोः "सत्यापपाश •" इति स्वार्थे 'णिच्' प्रत्यये "अच इः" इतीप्रत्यये "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" इति निपातनादिकादेशो नुमागमश्च], पुरन्दरेण—पुरो दारयतीति पुरन्दर इन्द्रस्तेन। "पूःसर्वयोर्दारिसहोः" इति स्वार्थे ण्यन्ताद् 'दृ' विदारणे इति धातोः 'खच्' प्रत्यये णेर्लोपे "खचि ह्रस्वः" इत्युपधाया ह्रस्वे "सुपो धातुप्रातिपदिकयोः" इति सुपो लुकि "वाचयमपुरन्दरौ च" इति निपातनादमन्तत्वे 'पुरन्दर' इति], एवमित्थमनेन प्रकारेणेति यावत् ("एवं प्रकारोपमयोरङ्गीकारेऽवधारणे" इति धरणिः, "इवेत्थमर्थयोरेवम्" इत्यमरश्च), प्रतिपाद्यमानं निवेद्यमानम् [प्रतिपाद्यत इति 'प्रत्यु'पसर्गात् 'पद'धातोः कर्मण्यात्मनेपदे "लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे" इति 'शानच्' प्रत्यये "आने मुक्" इति मुगागमः],वचो वचनम्, समाकर्ण्य श्रुत्वा, ध्यानानुविद्धानि—ध्यानेऽनुविद्धानि ध्यानमग्नानीति भावः, विलोचनानि नयनानि ब्रह्मणश्चतुर्मुखत्वादत्र बहुवचनप्रयोगः ("लोचनं नयनं नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी। दृग्दृष्टी च" इत्यमरः) [विलोच्यत एभिरिति विग्रहे 'वि' पूर्वकात् लोचृ' दर्शने इति धातोर्नन्द्यादित्वाल्ल्युट्प्रत्यये तस्य "युवोरनाकौ" इत्यनादेशः], सन्ध्याम्बुपूर्णे—सन्ध्याम्बुना सन्ध्योपासनजले पूर्णे पूरिते, चुलुके गण्डूषे ("प्रसृते तु द्रवाधारे गण्डूषश्चुलु-

कश्चुलुः" इति वैजयन्ती), मुमोच मुक्तवान् सन्ध्योपासनजलपूर्णमञ्जलिं दृष्टवानित्यर्थः । प्रथमपाद उपेन्द्रवज्रा शेषे पादत्रय इन्द्रवज्राऽतोऽत्र 'कीर्त्या'-ख्योपजातिर्वृत्तम् ।

सुधासार—ब्रह्माने इन्द्रद्वारा कहे गये वचनको सुनकर ध्यानमग्न नेत्रोंको सन्ध्योपासनके जलसे भरे हुए चुल्लूमें छोड़ा अर्थात् सन्ध्याजलपूर्ण चुल्लूको देखा ।

विमर्श—वर्तमानकालिक 'प्रतिपाद्यमानम्' पदका प्रयोगकर ग्रन्थकारने यह सूचित किया है कि इन्द्रका वचन समाप्त होते ही तत्काल ब्रह्माने ध्यान तोड़कर जलपूर्ण चुल्लूको नेत्रोंसे देखा, अत एव इन्द्रकी मनःकामना शीघ्र पूरी होगी । ब्रह्माके चतुर्मुख होनेसे उनके आठ नेत्र है, अतः 'विलोचनानि' बहुवचनमें प्रयुक्त हुआ है ॥ ४६ ॥

प्रकोष्ठपृष्ठस्फुरदिन्द्रनीलरत्नावलीकङ्कणडम्बरेण ।
बन्धाय धर्मप्रतिबन्धकानां वहन्सहोत्थानिव नागपाशान् ॥ ४७ ॥

अन्वयः—प्रकोष्ठपृष्ठस्फुरदिन्द्रनीलरत्नावलीकङ्कणडम्बरेण धर्मप्रतिबन्धकानाम् बन्धाय सहोत्थान् नागपाशान् वहन् इव ('सुभटो विधातुश्चुलुकादाविरासीत्' इत्यग्रिम-पञ्चपञ्चाशत्तमेन पद्येनान्वयः) ।

सुधा—अथेदानीं ब्रह्मणश्चुलुकादाविर्भूतं चालुक्यकुलस्याद्यं पुरुषं कुलकेन वर्णयितुमुपक्रमते—**प्रकोष्ठेति** । प्रकोष्ठपीठस्फुरदिन्द्रनीलरत्नावलीकङ्कणडम्बरेण—प्रकोष्ठस्य मणिबन्धकूर्परयोर्मध्यभागस्य पृष्ठे पश्चाद्भागे स्फुरतां स्फुरणं कुर्वतामिन्द्रनीलरत्नानां महानीलमणीनामावलीति प्रकोष्ठपृष्ठस्फुरदिन्द्रनीलरत्नावली तया युक्तस्य कङ्कणस्य कण्टकस्य प्रकोष्ठस्थभूषणस्येत्यर्थः । डम्बरेण छलेन मणिबन्धकूर्परयोर्मध्यभागस्थेन्द्रनीलमणिवृन्दघटितकङ्कणस्य विलासेनेत्यर्थः ("प्रकोष्ठो मणिबन्धस्य कूर्परस्यान्तरेऽपि च । भूपकक्षान्तरेऽपि स्यात्" इति मेदिनी, "इन्द्रनीलं महानीलम्" इति वैजयन्ती, "वीथ्याली पङ्क्तिरावली" इति त्रिकाण्डशेषः), धर्मप्रतिबन्धकानाम्—धर्मं प्रतिबध्नन्तीति धर्मप्रतिबन्धका धर्मविरोधिनस्तेषाम्, बन्धाय बन्धनाय, सहोत्थितान् सहजातान्, नागपाशान्—नागाः सर्पा एव पाशा बन्धनरज्जवस्तान् मुक्तामुक्त शस्त्रविशेषानिति यावत् ("शक्त्याद्यस्त्रं पाणिमुक्तं यन्त्रमुक्तं शरादिकम् । मुक्तामुक्तं वृतं मुक्तं नागपाशादिदीर्घकम् । अमुक्तं छुरिकादि स्यादितिशस्त्रं चतुर्विधम्" इति वैजयन्ती), वहन्निव धारयन्निव ('सुभटो विधातुश्चुलुकादाविरासीत्' इत्यग्रिमेण पञ्च-

पञ्चाशत्तमपद्येनान्वयः), इन्द्रनीलरत्नावलीकङ्कणे नागपाशानां सम्भावनयोत्प्रेक्षालङ्कारः, सा च 'डम्बरेणे'त्यपह्नवमूलतया सापह्नवोत्प्रेक्षा। आद्यन्तपादयोरुपेन्द्रवज्रा मध्यस्थपादयोश्चेन्द्रवज्रातोऽत्र 'आर्द्रा'नाम्न्युपजातिः।

सुधासार—कलाईकी पीठ (पिछला भाग) पर चमकते हुए नीलमणियोसे जड़े हुए कङ्कणके व्याजसे घर्मविरोधियोंको बाँधनेके लिए मानो सहजात (अकृत्रिम) नागपाशोको धारण करता हुआ ('शूरवीर ब्रह्माके चुल्लूसे प्रकट हुआ' ऐसा सम्बन्ध आगे वाले ५५ वें श्लोकसे जानना चाहिए)।

विमर्श--कलाईपर पहने गये कङ्कणमें जड़े हुए नीलमणियोंकी फैलती हुई प्रभा ऐसी मालूम होती थी कि ब्रह्माके चुल्लूसे प्रकट शूरवीर मानो घर्मप्रतिवन्धकोंको बाँधनेके लिए सहजात नागपाशोंको धारण कर रहा हो। यहाँपर 'आविरासीत्' अर्थात् 'आविर्भूत हुआ' क्रियापदसे चालुक्यवंशके आदिपुरुषका भगवान्के समान अवतार लेना है। अत एव परमशक्तिशाली होना सूचित होता है ॥ ४७ ॥

उत्तर्जनीकेन मुहुः करेण कृताकृतावेक्षणवद्धलक्षः।
रुषा निषेधन्निव चेष्टितानि दिक्पालवर्गस्य निरर्गलानि ॥ ४८ ॥

अन्वय---कृताकृतावेक्षणवद्धलक्षः रुषा उत्तर्जनीकेन करेण दिक्पालवर्गस्य निरर्गलानि चेष्टितानि मुहुः निषेधन् इव ('सुभटो विधातुश्चुलूकादाविरासीत्' इत्यग्रिमेण पञ्चपञ्चाशत्तमश्लोकेनान्वयः)।

सुधा—कृताकृतावेक्षणवद्धलक्षः—कृतञ्चाकृतञ्चेति कृताकृते द्वन्द्वसमासः विहिताविहिते इत्यर्थस्तयोरवेक्षणे निरीक्षणे वद्धं विहितं लक्षं लक्ष्यं येन सः विहिताविहितकार्यनिरीक्षणे दत्तदृष्टिः ("लक्षं तु लक्षणं लक्ष्यमभिसन्धानमासिकम्" इति वैजयन्ती), रुषा क्रोधेन ("क्रोधः कोपोऽमर्षरोषौ रुषा रुट्क्रुत्क्रुधः स्त्रियः" इति वैजयन्ती), उत्तर्जनीकेन—उदूर्ध्वं गता तर्जनी प्रदेशिनी यस्य स तेन उपरिगतप्रदेशिन्यङ्गुलिना ("तर्जनी स्यात् प्रदेशिनी" इत्यमरः), [तर्ज्यतेऽनयेति विग्रहे 'तर्ज' भर्त्सने इति घातोः 'करणाधिकरयोश्च" इति करणे 'ल्युट्' प्रत्यये तस्यानादेशे टित्त्वात् 'ङीप्' प्रत्यये 'तर्जनी'ति, ऊर्ध्वा तर्जनी यस्येति "अनेकमन्यपदार्थे" इति वहुव्रीहिसमासे सुपो लुकि "नद्यृतश्च" इति 'कप्' प्रत्यये "केऽणः" इति प्राप्तस्य ह्रस्वस्य "न कपि" इति निषेध 'उत्तर्जनीक' इति], करेण हस्तेन, दिक्पालवर्गस्य दिशां पाला रक्षका इति दिक्पालाः पूर्वादिदिग्रक्षका इन्द्रादयस्तेषां वर्गस्य समूहस्य ("वर्गस्तु सदृशां गणे" इति वैजयन्ती), निरर्ग-

लानि—अर्गलाया निर्गतानि निर्गलानि निरङ्कुशानि उच्छृङ्खलानीति भावः ("अवाधोच्छृङ्खलोद्दामान्ययन्त्रितमनर्गलम् । निरङ्कुशे" इत्यभि० चिन्ता०) ["निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या" इति पञ्चमीतत्पुरुषः], चेष्टितानि चेष्टाः कार्याणीत्यर्थः, मुहुः पौनःपुन्येन, निषेधन् निवारयन्, इव ("सुभटो विधातुश्चुलुकादाविरासीत्" इत्यग्रिमेण पञ्चपञ्चाशत्तमेन श्लोकेनान्वयः)। उत्तर्जनीके करे दिक्पालवर्गचेष्टितकर्मकक्रियायाः समुत्प्रेक्षणादत्र क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः। आद्यन्तचरणयोरिन्द्रवज्रा मध्यस्थचरणयोरुपेन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'माया'ख्योपजातिः।

सुधासार—किये और नहीं किये गये कामोंको लक्ष्य किया हुआ, मानो क्रोधसे ऊपर की हुई तर्जनी अङ्गुलिवाले हाथसे (इन्द्रादि) दिक्पालोंकी उच्छृङ्खल चेष्टाओंको रोकता हुआ ('शूरवीर ब्रह्माके चुल्लूसे प्रकट हुआ' ऐसा सम्बन्ध आगे वाले ५५ वें श्लोकसे जानना चाहिए)।

विमर्श—ब्रह्माके चुल्लूसे प्रकट हुआ वह शूरवीर क्रोधसे मानो तर्जनी अंगुलीको ऊपर किये हाथसे इन्द्रादि दिक्पालोंके भी निरङ्कुश कार्य-कलापको रोकता हुआ-सा जान पड़ता था, अत एव सूचित होता है कि जो इन्द्रादिकी उच्छृङ्खल प्रवृत्तियोंको रोकनेमें समर्थ है, उसे अन्यसाधारण असुरादिकी उच्छृङ्खल प्रवृत्तियोंको रोकना एक साधारणतम कार्य है। किसीकी भर्त्सना करनेके लिए तर्जनी अङ्गुलि उठाकर निषेध करना मनुष्यमात्रका स्वभाव होता है।

भोगाय वैपुल्यविशेषभाजं कर्तुं धरित्रीं निजवंशजानाम्।
केयूरसङ्क्रान्तविमानभङ्ग्या भुजोद्धृतक्ष्माभृदवेक्ष्यमाणः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—निजवंशजानाम् भोगाय वैपुल्यविशेषभाजम् धरित्रीम् कर्तुम् केयूरसङ्क्रान्तविमानभङ्ग्या भुजोद्धृतक्ष्माभृत् (जनैः) अवेक्ष्यमाणः ('सुभटो विधातुश्चुलुकात् आविरासीत्' इत्यग्रिमेण पञ्चपञ्चाशत्तमश्लोकेनान्वयः)।

सुधा—निजवंशजानाम्—निजे स्वकीये वंशे कुले जाता उत्पन्ना इति निजवंशजास्तेषां स्वकुलोत्पन्नानां चालुक्यानामिति भावः ("वंशः पुंसि कुले वेणौ पृष्ठावयववर्गयोः।" इति मेदिनी) ['वंश' शब्दोपपदात् 'जनी प्रादुर्भाव इति धातोः 'सप्तम्यां जनेर्डः' इति 'ड' प्रत्यये डित्वाद्धातोष्टेर्लोपे 'वंशजा' इति], भोगाय सुखाय पालनाय वा ("भोगः सुखे धने चाहेः शरीरफणयोर्मतः। पालनेऽभ्यवहारे च योषिदादिभृतावपि" इति विश्वः), वैपुल्यविशेषभाजम्—विपुलस्य भावो वैपुल्यं विशालता तस्य विशेषमाधिक्यं भजतीति वैपुल्यविशेषभाक् तामतिशयेन विपुलाम्, धरित्रीं पृथ्वीं ("भूर्भूमिश्चलाऽनन्ता रसा

विश्वम्भरा स्थिरा। धरा धारित्री धरणी क्षोणी ज्या काश्यपी क्षितिः। सर्वसहा वसुमती वसुधोर्वी वसुन्धरा। गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी क्ष्माऽवनिर्मेदिनी मही" इत्यमरः), कर्तुं विधातुम्, केयूरसङ्क्रान्तविमानभङ्ग्या-केयूरयोरङ्गदयोः सङ्क्रान्तानां प्रतिफलितानां विमानानां देवयानानां सप्तभूमिकगृहाणां वा भङ्ग्या वैदग्ध्या अङ्गदप्रतिफलितव्योमयान (सप्तभूमिकगृह) चातुर्येण ("केयूरमङ्गदं भूषा दोर्मूले" इति वैजयन्ती, "विमानोऽस्त्री देवयाने सप्तभूमिकसद्मनि" इति नानार्थरत्नमाला, "वैदग्धी भङ्गिश्चेभनिमीलिका" इति त्रिकाण्डशेषः), भुजोद्धृतक्ष्माभृत्-भुजाभ्यां बाहुभ्यामुद्धृता उपरि धृता उन्मूलिता वा क्ष्माभृतः पर्वता राजानो वा येन स बाहुबलोपरिधृतपर्वतो बाहुबलोन्मूलितभूपालो [क्ष्मां पृथ्वीं बिभ्रतीति क्ष्माभृतः "क्विप् च" इति 'क्विप्' प्रत्ययः], (जनैः) अवेक्ष्यमाणोऽवलोक्यमानः [अवेक्ष्यत इति 'अवो'पसर्गात् 'ईक्ष' धातोः कर्मणि लटि "लटः शतृशानचाव०···· · " इति 'शानच्' प्रत्यये "आने मुक्" इति मुगागमः], ('सुभटो विधातुश्चुलुकादाविरासीत्' इत्यग्रिमेण पञ्चपञ्चाशत्तमेन श्लोकेन सम्बन्धः)। 'केयूरसङ्क्रान्तविमानभङ्ग्या' 'भुजोद्धृतक्ष्माभृत्' इत्यनयोः श्लेषालङ्कारः, एते 'विमाना' न सन्ति, अपि तु 'क्ष्माभृतः' सन्तीति, इति 'भङ्गि'शब्देन प्रतिपादिततयाऽऽर्थी अपह्नुतिस्तन्मूला क्ष्माभृतामुत्प्रेक्षेति "क्षीरनीरन्यायेन सङ्करः" इति लक्षणादत्र सङ्करः। प्रथमेषु पादेष्विन्द्रवज्राऽन्तिमपादे चोपेन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'बाला'ख्योपजातिः।

सुधासार—अपने कुलमें उत्पन्न होनेवालों (चालुक्यवंशीय राजाओं) के सुखके वास्ते पृथ्वीको अत्यन्त विशाल करनेके लिए केयूरों (दोनों बाहुमूलोंपर धारण किये हुए 'विजायठ' नामके भूषणो) में प्रतिबिम्बत देवयानों (अथवा—सतमहले विशाल भवनों) के चातुर्यसे ऊपर धारण किये गये पर्वतोंवाला (अथवा –समूल उखाड़कर नष्ट किय गये राजाओंवाला लोगोंसे) दिखाई पड़ता हुआ ('शूरवीर ब्रह्माके चुल्लूसे उत्पन्न हुआ' ऐसा सम्बन्ध आगेवाले ५५ वें श्लोकसे जानना चाहिए)।

विमर्श—ब्रह्माके चुल्लूसे प्रकट हुए शूरवीरको देखते हुए लोग ऐसा समझते थे कि मानो उसने (रत्न-जटित) अपनी विजायठोंमें प्रतिबिम्बत देव-विमानों (या—सतमहले भवनों) के छत्रसे पहाड़ों (या—राजाओं) को अपने बाहुबलसे इसलिए ऊपर उठा लिया (या—समूल नष्ट कर दिया) है कि मेरे वंशमें आगे उत्पन्न होनेवाले राजाओंको भोग करनेके लिए पृथ्वीका बहुत विशाल भाग प्राप्त होवे ॥ ४९ ॥

अखर्वगर्वस्मितदन्तुरेण विराजमानोऽधरपल्लवेन ।
समुत्थितः क्षीरविपाण्डुराणि पीत्वेव सद्यो द्विषतां यशांसि ॥ ५० ॥

अन्वयः—अखर्वगर्वस्मितदन्तुरेण अधरपल्लवेन विराजमानः (अत एव) क्षीरविपाण्डुराणि द्विषताम् यशांसि सद्यः पीत्वा इव समुत्थितः ('सुभटो विधातुश्चुश्लुकादाविरासीत्' इत्यग्रिमेण पंचपंचाशत्तमपद्येन सम्बन्धः)।

सुधा—अखर्वगर्वस्मितदन्तुरेण—अखर्वेणाधिकेन गर्वेणाभिमानेन यत् स्मितमीषद्धासस्तेन दन्तुर उन्नतानतस्तेन विशेषाभिमानजाते वद्धास्योन्नताननेन ("गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारः" इत्यमरः, "स्मितं त्वदृष्टदशने हासो वक्रोष्ठिकानना।" इति वैजयन्ती, "दन्तुरस्तून्नतरदे तथोन्नतानते त्रिषु" इति मेदिनी) [उन्नता दन्ता अस्येति "दन्त उन्नत उरच्" इति 'उरच्' प्रत्यये 'दन्तुर' इति], अधरपल्लवेन—अधरः पल्लव इवेत्यधरपल्लवस्तेन किसलयतुल्याधरोष्ठेन ("अधरोष्ठौ तु रदनच्छदौ दशनवाससी" इति, "पल्लवोऽस्त्री किसलयम्" इति च अमरः), विराजमानः—विराजत इति विराजमानः शोभमानः ('वि' पूर्वकाद् 'राज्' धातोरात्मनेपदे 'शानच्' प्रत्ययो मुगागमश्च , (अत एव) क्षीरविपाण्डुराणि—क्षीरवद् दुग्धवद्विशेषेण पाण्डुराणि शुभ्राणीति क्षीरविपाण्डुराणि दुग्धतुल्यशुभ्राणि (' दुग्धं क्षीरं पयः समम्" इति, "शुक्ल शुभ्रशुचिश्वेतविशदश्वेतपाण्डराः। अवदातः सितो गौरो वलक्षो धवलोऽर्जुनः॥ हरिणः पाण्डुरः पाण्डुः" इति च अमरः), द्विषताम्—द्विषन्तीति द्विषन्तो रिपवस्तेषां ("रिपौ वैरिसपत्नारिद्विपद्द्वेषणदुर्हृदः।…" इत्यमरः), यशांसि कीर्तीः, सद्यस्तत्क्षणे ("सद्यः सपदि तत्क्षणे" इत्यमरः) ['समानेऽहनि' इति विग्रहे "सद्य.परुत्परार्यैषम परेद्यव्यद्यपूर्वेद्युरन्येद्युरधरेद्युरुभयेद्युरुत्तरेद्युः" इति निपातनात्सिद्धम्], पीत्वा पानं कृत्वा ['पा'पाने इति धातोः "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" इति 'क्त्वा' प्रत्यये 'घु'त्वात् "घुमास्थागापाजहातिसा हलि" इति धातोराकारस्येकारः], इव, समुत्थितः समुद्भूतः ["सम्—उप" पूर्वकात् 'ष्ठा' गतिनिवृत्तौ इति धातोर्भूतार्थे निष्ठाक्तप्रत्यये "घुमास्था " इति सूत्रेण धातोराकारस्येकारः ('सुभटोविधातुश्चुलुकादाविरासीत्' इत्यग्रिमेण पञ्चपञ्चाशत्तमेन श्लोकेन सम्बन्धः)। नवजातशिशुर्दुग्धपानान्ते क्षुन्निवृत्तौ यथा स्मितं करोति, तथायमपि नवजात सुभटः शत्रूणा दुग्धधवलानि यशांसि पीत्वा स्मितं करोति। एतस्मिन् सुभटे प्रादुर्भूते शत्रवो निर्बलाः क्षीणयशसश्चाभवन्निति भावः। अधरे पल्लवारोपाद्रूपकालङ्कारः, क्षीरेण सार्कं यशसः साम्यादुपमालङ्कारः, क्षीरपानरूपयशःपानान्ते समुत्थानस्योत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारश्चेत्येतेषां साङ्क-

र्थात् सङ्करः। आदिपादत्रये उपेन्द्रवज्रा चतुर्थपादे चेन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'जाया'ख्योपजातिः।

सुधासार—अधिक गर्वसे अधरोंपर उत्पन्न मुस्कानके द्वारा शोभमान (अत एव) दूधके समान श्वेत, शत्रुओके यशोंको तत्काल (उसी समय) पीकर उठा हुआ-सा ('शूरवीर ब्रह्माके चुल्लूसे प्रकट हुआ' ऐसा सम्बन्ध आगेवाले ५५ वें श्लोकसे जानना चाहिए)।

विमर्श—ब्रह्माके चुल्लूसे उत्पन्न एवं अपने बलाधिक्यके अभिमानसे मुस्कराता हुआ शूरवीर ऐसा लगता था कि मानो वह नवजात शूरवीर शत्रुओके शुभ्रवर्ण यशको पीकर तत्काल उठा (प्रकट हुआ) हो। तात्पर्य यह है कि नवजात बालक सफेद दूध पीकर भूख मिट जाने पर जैसे मुस्काने लगता है, वैसे ही वह नवजात शूरवीर शत्रुओके श्वेत यशःसमूहको तत्काल पीकर (नष्टकर) बाहुबलजन्य अहङ्कारसे मुस्करा रहा है, अर्थात् उस शूरवीरके प्रकट होते ही शत्रुओंका यश क्षीण हो गया॥ ५०॥

सुवर्णनिर्माणमभेद्यमस्त्रैः स्वभावसिद्धं कवचं दधानः।
जयश्रियः काञ्चनविष्टराभं समुद्भवन्नुन्नतमंसकूटम्॥ ५१॥

अन्वयः—सुवर्णनिर्माणम् अस्त्रैः अभेद्यम् स्वभावसिद्धम् कवचम् दधानः जयश्रियः काञ्चनविष्टराभम् उन्नतम् अंसकूटम् समुद्वहन् ('सुभटो विधातुश्चुलुकादाविरासीत्' इत्यग्रिमेण पंचपंचाशत्तमश्लोकेनान्वयः)

सुधा—सुवर्णनिर्माणम्—सु शोभनो वर्णः गौरादिरागोऽस्येति सुवर्णः शोभनरागः, यद्वा—सु सुष्ठु वर्ण्यते स्तूयते इति सुवर्णं काञ्चनं तेन निर्माणं रचना यस्य तं सुवर्णनिर्माणं पीतादिसद्रागयुक्तं कनकनिर्मितं च ("स्वर्णं सुवर्णं कनकं हिरण्यं हेम हाटकम्। ··" इत्यमरः, "वर्णो द्विजातिशुक्लादियशोगुणकथासु च। स्तुतौ ना, न स्त्रियां भेदरूपाक्षरविलेपने" इति मेदिनी) [निर्मीयत इति 'निर्'-पसर्गात् 'माङ्'माने शब्दे चेति धातोः "ल्युट् च" इति नपुंसके भावे 'ल्युट्' प्रत्यये तस्यानादेशे 'निर्माणम्' इति], अस्त्रैः शस्त्रैः ("न क्लीबे हेतिः शस्त्रमस्त्रमायुच्छनुघ्नमायुधम्' इति वैजयन्ती) [अस्यन्ते इत्यस्त्राणि 'असु' क्षेपणे इति धातोः "सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्" इति 'ष्ट्रन्' प्रत्ययः] अभेद्यम्—भेत्तुं योग्यं भेद्यं न भेद्यमभेद्यमच्छेद्यम् ['भिद्' धातोः "ऋहलोर्ण्यत्" इति 'ण्यत्' प्रत्यये नञ्समास], स्वभावसिद्धम्—स्वभावेन प्रकृत्या सिद्धं जातं प्राकृतिकमकृत्रिममिति यावत्, कवचं वर्म ("अथ तनुत्रं वर्म दंशनम्। उरश्छदः कङ्कटको जगरः कव-

चोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः), दधानो धारयन् [दधातेर्लटि 'शानच्' प्रत्ययः], जयश्रियो विजयलक्ष्म्याः, काञ्चनविष्टराभम्—काञ्चनस्य कनकस्य विष्टरमासनं काञ्चनविष्टरं तस्याभा कान्तिरिवाभा यस्य तत् कनकासनतुल्यकान्तिमत् ("विष्टरो विटपी दर्भमुष्टिः पीठाद्यमासनम्" इत्यमरः), उन्नतमुच्चम्, अंसकूटं स्कन्धशिखरम् ("स्कन्धो भुजशिरोंऽसोऽस्त्री" इत्यमरः, "कूटोऽस्त्री निश्चले राशी लौहमुद्गरदम्भयोः। मायाद्रिशृङ्गयोस्तुच्छे सीरावयवयन्त्रयोः। अमृते च" इति मेदिनी), समुद्वहन् धारयन् ('सुभटो विधातुश्चुलुकादाविरासीत्' इत्यग्रिमेण पञ्चपञ्चाशत्तमश्लोकेनान्वयः), सामुद्रिकशास्त्रे उन्नतस्कन्धत्वं महापुरुषस्य लक्षणमुक्तम्, तद्यथा—"कक्षः कुक्षिश्च वक्षश्च घ्राणः स्कन्धो ललाटिका। सर्वभूतेषु निर्दिष्टा उन्नतास्तु सुखप्रदाः॥" इति। कनकवद् गौरदेहप्रभायां सहजातकवचस्योत्प्रेक्षणाद्वाचकाभावेन व्यङ्ग्योत्प्रेक्षा, अंसकूटे काञ्चनाभविष्टरसादृश्यादुपमा, सुवर्णे जातसुवर्णनिर्मितकवचस्य तादात्म्यारोपाद्रूपकालङ्कारश्च, इत्येवमुत्प्रेक्षारूपकालङ्कारयोः क्षीरनीरन्यायेन साङ्कर्यात् सङ्करः। अत्रोपेन्द्रवज्रावृत्तम्।

सुधासार—सुवर्ण (सोना या—सुन्दर गौर वर्ण) से बने हुए एवं शस्त्रोंसे अभेद्य जन्मजात कवचको धारण करता हुआ तथा विजयश्रीके सुवर्णनिर्मित सिंहासनके समान उन्नत कन्धोंवाला ('शूरवीर ब्रह्माके चुल्लूसे प्रकट हुआ' ऐसा सम्बन्ध ५५ वें श्लोकसे करना चाहिए)।

विमर्श—ब्रह्माके चुल्लूसे प्रकट हुए शूरवीरका सुवर्णके समान चमकता हुआ गौरवर्ण शरीर शस्त्रोसे अभेद्य जन्मजात कवचकी तरह और उन्नत स्कन्ध विजयश्रीके स्वर्णनिर्मित सिंहासनकी तरह मालूम पड़ता था॥ ५१॥

स्वःसुन्दरीवन्दिपरिग्रहाय दत्तोऽञ्जलिः सम्प्रति दानवेन्द्रैः।
इति प्रहर्षादमराङ्गनानां नेत्रोत्पलश्रेणिभिरर्च्यमानः॥ ५२॥

अन्वयः—सम्प्रति दानवेन्द्रैः स्वःसुन्दरीवन्दिपरिग्रहाय अञ्जलिः दत्तः इति अमराङ्गनानाम् प्रहर्षात् नेत्रोत्पलश्रेणिभिः अर्च्यमानः ('सुभटो विधातुश्चलुकादाविरासीत्' इत्यग्रिमेण पञ्चपञ्चाशत्तमश्लोकेनान्वयः।

सुधा—सम्प्रतीदानीम्, दानवेन्द्रैः—दनोरपत्यानि पुमांसो दानवा दनुजास्तेषामिन्द्रैः श्रेष्ठैः स्वामिभिर्वा दानवश्रेष्ठैर्दानवेश्वरैर्वा ("असुरा दैत्यदैतेयदनुजेन्द्रारिदानवाः" इत्यमरः), ['दनु' शब्दादपत्यार्थे 'अण्' प्रत्यय आदिवृद्धिगुणावादेशाः], स्वःसुन्दरीवन्दिपरिग्रहाय—स्वः स्वर्गस्य सुन्दर्यो रमण्योऽप्सरसो देवाङ्गना इति यावत्, ता एव वन्दिरूपः स्तुतिपाठकरूपः परिग्रहः

पत्नीति स्वःसुन्दरीवन्दिपरिग्रहस्तस्मै, 'वन्दी'त्योष्ठ्यादिपाठे तु—स्वःसुन्दर्य एव वन्द्यः कारावद्धस्त्रियस्तासां परिग्रहाय परितो ग्रहणाय स्वःसुन्दरीः कारावद्धाः कर्तुमित्यर्थः ("वन्दिनः स्तुतिपाठकाः" इत्यमरः, "वन्दि कारावद्धमनुष्यादौ" इति कोषः, "परिग्रहः परिजनः पत्न्यां स्वीकारमूलयोः। शापे"—इति विश्व-मेदिन्यनेकार्थसंग्रहाः), ['वदि' अभिवादनस्तुत्योरिति धातोः अवश्यं वन्दते इति विग्रहे "आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः" इति 'णिनि' प्रत्ययः, यद्वा—"सर्व-धातुभ्यः इन्" इत्युणादिसूत्रेण 'इन्' प्रत्यये नान्तत्वात् "ऋन्नेभ्यो ङीप्" इति 'ङीप्' प्रत्यये 'वन्दी'ति, 'परिग्रहः' इत्यत्र 'परि' पूर्वकाद् 'ग्रह' धातोः "विभाषा ग्रहः" इत्यच् प्रत्ययः ववयोरभेदो वा बोध्यः], अञ्जलिः दत्तोऽञ्जलिकृतोऽर्थात् 'अतः परमस्माभिः देवाङ्गना वन्द्यो न कर्तव्याः' इत्येवम्, प्रहर्षाद्धर्षातिशयात्, अमराङ्गनानाम् असराणां देवानामङ्गना रमण्यस्तासां देववधूनाम् [कल्याणा-न्यङ्गानि यासां "अङ्गात्कल्याणे" इति 'न'प्रत्यये स्त्रीत्वात् 'टाप्'], नेत्रो-त्पलश्रेणिभिः—नेत्राण्येव नयनान्येवोत्पलानि कमलानि नेत्राण्युत्पलानीवेति वा नेत्रोत्पलानि तेषां श्रेणिभिः समूहैः नयनकमलसमूहैरित्यर्थः, अर्च्यमानः पूज्यमानः सादरमवलोक्यमान इति यावत् ('सुभटो विधातुश्चुलुकादाविरा-सीत्' इति पञ्चपञ्चाशत्तमपद्येन सम्बन्धः)। पुरा दानवेन्द्रा अमररमणीर्वन्दी कुर्वन्ति स्म, किन्तु सुभटमिमं विलोक्य तेऽमराङ्गना नैव वन्दी करिष्यन्तीति हेतोस्ता हर्षितास्तं सुभटं नेत्रोत्पलैः पूजयन्त्य इव विलोकयन्तीत्याशयः। अत्र नेत्रोत्पलश्रेणिभिरर्च्यमाने प्रहर्षस्योत्प्रेक्षणाद्धेतूत्प्रेक्षा, नेत्राणि कमलानीवेत्य-त्रोपमा नेत्राण्येव कमलानीति रूपकं वा, अतोऽत्र समेषां साङ्कर्यात् सङ्करः। तृतीयपाद उपेन्द्रवज्रा शेषेषु त्रिषु पादेष्विन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'शाला'ख्योपजातिः।

सुधासार—(इस शूरवीरको देखकर) बड़े-बड़े दानवोंने स्वर्गकी सुन्दरी-रूप स्तुति-पाठिकाओंको पत्नीभावसे स्वीकार करनेके लिए (अथवा सु स्वर्गकी सुन्दरियोंको कैद करनेके लिए) हाथ जोड़ लिये अर्थात् भविष्यमें वैसा करना त्याग दिया, इस खुशीसे देवाङ्गनाओंके नेत्रकमल-समूहसे पूज्य-मान ('शूरवीर ब्रह्माके चुल्लूसे प्रकट हुआ' ऐसा सम्वन्ध आगेवाले ५५वें श्लोकसे करना चाहिए)।

विमर्श—पहले बड़े-बड़े दानवलोग स्वर्गकी रमणियोंको अपनी स्तुति-पाठिका बना लेते थे (या—रमणियोंको कैद करनेके लिए पकड़ लेते थे), किन्तु उक्त शूरवीर प्रकट होते ही उन्होने वैसा करनेसे हाथ जोड़ लिये अर्थात् वैसा

करना छोड़ दिया। इसी खुशीसे स्वर्गकी रमणियाँ अर्थात् देवाङ्गनाएँ नेत्र-कमलसमूहोंसे उस शूरवीरको जो देखने लगीं वह ऐसा प्रतीत होता था कि मानो वे खुशीसे उसे नेत्रकमलों द्वारा पूज रही हैं। कष्ट दूर करनेवाले व्यक्तिका कृतज्ञतापूर्वक पूजा (सत्कार) करना उचित ही है॥ ५२॥

अपि स्वयं पङ्कजविष्टरेण देवेन दृष्टश्चिरमुत्सुकेन।
वाञ्छाधिकप्रस्तुतवस्तुसिद्धिसविस्मयस्मेरमुखाम्बुजेन ॥ ५३॥

अन्वयः—वाञ्छाधिकप्रस्तुतवस्तुसिद्धिसविस्मयस्मेरमुखाम्बुजेन स्वयम् अपि उत्सुकेन पङ्कजविष्टरेण देवेन चिरम् दृष्टः ('सुभटो विधातुश्चुलुकादाविरासीत्' इत्यग्रिमेण पञ्चपञ्चाशत्तमपद्येनान्वयः)।

सुधा—वाञ्छाधिकप्रस्तुतवस्तुसिद्धिसविस्मयस्मेरमुखेन—वाञ्छाया अधिकस्य विशिष्टस्य प्रस्तुतवस्तुन उपस्थितपदार्थस्य सिद्धिर्लाभ इति वाञ्छाधिकप्रस्तुतवस्तुसिद्धिः इच्छाधिकोपस्थितशूरवीरप्राप्तिस्तया सविस्मयं साश्चर्यं स्मेरं स्मितयुक्तं मुखाम्बुजं वदनकमलं यस्य तेनाभिलाषाद्विशिष्टोपस्थितशूरवीरप्राप्त्या साश्चर्यं स्मितकमलमुखेनेत्यर्थः ("अथ दोहदम्। इच्छाकाङ्क्षा स्पृहेहा तृड् वाञ्छा लिप्सा मनोरथः। कामोऽभिलाषस्तर्षश्च" इत्यमरः) (अत एव) स्वयमपि आत्मनाऽपि ("स्वयमात्मना" इत्यमरः), उत्सुकेनोत्कण्ठितेन, पङ्कजविष्टरेण—पङ्के जातं पङ्कजं कमलं तदेव विष्टरमासनं यस्य स तेन कमलासनेन देवेन ब्रह्मणा, चिरं दीर्घकालं (चिराय चिररात्राय दीर्घकाले प्रयुज्यते। चिरं चिराच्चिरेणेति" इति हलायुधः), दृष्टोऽवलोकितः ['दृश्' धातोः कर्मणि भूतार्थे निष्ठा 'क्त' प्रत्ययः], ('सुभटो विधातुश्चुलुकादाविरासीत्' इत्यग्रिमेण पञ्चपञ्चाशत्तमेन श्लोकेन सम्बन्धः)। अभिलाषादधिकोत्कृष्टशूरवीरलाभेन स्वयमपि साश्चर्यः प्रसन्नतया सस्मितमुखपङ्कज उत्कण्ठितश्च ब्रह्मा तमवलोकितवानित्याशयः। मुखाम्बुजमित्यत्र मुखान्यम्बुजानीवेति विग्रहः उपमा, मुखान्येवाम्बुजानीति विग्रहे तु रूपकालङ्कारः। अत्राद्यन्तपादयोरुपेन्द्रवज्रा मध्यस्थपादयोरिन्द्रवज्रेत्यतः 'आर्द्रा'स्योपजातिः।

सुधासार—इच्छासे अधिक उपस्थित वस्तु (श्रेष्ठ शूरवीररूप पुरुष) के लाभ होनेसे आश्चर्यसहित स्मित करते हुए मुखकमलों वाले (अत एव) स्वयं भी उत्कण्ठित कमलासन ब्रह्माके द्वारा वहुत देर तक देखा गया ('शूरवीर ब्रह्माके चुल्लूसे प्रकट हुआ' ऐसा सम्बन्ध आगे वाले ५५ वें श्लोकसे करना चाहिए)।

विमर्श—इच्छासे अधिक उपस्थित शूरवीरके लाभ होनेसे ब्रह्माका प्रसन्न

होकर मुस्कराना एवं उत्कण्ठित होकर देर तक उसे देखना स्वाभाविक ही था ॥ ५३ ॥

कषोपले पौरुषकाञ्चनस्य पङ्के यशःपाण्डुसरोरुहाणाम् ।
व्यापारयन् दृष्टमतिप्रहृष्टामवाप्तपाणिप्रणये कृपाणे ॥ ५४ ॥

अन्वयः—पौरुषकाञ्चनस्य कषोपले यशःपाण्डुसरोरुहाणाम् पङ्के अवाप्तपाणिप्रणये कृपाणे अतिप्रहृष्टाम् दृष्टिम् व्यापारयन् ('सुभटो विधातुश्चुलुकादाविरभूत्' इत्यग्रिमेण श्लोकेनान्वयः) ।

सुधा—पौरुषकाञ्चनस्य—पुरुषस्य कर्म पौरुषं शौर्यं तदेव काञ्चनं सुवर्णं तस्य शौर्यसुवर्णस्य, निकषोपले निकषपाषाणे, यशःपाण्डुसरोरुहाणाम्-यशांसि कीर्तय एव शुभ्रत्वात् पाण्डूनि श्वेतानि सरोरुहाणि कमलानि पुण्डरीकाणीति यावत् तेषां यशोरूपपुण्डरीकाणाम् ("पुण्डरीकं सितच्छत्रे कुष्ठभेदे सिताम्बुजे" इति नानार्थरत्नमाला), पङ्के कर्दमे ("निषद्वरस्तु जम्बालः पङ्कोऽस्त्री शादकर्दमौ" इत्यमरः), अवाप्तपाणिप्रणये—अवाप्तः पाणौ हस्ते (पाणेर्हस्तस्य वा) प्रणयो विश्रम्भः प्रेम वा येन सोऽवाप्तपाणिप्रणयस्तस्मिन् प्राप्तकरविस्रम्भे ("प्रणयः प्रश्रये प्रेम्णि याच्ञाविश्रम्भयोरपि" इति मेदिनी), कृपाणे खड्गे ("खड्गे तु निस्त्रिंशचन्द्रहासासिरिष्टयः । कौक्षेयको मण्डलाग्रः करवालः कृपाणवत्" इत्यमरः) [कृपां नुदतीति विग्रहे 'कृपा'पूर्वकात् 'नुद्' धातोः "अन्येभ्योऽपि दृश्यते" इति 'ड'प्रत्यये "पूर्वपदात् संज्ञायामगः" इति णत्वम्), अतिप्रहृष्टामतिशयेन हर्षयुक्ताम्, दृष्टिं दृशम् व्यापारयन् विदधत् कृपाणं पश्यन्नित्यर्थः ('सुभटो विधातुश्चुलुकादाविरासीत्' इत्यग्रिमश्लोकेन सम्बन्धः) । श्यामलत्वादयोमयकृपाणेन सह कषोपलस्य पङ्कस्य च तुलना, शुभ्रत्वाद् यशसा सह श्वेतसरोरुहस्य तुलना च समुचितैव । पौरुषे काञ्चनाभेदारोपस्य कृपाणे कषोपलात्वारोपे हेतुत्वात् परम्परितं रूपकमत्र । आद्यन्तपादयोरुपेन्द्रवज्रा मध्यपादयोरिन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'आर्द्रा'ख्योपजातिः ।

सुधासार—प्रतापरूपी सुवर्णकी कसौटी, कीर्तिरूपी श्वेतकमलोंकी, कीचड़ हाथमें ली हुई तलवारपर अत्यन्त प्रसन्न दृष्टि डालता हुआ ('शूरवीर ब्रह्माके चुल्लूसे प्रकट हुआ' ऐसा सम्बन्ध आगेवाले श्लोकसे करना चाहिए) ।

विमर्श—यहाँ महाकविने देदीप्यमान पौरुषको सुवर्ण शुभ्रवर्ण-यशको श्वेत-कमल एवं श्यामवर्ण लोहनिर्मित तलवारको कीचड़में बहुत सुन्दर आरोप किया

है। वीरपुरुषका चमकती तलवारको देखकर अतिशय प्रसन्न होना स्वाभाविक ही है ॥ ५४ ॥

हेमाचलस्येव कृतः शिलाभिरुदारजाम्बूनदचारुदेहः ।
अथाविरासीत्सुभटस्त्रिलोकत्राणप्रवीणश्चुलुकाद्विधातुः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—अथ हेमाचलस्य शिलाभिः कृत इव उदारजाम्बूनदचारुदेहः त्रिलोकत्राणप्रवीणः सुभटः विधातुः चुलुकात् आविरासीत् ।

सुधा—अथानन्तरम् ("अथाथो संशये स्यातामधिकारे च मङ्गले । विकल्पानन्तरप्रश्नकार्त्स्न्यारम्भसमुच्चये" इति मेदिनी), हेमाचलस्य–चलतीति चलः न चलोऽचलो हेम्नः सुवर्णस्याचलो हेमाचलस्तस्य सुमेरुपर्वतस्य ("भेदः सुमेरुः स्वर्णाद्रिर्मणिसानुः सुरालयः । महामेरुर्देवगिरिर्गोधुक् च" इति वैजयन्ती), शिलाभिः प्रस्तरैः ("शिला तु प्रस्तरे मता । तथा मनःशिलायां च द्वाराधःस्थितदारुणि" इति मेदिनी), कृत इव रचित इव, उदारजाम्बूनदचारुदेहः उदारं श्रेष्ठं जाम्बूनदं कनकमिव चारुः सुन्दरो गौरवर्ण इत्याशयः देहः शरीरं यस्य स श्रेष्ठकनकतुल्यगौराङ्गः ('स्वर्णं सुवर्णं कनकं हिरण्यं हेम हाटकम् । तपनीयं शातकुम्भं गाङ्गेयं भर्म कर्वुरम् । चामीकरं जातरूपं महारजतकाञ्चने । रुक्मं कार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः) [जम्बूरसस्य नद्यां भवं जाम्बूनदं "तत्र भवः" इत्यण् प्रत्ययः], त्रिलोकत्राणप्रवीणः–त्रयो लोकास्त्रिलोका भूर्भुवःस्वःरूपास्तेषां त्राणे रक्षणे प्रवीणो निपुणस्त्रिभुवनरक्षणक्षम इति यावत् ("लोकस्तु भुवने जने" इत्यमरः, "त्राणं त्राते रक्षणे च त्रायमाणोषधावपि" इत्यनेकार्थसंग्रहः, "प्रवीणे निपुणाभिज्ञविज्ञनिष्णातशिक्षिताः । वैज्ञानिकः कृतमुखः कृती कुशल इत्यपि" इत्यमरः) ['त्रिलोका' इत्यत्र विभाषाधिकारत्वाद् द्वन्द्वाभावः, 'त्राण' इत्यत्र 'त्रैङ्' पालने इति धातो'र्ल्युट्'प्रत्ययस्तस्यानादेशो णत्वञ्च, 'प्रवीण' इत्यत्र 'वीणया प्रगायति' 'गीयते' वेति विग्रहे 'सत्यापपाशे'त्यादिणिजन्तात्पचाद्यच् कर्मणि घञ् प्रत्ययो वा । 'एरजण्यन्तानाम्' इति नाच् । क्षीरस्वामी तु "प्रकृष्टा वीणाऽस्य" इति विगृह्य मुख्यार्थं परित्यज्य निपुणे रूढः यदाहुः (कुमारिलभट्टाः)—"निरूढा लक्षणा काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत् । क्रियन्तेऽद्यतनैः काश्चित्कान्नैव त्वशक्तितः—इति" इत्याह], सुभटः—शोभनो भटः सुभटः सुयोद्धा ("भटा योद्धाश्च योद्धारः" इत्यमरः) विधातुर्ब्रह्मणः, चुलुकात् गण्डूषात् ("प्रसृते तु जलाधारे गण्डूषश्चुलुकश्चुलुः" इति वैजयन्ती), आविरासीत् प्रादुरभूत् ।

चारुदेहस्योदारजाम्बूनदेन साम्यादुपमालङ्कारः, सुभटदेहे सुमेरुशिखररचितत्वेनोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालङ्कारश्च । "प्रकोष्ठपृष्ठ ···(श्लोक ४४)" इत्यारभ्यैतत् पद्यावधि नवसंख्यकपद्यानामेकत्रान्वयेन कुलकम् । तदुक्तम्——

"छन्दोवद्धं पदं पद्यं तेनैकेन च मुक्तकम् ।
द्वाभ्यां तु युग्मकं सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते ।।
कलापकं चतुर्भिः स्यात् पञ्चभिः कुलकं मतम् ।" इति ।

अत्र 'पञ्चभिः' इत्यनेन ततोऽधिकसंख्याऽपि कुलकस्य कृते बोध्या, तथा हि-

"द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिः श्लोकैर्विशेपकम् ।
कलापकं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम् ।।" इति,

अत्राद्यन्तचरणयोरिन्द्रवज्रा मध्यपादयोरुपेन्द्रवज्रेत्यतो 'माया'ख्योपजातिः ।

सुधासार—इस (ब्रह्माके द्वारा अपने चुल्लूको देखने) के बाद पर्वतकी चट्टानोंसे रचा गया-सा, उत्तम सुवर्णके समान सुन्दर (गौरवर्ण) देहवाला एवं त्रिभुवनकी रक्षा करनेमें समर्थ शूरवीर ब्रह्माके चुल्लूसे प्रकट हुआ ।

विमर्श—यहाँ ग्रन्थकारने ब्रह्माके चुल्लूसे प्रकट हुए शूरवीरको सुमेरुशिखर-रचित-जैसा वर्णन कर युद्धमें पर्वतके समान अचलता एवं देवाश्रय होना सूचित किया है ।। ५५ ।।

प्रस्थाप्य शक्रं धृतिमान् भवेति हर्षाश्रुपारिप्लवदृक्सहस्रम् ।
स शासनात्पङ्करुहासनस्य मरुद्विपक्षक्षयदीक्षितोऽभूत् ।। ५६ ।।

अन्वयः—सः पङ्करुहासनस्य शासनात् हर्षाश्रुपारिप्लुतदृक्सहस्रम् शक्रं 'धृतिमान् भव' इति प्रस्थाप्य मरुद्विपक्षक्षयदीक्षितः अभूत् ।

सुधा—स विधातृचुलुकादाविर्भूतः सुभटः, पङ्करुहासनस्य—पङ्के रोहतीति पङ्करुहं कमलं तदासनं विष्टर यस्य स पङ्करुहासनो ब्रह्मा तस्य, ("वा पुंसि पद्मं नलिनमरविन्दं महोत्पलम् । सहस्रपत्रं कमलं शतपत्रं कुशेशयम् । पङ्केरुहं तामरसं ··· " इत्यमरः)[पङ्कोपपदाद्रुह् धातोः "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इति 'क' प्रत्यये "तत्पुरुषे कृति वहुलम्" इति वाहुलकात्सप्तम्यां लुकि 'पङ्करुह'-मिति], शासनादादेशात्, हर्षाश्रुपारिप्लवदृक्सहस्रम्——हर्षेण स्वविपक्षघातकसुभटदर्शनजानन्देन, यदश्रूणि अस्राणि नयनजलानि इति भावस्तैः पारिप्लवं चपलं दृशां नेत्राणां सहस्रं दशशती यस्य स हर्षाश्रुपारिप्लवदृक्सहस्रस्तमानन्दास्रचपलनेत्रसहस्रम् ("अस्रु नेत्राम्बु रोदनं चास्रमश्रु च" इति, "चञ्चलं चपलं

चैव पारिप्लवपरिप्लवे" इति, "लोचनं नयनं नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी। दृग्दृष्टी च" इति च अमरः), शक्रमिन्द्रम्, ("इन्द्रो मरुत्वान्मघवा विडौजाः पाकशासनः। वृद्धश्रवाः सुनासीरः पुरुहूतः पुरन्दरः। जिष्णुर्लेखर्षभः शक्र···" इत्यमरः), धृतिवान्—धृतिर्धैर्यं विद्यतेऽस्यास्मिन्वेति धृतिमान् धीरः ['धृति'-शब्दात् "तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्" इति 'मतुप्' प्रत्ययः], भव स्याः धैर्यं धारयेति यावत्, इति तव विपक्षानहं हनिष्याम्यतस्त्वया न भेतव्यमिति समाश्वासनपूर्वकम् प्रस्थाप्य सम्प्रेष्य, ['सम्'पसर्गात् 'स्था' धातोः "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" इति 'क्त्वा' प्रत्यये तस्य "समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्" इति ल्यवादेशे पुगागमः, मरुद्विपक्षक्षयदीक्षितः—मरुतां देवानां विपक्षाः शत्रवस्तेषां क्षये नाशे दीक्षितः दीक्षां प्राप्तः ("देवा निलिम्पा मरुतो गीर्वाणा वयुनाः सुराः।···"इति वैजयन्ती), [दीक्षा जाताऽस्येति "तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्" इति 'इतच्' प्रत्ययः, अभूदभवत्। स सुभटो ब्रह्मादेशेन निर्भयदानपूर्वकमिन्द्रं संप्रेष्य दानवनाशाय कृतप्रतिज्ञो जात इत्याशय.। अत्रान्त्यचरणेऽनुप्रासालङ्कारः। द्वितीयचरण इन्द्रवज्रा शेषेषु चरणेषूपेन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'ऋद्धि' नाम्न्युपजातिः।

सुधासार—(ब्रह्माके चुल्लूसे उत्पन्न) वह (सुभट) कमलासन (ब्रह्मा) के आदेशसे, हर्षाश्रुसे चञ्चल हजार नेत्रोंवाले इन्द्रको 'धैर्य धारण करो' इस प्रकार (आश्वस्त कर) दानवोंके नाशके लिए दीक्षित हुआ अर्थात् प्रतिज्ञा किया।

विमर्श—उस शूरवीर को देखकर हर्षके कारण इन्द्रके हज़ारो नेत्र अश्रुपूर्ण एवं चंचल हो गये, तव ब्रह्माकी आज्ञासे उस शूरवीरने (मैं तुम्हारे शत्रुओंका नाश करूँगा, तुम धैर्य धारण करो, ऐसे आश्वासन पूर्वक इन्द्रको भेज दिया तथा दानवोंके नाशके लिए संकल्प किया ॥ ५६ ॥

क्ष्माभृत्कुलानामुपरि प्रतिष्ठामवाप्य रत्नाकरभोगयोग्यः।
क्रमेण तस्मादुदियाय वंशः शौरेः पदाद् गाङ्ग इव प्रवाहः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—क्ष्माभृत्कुलानाम् उपरि प्रतिष्ठाम् अवाप्य रत्नाकरभोगयोग्यः शौरेः पदात् गाङ्गः प्रवाहः इव तस्मात् वंशः क्रमेण उदियाय।

सुधा—अधुना तस्मात् सुभटाच्चालुक्यवंशः क्रमेणोत्पन्न इति कथयति—क्ष्माभृदिति। क्ष्माभृत्कुलानाम् —क्ष्मां भूमिं बिभ्रति धारयन्ति पोषयन्ति वेति क्ष्माभृतः पर्वता राजानश्च तेषां कुलानि वंशाः सजातीयसमूहाश्च तेषाम् "भू (क्ष्मा) भृन्नरेन्द्रे शैले च" इति विश्वः, "कुलं जनपदे गोत्रेयजातीयगणेऽपि च। भवने च तनौ क्लीवम्" इति मेदिनी) ['क्ष्मा' पूर्वकाद् 'भृञ्' धातोः 'क्विप्'

प्रत्यये तुगागमे 'क्ष्माभृत्' इति ,उपरि उपरिष्टात् शीर्षे वा "उपरिष्टादुपर्यूर्ध्वे" इति वैजयन्ती), प्रतिष्ठामवस्थितिं गौरवं च, अवाप्य लब्ध्वा, रत्नाकरभोगयोग्यः—रत्नानां मुक्ताफलादिमणीनामाकर उत्पत्तिस्थानं समूहश्च तस्य भोग उपभोगः समागमो वा तस्य योग्यः समुद्रमिलनार्हो रत्नसमूहोपयोगार्हश्च, शौरेः देवकीनन्दनस्य विष्णोः ("विष्णुर्नारायणः कृष्णो···। देवकीनन्दनः शौरिः श्रीपतिः पुरुषोत्तमः।···" इत्यमरः) [शूरस्यापत्यं पुमान् शौरिः "बाह्वादिभ्यश्च" इति 'इञ्' प्रत्यये ञित्त्वादादिवृद्धिः] पदाच्चरणात्, गाङ्गः गङ्गा-सम्बन्धी गङ्गाया इत्यर्थः [गङ्गाया अयमिति "तस्येदम्" इत्यण् आदिवृद्धिर्णित्त्वात्], प्रवाहो जलस्रोतः ("प्रवाहस्तु प्रवृत्तौ स्यादपि स्रोतसि वारिण." इति मेदिनी), इव तुल्यः, तस्माद्विधातृचुलुकाविर्भूतसुभटात्, वंशश्चालुक्यकुलम् ("वंशः पुंसि कुले वेणौ पृष्ठावयववंशयोः" इति मेदिनी), क्रमेण क्रमशः, उदियायोत्पन्नः [उत्पूर्वकादिणो लिटि रूपम्]। भूभृत्कुलानां रत्नाकरभोगयोग्य इत्यत्र श्लेषालङ्कारः, पद्येऽस्मिन् पूर्णोपमालङ्कारः। आद्यन्तपादयोरिन्द्रवज्रा मध्यपादयोरुपेन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'माया'ख्योपजातिः।

सुधासार— (अब ग्रन्थकार ब्रह्मचुलुकाविर्भूत शूरवीरसे चालुक्य वंशके उत्पन्न होनेका वर्णन कर रहे हैं)—पर्वत-समूहों (पक्षान्तरमें–राजवंशो) के ऊपर प्रतिष्ठा प्राप्तकर रत्नों आकर (समुद्र, पक्षान्तरमें रत्नराशि) के भोग करनेके योग्य, विष्णुके चरणसे उत्पन्न गङ्गा-प्रवाहके समान उस शूरवीरसे क्रमशः चालुक्य वशका प्रादुर्भाव हुआ।

विमर्श—पर्वत-समूहके ऊपर एवं समुद्रतक पहुँचनेवाले विष्णुचरण-प्रादुर्भूत गङ्गा-प्रवाहके समान राजकुलमें सर्वोपरि प्रतिष्ठित एवं रत्नराशि-भोगार्ह चालुक्य राजाओंका वंश चालू हुआ॥ ५७॥

विपक्षवीराद्भुतकीर्तिहारी हारीत इत्यादिपुमान् स यत्र।
मानव्यनामा च बभूव मानी मानव्ययं यः कृतवानरीणाम्॥५८॥

अन्वयः—यत्र आदिपुमान् मानी यः अरीणाम् मानव्ययम् कृतवान् सः विपक्षाद्भुतकीर्तिहारी 'हारीतः' इति 'मानव्य' नामा च अभूत्।

सुधा—यत्र यस्मिंश्चालुक्यवंशे, आदिपुमान्—आदिः प्रथमश्चासौ पुमान् पुरुषश्चेत्यादिपुमान् प्रथमपुरुषः, मानी मानोऽस्त्यस्येति मानी स्वाभिमानी यः, अरीणां शत्रूणाम्, मानव्ययम्—स्वाभिमानस्य व्ययं नाशं मानहरणमिति यावत्, कृतवानकरोत्, सोऽरिमाननाशकः, विपक्षवीराद्भुतकीर्तिकारी–विपरीतः पक्षो

येषां ते विपक्षा रिपवस्तेषां वीरास्ते च ये वीरा भटा इति वा विपक्षवीराः शत्रुभटास्तेषामद्भुतां विचित्रां सर्वत्र जयलाभेनाश्चर्यकारिणीमित्याशयः, कीर्ति यशो हरति तच्छीलो विपक्षवीराद्भुतकीर्तिहारी शत्रुशूराश्चर्यकारियशोनाशकः [..'हृञ्' हरणे इति धातोः "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" इति 'णिनि' प्रत्यये णित्वादादिवृद्धिः], हारीतो 'हारीत' इति नाम्ना ख्यातः [हारिमित ईतो वा 'हारीतः', यद्वा —हारोऽस्त्यस्मिन्निति "अत इनिठनौ" इति 'इनि' प्रत्यये हारि, हारि मनोहरमितं गमनमस्येति हारीतः। यद्वा – हारयतीति "अन्येभ्योऽपि दृश्यते" इति 'क्विप्' प्रत्यये 'हाः' 'ई' गतौ इति धातोः "गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च" इति 'क्त' प्रत्यये 'ईत' इति। ततो हाश्चासावीतश्चेति कर्मधारये 'हारीतः' इति], मानव्यनामा— मानव्य इति नाम यस्य स मानव्यनामको बभूवाभूत्। अत्र 'हारी-हारी'ति, 'मानव्य-मानव्ये'त्यनुप्रासालङ्कारः। प्रथमचरण उपेन्द्रवज्रा शेषपादेष्विन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'कीर्त्या'ख्योपजातिः।

सुधासार—जिस चालुक्य वंशमें प्रथम पुरुष तथा स्वाभिमानी—जिसने शत्रुओंका मान समाप्त कर दिया, वह शत्रुओंके (सर्वविजयी होनेसे) अद्भुत अर्थात् आश्चर्य-कारिणी कीर्तिका हरण (नाश) करनेवाला 'हारीत' एवं 'मानव्य' नामवाला (या—'मानव्य' उपाधि या गोत्रवाला) हुआ।

विमर्श—शत्रु-वीरोंके अद्भुत यशको हरण करनेवालेका 'हारीत' एवं मानको व्यय (नष्ट) करनेवालेको 'मानव्य' कहलाना अन्वर्थ ही है॥ ५८॥

मीलद्विलासालकपल्लवानि विशीर्णपत्त्रावलिमण्डनानि।
मुखानि वैरिप्रमदाजनस्य यद्भूपतीनां जगदुः प्रतापम्॥ ५९॥

अन्वयः—मीलद्विलासालकपल्लवानि विशीर्णपत्त्रावलिमण्डनानि वैरिप्रमदाजनस्य मुखानि यद्भूपतीनाम् प्रतापम् जगदुः।

सुधा—मीलद्विलासालकपल्लवानि–मीलन्तो भर्तृविरहान्नश्यन्तो विलासाः विविधक्रीडा येषां ते मीलद्विलासा भर्तृविरहात्संस्कारहीना अलकपल्लवाः कुञ्चितकेशपाशा येषु तानि भर्तृविरहाद्विलासहीनकेशपाशयुक्तानि, ("अलकाश्चूर्णकुन्तलाः" इत्यमरः) विशीर्णपत्त्रावलिमण्डनानि—विशेषेणातिशयेन शीर्णानि नष्टानि विशीर्णानि, पत्त्रावलयः कपोलयोः कुङ्कुमचन्दनादिरचितपत्त्ररचनाविशेषा एव मण्डनान्यलङ्कारा येषु तानि पूर्णतया नष्टपत्त्ररचनालङ्काराणि ("अलङ्कारस्त्वाभरणं भूषणं मण्डनं पुनः। विभूषणं परिष्कारः" इति वैजयन्ती) ['वि'पूर्वक 'शॄ' धातोर्निष्ठा 'क्त' प्रत्यये "ॠत इद्धातोः" इतीकारे "उरण् रपरः" इति रपरत्वे "रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः"

इति नकारे णत्वे दीर्घे 'विशीर्णः' इति], वैरिप्रमदाजनस्य—वैरिणां शत्रूणां प्रमदाजनो युवतिजनस्तस्य शत्रुविलासिनीनामिति यावत्, मुखान्याननानि ("वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्" इत्यमरः), यद्भूपतीनाम्—यस्य चालुक्यवंशस्य भूपतीनां भूपालानाम्, प्रतापम्—प्रकृष्टं तापं प्रभावमित्याशयः ("स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोशदण्डजम्" इत्यमरः), जगदुः व्यक्तमाचख्युः ['गद' व्यक्तायां वाचि इति धातोर्लिटि प्रथमपुरुषस्य बहुवचने रूपम्]। शत्रुपत्नीमुखानामलङ्करणाभावेन तत्पत्नीनां हारीतकृतं मरणं सूच्यते। अत्राद्यन्तपादयोरिन्द्रवज्रा द्वितीयतृतीयपादयोरुपेन्द्रवज्रेत्यतो 'माया'ख्योपजातिः।

सुधासार—(अपने पतिके मारे जानेसे) संस्काहीन कुञ्चित केशपाशवाले एवं (चन्दनकुङ्कुमादिसे रचित) पत्त्रावलियोंसे हीन शत्रुरमणियोंके मुखोंने जिस (हारीत राजा) के प्रतापको स्पष्ट कह दिया।

विमर्श—चालुक्य वंशोत्पन्न हारीतने युद्धमें शत्रुओंको मार डाला, अत एव उनकी रमणियोंने कुञ्चित केश समूहमें तेल फुलेल लगाकर कंघी करना एवं धूपाधिवासनसे सुरभित करना और मुखपर चन्दन-कुङ्कुमादिसे अनेकविध पत्त्रावलियोंकी रचना करना छोड़ दिया, इस प्रकार उनके मुख हारीतके प्रतापको स्पष्ट कह रहे हैं ऐसा जान पड़ता है, विधवा रमणियोंके लिए किसी प्रकारका शृङ्गारादि करना निषिद्ध है॥ ५९॥

उत्खातविश्वोत्कटकण्टकानां यत्रोदितानां पृथिवीपतीनाम्।
क्रीडागृहप्राङ्गणलीलयैव बभ्राम कीर्तिर्भुवनत्रयेऽपि॥ ६०॥

अन्वयः—यत्र उदितानाम् उत्खातविश्वोत्कटकण्टकानाम् पृथिवीपतीनाम् कीर्तिः क्रीडागृहप्राङ्गणलीलया एव भुवनत्रये अपि बभ्राम।

सुधा—यत्र यस्मिन् (चालुक्यकुले), उदितानामुत्पन्नानाम्, उत्खातविश्वोत्कटकण्टकानाम्—उत्खाताः समूलमुन्मूलिता विश्वे समस्ताः (विश्वस्मिन् संसारे वा) उत्कटा उद्धताः प्रचण्डा इत्यर्थः, कण्टकाः कण्टकरूपाः शत्रवो यैस्ते उत्खातविश्वोत्कटकण्टकास्तेषां निहतप्रबलोद्धतकण्टकरूपशत्रूणाम् ("कण्टकः पुलके रेणौ द्रुमाङ्गे क्षुद्रवैरिणि" इति नानार्थरत्नमाला), पृथिवीपतीनाम्—पृथिव्या भूमेः पतीनां स्वामिनां भूपालानामिति यावत्, कीर्तिर्यशः ("यशः कीर्तिः समज्या च" इत्यमरः) क्रीडागृहप्राङ्गणलीलया—क्रीडार्थं गृहं क्रीडागृहं विलासभवन तस्य प्राङ्गणं प्रकृष्टमजिरं तत्र या लीला खेला तया क्रीडाभवनाजिरखेलया

(अङ्गणं चत्वराजिरे" इत्यमरः), एव निश्चयेन, भुवनत्रये--त्रयोऽवयवा यस्य तत् त्रयं भुवनानां भूर्भुवःस्वर्लोकानां त्रयं भुवनत्रयं तस्मिन् त्रिभुवने ['त्रि'-शब्दात् "संख्याया अवयवे तयप्" इति 'तयप्' प्रत्यये तस्य "द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा" इत्ययजादेशे 'त्रयम्' इति], अपि, बभ्राम भ्रमणं चकार। चालुक्य-वंशजा भूपतयः समस्तप्रबलरिपून् पराजितवन्तस्ततस्तेषां कीर्तिः क्रीडाजिर इव त्रिलोक्यां प्रसृता । अत्रेन्द्रवज्रावृत्तम् ।

सुधासार--जिस चालुक्य-वंशमें उत्पन्न एवं समस्त (या-संसारके) उद्धत कण्टकरूप शत्रुओंको नष्ट किये हुए भूपालोंकी कीर्ति क्रीडागृहके आँगनमें क्रीडासे (क्रीडा करती हुई-सी अनायास ही) त्रिभुवनमें घूमने लगी (फैल गयी)।

विमर्श—चालुक्य-वंशोत्पन्न राजाओंने कण्टकतुल्य बाधक सब शत्रुओंका नाश कर डाला, अतः उनकी कीर्ति तीनों लोकोंमें अनायास फैल गयी ॥६०॥

यत्पार्थिवै शत्रुकठोरकण्ठपीठास्थितिर्लोठनकुण्ठधारः ।
निन्ये कृपाणः पटुतां तदीयकपालशाणोपलपट्टिकासु ॥ ६१ ॥

अन्वयः—यत्पार्थिवैः शत्रुकठोरकण्ठपीठास्थिनिर्लोठनकुण्ठधारः कृपाणः तदीय कपालशाणोपलपट्टिकासु पटुताम् निन्ये ।

सुधा—यत्पार्थिवैः-पृथिव्या ईश्वराः पार्थिवा राजानः यस्य चालुक्यवंशस्य पार्थिवा यत्पार्थिवास्तै (राजा राट् पार्थिवक्ष्माभृन्नृपभूपमहीक्षितः" इत्यमरः) ['पार्थिव' इत्यत्र "सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ" इति "तस्येश्वरः" इत्यधिकारे 'अण् अञ्' वा प्रत्ययस्ततो णित्वादादिवृद्धौ रपरत्वे 'ई' लोपः], शत्रुकठोर-कण्टपीठास्थिनिर्लोठनकुण्ठधारः--शत्रूणां रिपूणां कठोराः कठिनाश्च ते चण्ठा गलाश्चेति शत्रुकठोरकण्ठास्ते एव पीठास्थीनि पीठकीकसानि इति शत्रुकठोर-कण्ठपीठास्थीनि तेषु निर्लुण्ठनेनाघातरूपलुण्ठनेन कुण्ठा खण्डनक्रिया सुमन्दं प्रतिहतेति यावत् धाराऽग्रभागो यस्य सः शत्रुकठिनगलपीठकीकसाघातप्रति-हताग्रभागः ("कण्ठो गल." इति, कीकसं कुल्यमस्थि च इति, "कुण्ठो मन्दः क्रियासु यः" इति च अमरः), कृपाणः खड्गः [कृपां नुदतीति 'कृपा' शब्दो-पपदात् 'नुद्' प्रेरणे इति धातोः "अन्येभ्योऽपि दृश्यते" 'ड' प्रत्यये डित्त्वाट्टि-लोपे "पूर्वपदात्संज्ञायामगः" इति णत्वम्], तदीयकपालशाणोपलपट्टिकासु–तेषामिमानि तदीयानि शत्रुसम्बन्धीनि कपालान्येव कर्परा एव शाणोपलस्य निकषपाषाणस्य पट्टिकाः फलकास्तासु शत्रुकर्पररूपनिकषपाषाणफलकेषु ("स्यात् कर्परः कपालोऽस्त्री" इति, "शाणस्तु निकषोपलः" इति च अमरः)

['तदीय'मित्यत्र 'तद्' शब्दस्य "त्यदादीनि च" इति वृद्धसंज्ञायां "वृद्धाच्छः" इति 'छ' प्रत्यये "आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्" इति छस्येया देशः], पटुतां तीक्ष्णत्वम्, निन्ये नीतः ['णीञ्' प्रापणे इति धातोः कर्मणि लिटि प्रथमपुरुषैकवचने रूपम्]। यच्चालुक्यवंशजा भूपाला बहुशत्रुशिरश्छेदनेन कुण्ठितधारं खड्गं तेषां शत्रूणां कपालरूपशाणोपलेषु घर्षयित्वा तीक्ष्णधारं कृतवन्तः, यच्चालुक्यवंशीयनृपा बहून् शत्रून्हत्वा विजयिनो जाता इत्याशयः। कण्ठे पीठाभेदारोपात्, कपालेषु शाणोपलपट्टिकाभेदारोपाच्चात्र रूपकालङ्कारः। प्रथमेषु पादेष्विन्द्रवज्रा चरमपादे चोपेन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'बाला'-ख्योपजातिः।

सुधासार—जिस चालुक्य-वंशके राजाओने वैरियोंके कठोरकण्ठकी हड्डियों पर (आघात करते समय) लोटनेसे कुण्ठित धारवाली तलवारको उन (वैरियों) की खोपड़ीरूप शाणोपलफलकपर (रगड़कर) पुनः तीक्ष्ण कर लिया।

विमर्श—चालुक्य वंशमें उत्पन्न राजाओने युद्धमें बहुत-से शत्रुओंको मारकर विजय पायी ॥ ६१ ॥

निरादरश्चन्द्रशिखामणौ यः प्रीतेऽपि लोकत्रितयैकवीरः।
क्षिपन् कृपाणं दशमेऽपि मूर्ध्नि स्वयं धृतः क्ष्माधरराजपुत्र्या ॥ ६२ ॥

अन्वयः—लोकत्रितयैकवीरः चन्द्रशिखामणौ प्रीते अपि निरादरः (अत एव) दशमे अपि मूर्ध्नि कृपाणं क्षिपन् यः क्ष्माधरराजपुत्र्या स्वयं धृतः (तं रावणं प्रसाध्य " इत्यग्रिमश्लोकेनान्वयो बोध्यः)।

सुधा—साम्प्रतं चालुक्यवंशजानामयोध्यायां निवासं युग्मकेन प्रस्तौति—निरेति। लोकत्रितयैकवीरः—त्रयोऽवयवा यस्येति त्रितयं लोकानां भूर्भुवः स्वराख्यानां त्रितयं लोकत्रितयं त्रिभुवनमिति यावत् तस्मिन्नेकोऽद्वितीयश्चासौ वीरः शूरश्चेति लोकत्रियैकवीरस्त्रिभुवनान्यतमशूरः ['त्रितयमि'त्यत्र "संख्याया अवयवे तयप्" इति 'तयप्' प्रत्ययस्तस्यायजादेशाभावः "द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा" इत्यस्य विकल्पत्वात्, 'एकवीर' इत्यत्र "पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरण्येन" इति समासः], चन्द्रशिखामणौ—शिखाया मणिः शिखामणिः शिरोरत्नम् चन्द्रः शिखामणिर्यस्य स चन्द्रशिखामणिश्चन्द्रचूडश्शिव इत्यर्थस्तस्मिन्, प्रीते प्रसन्ने, अपि, निरादरोऽनादरोऽसन्तुष्ट इति यावत्, (अत एव), दशमे दशानां पूरणो दशमस्तस्मिन् दशमसंख्याके ['दशन्' शब्दात् "तस्य पूरणे डट्" इति 'डट्' प्रत्यये "नान्तादसंख्यादेर्मट्" इति मडागमः],

खड्गम्, क्षिपन् चालयन्, यो रावणः, क्ष्माधरराजपुत्र्या —क्ष्मां पृथ्वीं धरन्तीति क्ष्माधराः पर्वतास्तेषां राजा क्ष्माधरराजो हिमाचलस्तस्य पुत्र्या सुतया पार्वत्ये-त्यर्थः ['क्ष्माधर' इत्यत्र 'क्ष्माशब्दोपपदाद् 'धृ' धातोः पचाद्यच्, न तु 'कर्मण्यण् तथा सति 'क्ष्माधार' इति रूपापत्तेः, 'क्ष्माधरराज' इत्यत्र षष्ठीतत्पुरुषे 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति 'टच्' प्रत्यये 'टि' भागस्यानो लोपः], स्वयमात्मना, धृतो गृहीतो दशमशिरःकर्तनान्निवारित इति भावः, (अस्य पद्यस्य "तं रावणं प्रसाध्य ·· " इत्यग्रिमपद्येन सम्बन्धो बोध्यः)। अत्र द्वितीयचरण इन्द्रवज्रा शेषेषु त्रिषु पादेषूपेन्द्रवज्रेत्यतो 'ऋद्धि'नाम्न्युपजातिः ।

सुधासार—तीनों भुवनोंमें अद्वितीय वीर, चन्द्रचूड (शिवजी) के प्रसन्न होने पर भी अतृप्त (अत एव) दशवें मस्तक पर (उसे काटकर हवन करने के लिए) तलवारको चलाते हुए जिस (रावण) को पर्वराजपुत्री (पार्वती) ने स्वयं पकड़ लिया अर्थात् दशवाँ सिर काटनेसे रोक दिया, (उस रावणको मार-कर ··" ऐसा सम्बन्ध आगे वाले श्लोकसे करना चाहिए) ।

विमर्श—अपने आराध्यदेव शिव को प्रसन्न करनेके वास्ते दशमुख रावण तलवारसे जब अपने मस्तकोंको काटकर अग्निमें हवन करने लगा, तब नौ मस्तकोंको काटकर हवन कुण्डमें छोड़नेके बाद शिवजी प्रसन्न हो गये; किन्तु उससे भी अतृप्त उसको दशवाँ मस्तक काटनेके वास्ते तलवार चलाते हुए पार्वतीने स्वयं पकड़कर ऐसा करनेसे रोक दिया ॥ ६२ ॥

प्रसाध्य तं रावणमध्युवास यां मैथिलीशः कुलराजधानीम् ।
ते क्षत्रियास्तामवदातकीर्ति पुरीमयोध्यां विदधुर्निवासम् ॥ ६३ ॥
(युग्मकम्)

अन्वयः—मैथिलीशः तम् रावणम् प्रसाध्य याम् कुलराजधानीम् अध्युवास, ते क्षत्रियाः अवदातकीर्तिम् ताम् अयोध्याम् पुरीम् निवासम् विदधुः ।

सुधा—मैथिलीशः—मैथिल्याः सीतायाः ईशः स्वामी मैथिलीशो रामचन्द्रः ("मैथिली जानकी सीता वैदेही भूमिजा च सा" इति त्रिकाण्डशेषः "ईशः स्वामिनि रुद्रे च" इत्यनेकार्थसंग्रहः), तं पूर्वपरामृष्टम्, रावणं दशाननम्, प्रसाध्य विजित्य, यां कुलराजधानीम्—कुलस्य सूर्यवंशीयक्षत्रियान्वयस्य राजधानीं राजवासपुरम् [राजानो धीयन्तेऽस्यामिति राजधानी, "उपान्वध्याङ्वसः" इति कर्मत्वाद् द्वितीया विभक्तिः], अध्युवासोषितवान्; ते चालुक्यवंशजाः, क्षत्रिया राजन्याः ("मूर्धाभिषिक्तो राजन्यो बाहुजः क्षत्रियो विराट्" इत्यमरः)

['क्षद' संवरणे इति धातोः "सार्वधातुभ्यः ष्ट्रन्" इत्युणादिसूत्रेण 'ष्ट्रन्' प्रत्ययः, क्षतात्त्रायते इति विग्रहः, "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" इति वा निपातनात् 'क्षत्त्रम्' तस्यापत्यमित्यपत्यार्थे "क्षत्त्राद् घः" इति 'घ' प्रत्यये तस्य "आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्" इतीयादेशः], अवदातकीर्तिम्—अवदाता विशदाः शुभ्रा इति यावत् कीर्तयो यशांसि यस्यास्तां विमलयशसाम् ("अवदातः सितो गौरो विशदश्वेतपाण्डराः" इति वैजयन्ती), तां विश्वविश्रुताम्, अयोध्यां साकेतनाम्नीम् ("साकेतं स्यादयोध्यायां कोसलानन्दिनीति च" इति वैजयन्ती), निवासमावासम्, विदधुरकार्षुः। रावणविजयिनो रामचन्द्रस्य राजधानीमयोध्यापुरी चालुक्यकुलोत्पन्नाः क्षत्त्रिया अपि निजराजधानी कृतवन्त इति भावः। अत्राद्यन्तचरणयोरिन्द्रवज्रा मध्ययोश्चरणयोरुपेन्द्रवज्रेत्यत 'आर्द्रा'ख्योपजातिः।

सुधासार—सीतापति रामने उस रावणको जीतकर जिस कुल (क्रमागत) राजधानीमें निवास किया, उस विमल यशवाली अयोध्यापुरीमें इस चालुक्यवंशीय क्षत्रियोने भी निवास किया।

विमर्श—साराश स्पष्ट है ॥ ६३ ॥

जिगीषवः केऽपि विजित्य विश्व विलासदीक्षारसिकाः क्रमेण।
चक्रुः पदं नागरखण्डचुम्बिपूगद्रुमायां दिशि दक्षिणस्याम् ॥ ६४ ॥

अन्वयः—जिगीषवः केऽपि क्रमेण विश्वम् विजित्य विलासदीक्षारसिकाः नागरखण्डचुम्बिपूगद्रुमायाम् दक्षिणस्याम् दिशि पदम् चक्रुः।

सुधा—साम्प्रतं चालुक्यवंशजानां दक्षिणदिङ्निवास वर्णयति—**जिगीति**। जिगीषवः जेतुमिच्छन्तीति जिगीषन्ति, जिगीषन्तीति जिगीषवो जयाभिलाषुकाः ['जि' जये इति धातोः "धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा" इति 'सन्' प्रत्यये "सन्यङोः" इति धातोर्द्वित्वादेशे 'अज्झनगमां सनि" इति दीर्घे "सन्लिटोर्जेः" इति जकारस्य गकारे "सनाशंसभिक्ष उः" इत्युप्रत्यये बहुवचने जिगीषवः' इति], केऽपि केचन चालुक्यवंशजा क्षत्त्रियाः, क्रमेण क्रमशः, विश्वं जगत् सर्वं वा ("विश्वं जगति सर्वस्मिंस्त्रिषु शुण्ठ्यां पुनर्न ना" इति वैजयन्ती), विजित्य पराभूय ['वि' पूर्वकात् 'जि' जये इति धातोः "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" इति 'क्त्वा' प्रत्यये तस्य "समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्" इति 'ल्यबा'देशे "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" इति तुगागमः], विलासदीक्षारसिकाः—विलासस्य दीक्षायां विलासानुरागिणः (सन्त),

नागरखण्डचुम्बिपूगद्रुमायाम्——नागरखण्डचुम्बिनो नागरसमूहपरिवेष्टिताः पूगद्रुमाः क्रमुकवृक्षा यस्यां सा नागरखण्डचुम्बिपूगद्रुमा तस्यां नागवल्लीसमूहपरिवेष्टितक्रमुकवृक्षायाम् ("नागरं मुस्तके शुण्ठ्यां विदग्धे नगरोद्भवे" इति मेदिनी, "नागरं पुरजे चुक्रे शुण्ठीराजकशेरुणोः" इति वैजयन्ती च), केचन् वुधाः 'नागर' शब्दो नागवल्ली (समुद्रतीरजलजा) वाचकोऽत्र प्रतीयते पूगद्रुमसान्निध्याद्विलासरसिकपदसान्निध्याच्चेति मन्यन्ते, परं "नागर" शब्दो 'नागरङ्ग' (नारङ्गी, सन्तरा) वाचकः, 'नागपुरा'दिदक्षिणदिशि तस्याधिक्येन श्रेष्ठत्वेन चोपलब्धेः, सामीप्यात् पूगवृक्षस्पर्शिनो नागर (नागरङ्ग) समूहा लभ्यन्त एव, 'शब्दकल्पद्रुम'कोषेऽपि 'नागर' शब्दो 'नागरङ्ग' (नारङ्गी, सन्तरा) पर्यायत्वेन स्वीकृतः, समूहार्थकः 'षण्ड'शब्दो न तु कवर्गादिः 'खण्ड'शब्दः ("षण्डं पद्मादिसंघाते न स्त्री स्याद् गोपतौ पुमान्" इति मेदिन्युक्तेः "षण्डः कानन इट्-वरे" इति हैमोक्तेश्च। "खण्डोऽर्घ ऐक्षवे मणिदोषे च" इति हैमोक्तेः, "खण्डोऽस्त्री शकले नेक्षुविकारमणिदोषयोः। खण्डः पानान्तरे भेदे" इति मेदिन्युक्तेश्च), एवं च 'खण्ड'शब्दस्य 'शकल'वाचकत्वेनात्र 'खण्ड'शब्देन पूगद्रुमाणां 'नागर'द्रुमैकदेशस्पर्शित्वमिति सर्वं समञ्जसमिति वयम्। यद्वा——नगरे भवा नागरा अत्युच्चप्रसादास्तेषामेकदेशस्पर्शित्वं पूगद्रुमाणामिति, इत्थं तत्रत्य प्रासादाः क्रमुकवृक्षेभ्योऽप्युच्चैस्तमा इति दक्षिणदेशवैभवाधिक्यं सूच्यते [नगरे भव इति "तत्र भवः" इत्यण् प्रत्यये, न अगं राति इति 'न'शब्देन "सह सुपा" इति समासे वा 'नागर' इति], दक्षिणस्यां याम्याम्, दिशि ककुभि, पदं स्थानं निवासस्थानमिति यावत् ("पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्मांघ्रिवस्तुषु" इत्यमरः) चक्रुरकार्षुः। अयोध्या-वासिनः केचन् चालुक्यवंशजाः क्षत्रियाः क्रमशः विजयं कुर्वन्तो दक्षिणदेशे निवासं कृतवन्त इत्याशयः। अत्र 'पूर्वार्द्धोत्तरार्द्धयोः' क्रमश उपेन्द्रवज्रेन्द्रवज्रयोः सत्त्वेन 'रामा'ख्योपजातिः।

सुधासार—विजयाभिलाषी (चालुक्यवंशज) कुछ राजाओंने क्रमशः संसारको (या——सबको) जीतकर विलासरसिक हो पानकी लताओंसे वेष्टित (या—नारंगीके द्वारा स्पृष्ट अर्थात् छुए गये, या—नगरकी ऊँची अटारियों द्वारा स्पृष्ट) सुपारी के पेड़ोंवाली दक्षिण दिशामें (अपना निवास) स्थान बनाया।

विमर्श—यहाँ कतिपय विद्वानोंने 'नागर'शब्दका अर्थ सुपारीके वृक्ष-समूहके सामीप्यसे नागवल्ली (नागवेल या पान) किया है, किन्तु 'शब्दकल्पद्रुम'

नामक विशाल कोषमें 'शब्दरत्नावली' के आधारपर 'नागर' शब्दका 'नारंगी' अर्थ आया है, भारतमें 'नागपुर' आदि दक्षिण देशका नारङ्गी (सन्तरा) उत्तम कोटिका माना जाता है, और 'खण्ड' शब्द समूहार्थक न होकर 'एकदेश' (टुकड़ा) अर्थमें ही आता है; अतः नारंगीके पेड़ सुपाड़ीके पेड़के एक भागको छू रहे हैं, यह अर्थ ठीक प्रतीत होता है। अथवा—नगरकी ऊँची अट्टालिकाओंके एक भाग (कुछ हिस्से) को सुपारीके पेड़ स्पर्श कर रहे हैं, यह अर्थ भी किया जा सकता है ॥ ६४ ॥

तदुद्भवैर्भूपतिभिः सलीलं चोलीरहःसाक्षिणि दक्षिणाब्धेः ।
करीन्द्रदन्ताङ्कुरलेखनीभिः अलेखि कूले विजयप्रशस्तिः ॥ ६५ ॥

अन्वयः—तदुद्भवैः भूतिभिः चोलीरहःसाक्षिणि दक्षिणाब्धेः कूले करीन्द्रदन्ताङ्कुरलेखनीभिः विजयप्रशस्तिः सलीलम् अलेखि ।

सुधा—तदुद्भवैः—तस्मिश्चालुक्यवंशे उद्भव उत्पत्तिर्येषान्ते तदुद्भवाश्चालुक्यवंशजास्तैः, भूपतिभिः पृथिवीपतिभिः, चोलीरहःसाक्षिणि—चोलीनां चोलदेशनृपतिरमणीनां रह एकान्तवासः सम्भोगो वा तस्य साक्षिणि प्रत्यक्षद्रष्टरि चोलाङ्गनासुरतद्रष्टरीत्यर्थः ('चोल'शब्दो दक्षिणदिग्भागस्थजनपदविशेषेऽधुना 'तञ्जोर' इति नाम्ना प्रसिद्धो वर्तते 'शब्दकल्पद्रुमा'दिकोषे तथोक्तत्वादतोऽयं 'द्रविडदेशवाचक' इति कस्यचिदुक्तिश्चिन्त्या, महाभारतेऽप्येतद्देशीयनृपाणां वर्णनं सभापर्वणि २७।२१, ५२।३५; भीष्मपर्वणि ९।६०, ५०। ५१ समायातम्), ("रहो रहस्ये सुरते" इति वैजयन्ती), ["साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्" इति 'इनि'प्रत्यये 'साक्षी'ति पदम्] दक्षिणाब्धेर्दक्षिणसमुद्रस्य, कूले तीरे ("कूलं तीरे चमूकटौ" इति वैजयन्ती), करीन्द्रदन्ताङ्कुरलेखनीभिः—करा हस्ताः सन्त्येषामिति करिणो गजास्तेषामिन्द्राः श्रेष्ठाः करीन्द्रा गजेन्द्रा इति यावत् तेषां दन्ताङ्कुरा दशनाग्राणि अभिनवदशना वा एव लेखन्यः कलमास्ताभिर्गजेन्द्रदशनरूपकलमैः ("दशनाः पुनः, रदनाः खादना दन्ता दंशा मल्ला रदा द्विजा." इति, "कमलोऽङ्कुरलेखन्योः" इति च वैजयन्ती, "कलमः पुंसि लेखन्यां शालौ पाटच्चरेऽपि च" इति मेदिनी च), विजयप्रशस्तिः—विजयस्य प्रशस्तिः स्वदिग्विजयप्रशंसा, सलीलम्—लीलया सह यथा स्यात्तथा सविलासमनायासेनेति भावः [क्रियाविशेषणमिदं क्लीवं द्वितीयैकवचनञ्च, यदुक्तम्—"द्वितीयान्तत्वकर्मत्वे क्लीवत्वञ्च तथैकता । क्रियाविशेषणस्यैवं मतं सूरिभिरादरात्" इति], अलेखि लिखिता ['लिख' अक्षरविन्यासे इति

धातोः कर्मणि लिटि प्रथमपुरुषैकवचने रूपम्], अत्र करीन्द्रदन्ताङ्कुरेषु लेखन्यारोपाद्रूपकालङ्कारः । द्वितीयचरण इन्द्रवज्रा शेषेषु त्रिषु पादेषूपेन्द्रवज्रे-यतो 'ऋद्धया'स्योपजातिः ।

सुधासार—उस (चालुक्य वंश) में उत्पन्न राजाओंने चोल देश (तञ्जोर) की रमणियोंके एकान्तवास (या—सुरत) के साक्षी, दक्षिण समुद्रके तीरमें (अपने) गजेन्द्रोंके दन्ताग्ररूप कलमोंसे विजय-प्रशस्तिको लीलापूर्वक अर्थात् अनायास लिख दिया ।

विमर्श—दक्षिण समुद्रके तटपर चोल (तञ्जोर) की रमणियाँ अपने पतियोंके साथ एकान्तमें सम्भोग किया करती थीं, अतः वह तट उनके सम्भोग (या—रहस्य) को प्रत्यक्ष देखनेसे उसका साक्षी था । चालुक्य वंशमें उत्पन्न राजाओंने चोल देशके राजाओंको पराजित कर दिया और उनके श्रेष्ठ हाथियोने उन तटोंपर जो दन्त-प्रहार किये, वे दन्त-प्रहारके चिह्न चालुक्य राजाओंकी विजयप्रशस्ति बन गयी । विजयी राजा पराजित हुए राजाके देशमें शिला-स्तम्भ आदिपर अपनी विजय-प्रशस्ति खुदवा दिया करते हैं, वैसा चालुक्य-वंशीय राजाओके हाथियोने दन्तप्रहार कर स्वतः कर डाला अर्थात् गजेन्द्रोके दन्तप्रहारजन्य तीरस्थ चिह्नोंसे चालुक्यवंशीय राजाओंकी विजय सभीको सूचित हो जाती थी । इस महाकाव्यमें चोलदेशके राजाओंपर चालुक्यवंशीय राजाओकी इतिहास-प्रसिद्ध विजयका वर्णन आया है। यह 'चोल' देश 'द्रविड' देशसे भिन्न है और वर्तमानमें 'तञ्जोर' नामसे प्रसिद्ध है ॥ ६५ ॥

द्वीपक्षमापालपरम्पराणां दोर्विक्रमादुत्खनोन्मुखास्ते ।
विष्णोः प्रतिष्ठेति विभीषणस्य राज्ये परं सङ्कुचिता बभूवुः ॥६६॥

अन्वयः—दोर्विक्रमात् द्वीपक्षमापालपरम्पराणाम् उत्खननोन्मुखाः ते 'विष्णोः प्रतिष्ठा' इति (हेतोः) विभीषणस्य राज्ये परम् सङ्कुचिताः बभूवुः ।

सुधा—चालुक्यवंशजनृपाणां लङ्काविजयप्रस्थानाभावे कारणमाह—द्वीपेति। दोर्विक्रमात्—दोष्णां बाहूनां विक्रमात् शौर्यात् हेतोः ("भुजबाहू प्रवेष्टो दोः" इत्यमरः), द्वीपक्षमापालपरम्पराणाम्—द्वीपानां जलमध्ये स्वत उत्थितभूभागानां क्षमापाला भूपालास्तेषां परम्पराः समूहास्तेषामन्तरीपस्थनृपसमूहानाम्, ("द्वीपोऽस्त्रियामन्तरीपं यदन्तर्वारिणः स्थितम्" इत्यमरः), उत्खनोन्मुखाः—उत्खनन उत्पाटने समूलमुन्मूलने इति यावत् उन्मुखास्तत्परा उत्खननोन्मुखाः, ते चालुक्यवंशजा राजानः, विष्णोर्नररूपिणो रामचन्द्रस्य, प्रतिष्ठा माहात्म्यं स्थितिर्वेति हेतोः ("प्रतिष्ठे स्थितिमहात्म्ये" इति वैजयन्ती), विभीषणस्य

रावणानुजस्य, राज्ये लङ्कायाम्, परमत्यन्तम् [इदमपि क्रियाविशेषणं क्लीवं द्वितीयैकवचनञ्च], सङ्कुचिताः सङ्कोचवन्तो विजयेच्छारहिता इति यावत्, वभूवुः अभवन् । नररूपो विष्णू रामचन्द्रो विभीषणं लङ्काराज्येऽभिषिक्तवान्, इति मयाऽपि तत्प्रतिष्ठारक्षा करणीयेति विचार्य लङ्काविजयसमर्था अपि तद्विजयाभिलापं तत्यजुरिति भावः । अत्रेन्द्रवज्रावृत्तम् ।

सुधासार—वाहुवलसे द्वीपोंके राजाओंके समूहोंको उखाड़ने (पराजित करने) में तत्पर वे (चालुक्यवंशोत्पन्न राजालोग) 'नररूपधारी रामचन्द्र द्वारा स्थापित है' इस कारण विभीषणके राज्य (को पराजित करने) में अत्यन्त सङ्कुचित हो गये ।

विमर्श—चालुक्यवंशमें उत्पन्न उन राजाओंने वाहुवलसे द्वीपोंके राजाओंके समूहोंको पराजित कर दिया, किन्तु विष्णुके अवतार रामचन्द्रने विभीपणको लङ्काके राज्यपर अभिपिक्तकर स्थापित किया है, अतः 'मुझे उन विष्णु भगवान्की मर्यादाका पालन करना उचित है' यह विचारकर समर्थ होते हुए भी उन्होने लङ्कापर चढ़ाई नही की ॥ ६६ ॥

द्वीपेषु कर्पूरपरागपाण्डुष्वासाद्य लीलापरिवर्तनानि ।
भ्रान्त्या तुषाराद्रितटे लुठन्तः शीतेन खिन्नास्तुरगा यदीयाः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—यदीयाः तुरगाः कर्पूरपरागपाण्डुपु द्वीपेषु लीलापरिवर्तनानि आसाद्य भ्रान्त्या तुपाराद्रितटे लुठन्तः शीतेन खिन्नाः (अभवन्) ।

सुधा—दक्षिणाब्धिमारभ्याहिमाचलं ते राज्ञो विजितवन्त इत्याह—द्वीपेष्विति । यदीयाः—येषामिमे यदीया यत्सम्वन्धिनः ['य'च्छब्दस्य "त्यदादीनि च" इति 'वृद्ध' संज्ञायां "वृद्धाच्छः" इति 'छ' प्रत्यये तस्येयादेशः], तुरगाः हयाः ("घोटके पीतितुरगतुरङ्गाश्वतुरङ्गमाः । वाजिवाहार्वगन्धर्वहयसैन्धवसप्तयः" इत्यमरः) [तुरेण त्वरया गच्छन्तीति विग्रहे "अन्येभ्योऽपि दृश्यते" इति 'ड' प्रत्यये डित्त्वाट्टेर्लोपः], कर्पूरपरागपाण्डुरेषु—कर्पूरस्य घनसारस्य परागैर्धूलिभिः पाण्डुरेषु शुभ्रेषु कर्पूरपरागपाण्डुषु घनसारधूलिश्वेतवर्णेषु ("अथ कर्पूरमस्त्रियां) । घनसारश्चन्द्रसंज्ञः सिताभ्रो हिमवालुकः" इत्यमरः । ("परागः सुमनोरेणौ धूलिस्नानीययोरपि" इति मेदिनी), द्वीपेष्वन्तरीपेषु ("द्वीपोऽस्त्रियामन्तरीपं यदन्तर्वारिणः स्थितम्" इत्यमरः), लीलापरिवर्तनानि—लीलया क्रीडया परिवर्तनानि श्रमापनोदार्थं लुण्ठनानि, आसाद्य प्राप्य ['आङ्' पूर्वकात् 'पद्' धातोः 'क्त्वा'प्रत्ययस्तस्य 'ल्यवा'देशश्च], (हिमाचलोपत्यकामा,

गतास्तुषारधवलतां विलोक्य कर्पूरधूलि-) भ्रान्त्या भ्रमेण, तुषाराद्रितटे— तुषाराद्रेर्हिमाचलस्य तटे तीरे, लुठन्तः स्वभावतः श्रमापनोदनार्थं देहपरिवर्तनानि कुर्वन्तः, शीतेन हिमगुणेन ("शीतं हिमगुणे क्लीबं शीतलालसयोस्त्रिषु। वानीरे बहुवारे ना" इति मेदिनी), खिन्नाः खेदयुक्ताः ['खिद' धातोर्भूतार्थे निष्ठा 'क्त' प्रत्ययः], अभूवन्निति शेषः। दक्षिणदिग्देशेषु कर्पूरपरागभूमौ लुण्ठनेन विश्रान्तास्तदीया हया हिमाचलतटे शुभ्रतुषारं कर्पूरं मत्त्वा लुठन्तः शैत्येन खेदयुक्ता जाताः। अनेन दक्षिणदिग्द्वीपदेशान् विजित्य चालुक्यवंशजा राजानो हिमाचलनिकषावर्तिनो देशानपि विजितवन्त इति सूच्यते। हिमाद्रिस्थतुषारे शुभ्रत्वसादृश्यात् कर्पूरभ्रान्त्याऽत्र भ्रान्तिमानलङ्कारः, "सादृश्याद्वस्त्वन्तरप्रतीतिर्भ्रान्तिमान्" इत्यलङ्कारसर्वस्वम्। अत्रेन्द्रवज्राच्छन्दः।

सुधासार—जिन (चालुक्यवंशीय भूपतियों) के घोड़े कर्पूरपरागसे श्वेतवर्ण द्वीपोंमें लोटकर हिमालयके तटमें (यह भी कर्पूरपरागमयी ही भूमि है, इस) भ्रमसे लोटते लुए ठंडकसे खिन्न हो गये।

विमर्श—इससे चालुक्यवंशीय भूपतियोंका पहले दक्षिण-समुद्रके कर्पूरद्वीपोंको जीतकर हिमाचल-तटवर्ती देशोंको भी जीतना सूचित होता है ॥ ६७ ॥

श्रीतैलपो नाम नृपः प्रतापी क्रमेण तद्वंशविशेषकोऽभूत्।
क्षणेन यः शोणितपङ्कशेषं सङ्ख्ये द्विषां वीररसञ्चकार ॥ ६८ ॥

अन्वयः—प्रतापी श्रीतैलपः नाम नृपः क्रमेण तद्वंशविशेषकः अभूत्, यः संख्ये द्विषाम् वीररसम् क्षणेन शोणितपङ्कशेषम् चकार।

सुधा—इत आरभ्य त्रिसप्ततितमपद्यान्तं 'श्रीतैलप'नृपं वर्णयितुमारभते—श्रीति। प्रतापी प्रभाववान् ("स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोषदण्डजम्" इत्यमरः), ["अत इनिठनौ" इति 'प्रताप' शब्दादिनिप्रत्ययः], श्रीतैलपो नाम 'श्रीतैलप'नामकः, नृपः—नॄन् पातीति नृपो राजा ['नृ' शब्दोपपदात् 'पा' रक्षणे इति धातोः "आतोऽनुपसर्गे कः" इति 'क' प्रत्यये "आतो लोप इटि च" इति धातोराकारस्य लोपः], क्रमेण क्रमशः, तद्वंशविशेषकः—स चासौ वंश इति तस्य वंश इति वा तद्वंशश्चालुक्यकुलं तस्य विशेषकस्तिलकः ("विशेषकोऽस्त्री तिलके विशेषयितरि त्रिषु" इति मेदिनी), अभूद् बभूव; यः श्रीतैलपः, संख्ये युद्धे ("युद्धमायोधनं जन्यं प्रधनं प्रविदारणम्। मृधमास्कन्दनं संख्यं समीकं साम्परायिकम्। …" इत्यमरः) [संख्यानमिति 'चक्षिङः' 'ख्याते'र्वा भावे 'क' प्रत्यये 'संख्य'मिति], द्विषां रिपूणां ("रिपौ वैरिसपत्नारि-

द्विषद्द्वेषणदुर्हृदः । द्विड्विपक्षाहितामित्रदस्युशात्रवः ।'''' इत्यमरः) ['द्विष्' धातोः, 'क्विप्' प्रत्ययः], वीररसं वीराख्यमुत्साहम् वीरजलं वा (श्रृङ्गारादिनवरसेष्वन्यतमं, ते च नव रसाः—"श्रृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः । बीभत्साऽद्भुत इत्यष्टौ रसाः शान्तस्तथा मतः" इति विश्वनाथः । जलपक्षे तु—"रसो गन्धरसे जले । श्रृङ्गारादौ विषे वीर्ये तिक्तादौ द्रवरागयोः । देहधातुप्रभेदे च पारदस्वादयोः पुमान्" इति मेदिनी), क्षणमात्रेणात्यल्पसमयेनेत्यर्थः, त्रिंशत्कलामानात्मकेन समयेनोत्सवेन वा ("अष्टादश निमेषाः स्युः काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला । तास्तु त्रिंशत् क्षणः" इत्यमरः, "क्षणः पर्वोत्सवव्यापारेषु मानेऽप्यनेहस." इति मेदिनी), शोणितपङ्कशेषम् शोणितपङ्को रक्तजम्बाल एव शेषोऽवशेषो यस्य तं रक्तजम्बालमात्रावशेषम् ("निषद्वरस्तु जम्बालः पङ्कोऽस्त्री शादकर्दमौ" इत्यमर.) ['पच्यते' इति विग्रहे 'पचि' विस्तारे इति चौरादिकाद्धातोः कर्मणि "अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्" इति "हलश्च" इति वा 'घञ्' प्रत्यये 'पङ्कम्' इति], चकार कृतवान् । चालुक्यवंशजः श्रीतैलपो नृपः क्षणमात्रेण शत्रून् हतवानिति भावः । द्वितीयतृतीयचरणयोरुपेन्द्रवज्रा प्रथमचतुर्थचरणयोश्चेन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'माया'ख्योपजातिः ।

सुधासार--प्रतापी श्रीतैलप राजा उस (चालुक्य) वंशका तिलक (श्रेष्ठ) हुआ, जिसने युद्धमें शत्रुओंके वीररस (या—वीररूप जल) को क्षणमात्रमें (या—उत्सवपूर्वक अर्थात् अनायास रक्तसे) कीचड़मात्रावशिष्ट कर दिया ।

विवर्श—उस चालुक्य-वंशमें श्रेष्ठ श्रीतैलप प्रतापी राजा हुआ, जिसने युद्धमें शत्रुओंको मार डाला, अतः जल सूखनेपर जैसे कीचड़मात्र रह जाता है, वैसे ही शत्रुओंका वीररस रक्तमिश्रित कीचड़मात्र बच गया अर्थात् युद्धके मैदानमें शत्रुओंके रक्तसे मिला केवल कीचड़ ही शेष रह गया । उन शत्रुओंकी वीरता एकदम नष्ट हो गयी ।। ६८ ।।

विश्वम्भराकण्ठकराष्ट्रकूटसमूलनिर्मूलनकोविदस्य ।
सुखेन यस्यान्तिकमाजगाम चालुक्यचन्द्रस्य नरेन्द्रलक्ष्मीः ।। ६९ ।।

अन्वय—विश्वम्भराकण्टकराष्ट्रकूटसमूलनिर्मूलनकोविदस्य (अत एव) चालुक्यचन्द्रस्य यस्य अन्तिकम् नरेन्द्रलक्ष्मीः सुखेन आजगाम ।

सुधा—विश्वम्भरा-कण्टक-राष्ट्रकूट-समूल-निर्मूलन-कोविदस्य—विश्वं बिभर्तीति विश्वम्भरा भूमिस्तस्यास्तस्यां वा यः कण्टकः कण्टकतुल्यकष्टप्रदो राष्ट्रकूटो 'राष्ट्रकूट'नाम्ना ख्यातो भूपतिवंशविशेषो, राष्ट्राणां कूटः समूह इति वा,

तस्य समूलं मूलेन सह यथा स्यात्तथा निर्मूलने समुत्पाटने नाशन इति यावत् कोविदस्य विचक्षणस्य ("भूर्भूमिरचलाऽनन्ता रसा विश्वभरा स्थिरा।...." इत्यमरः, "विद्वान् सन् कोविदः सूरिर्मेधावी पण्डितो बुधः। सुधीर्विपश्चित्संख्यावान् प्राज्ञो धीमान् विचक्षणः" इति वैजयन्ती, "अथ राष्ट्रोऽस्त्री विपये स्यादुपद्रवे" इति, "मायानिश्चलयन्त्रेषु कैतवानृतराशिषु। आयोघने शैलशृङ्गे सीराङ्गे कूटमस्त्रियाम्" इति च अमरः) ['विश्वम्भरा' इत्यत्र 'डुभृञ्' धारणपोपणयोरिति घातोः "संज्ञायां भृतॄवृजिधारिसहितपिदमः" इति 'खच्' प्रत्यये "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इति 'मुमा'गमे टाप्], चालुक्यचन्द्रस्य--चालुक्यश्चन्द्र इवेति तस्य चन्द्रवदाह्लादकस्य चालुक्यवंशजस्य [उपमानोत्तरपदस्तत्पुरुषसमासः], यस्य श्रीतैलपस्य, अन्तिक निकटे ("अन्तिकं निकटे वाच्यलिङ्गं स्त्री शीतलौषधौ" इति मेदिनी), नरेन्द्रलक्ष्मीः—नराणामिन्द्रो नरेन्द्रो राजा तस्य लक्ष्मीः श्रीः राजश्रीरित्यर्थः, सुखेनानायासेन ["प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्" इति तृतीया विभक्ति], आजगामागता। राष्ट्रकूटवंशस्य समूलमनेन नाशे कृते राजलक्ष्मीरेनं श्रीतैलपं प्रापदिति भावः। विश्वम्भराकण्टकस्य राष्ट्रकूटेन सह चालुक्यस्य च चन्द्रेण सह साम्यादत्रोपमालङ्कारः, राष्ट्रकूट इत्यत्र श्लेपालङ्कारश्च। द्वितीयतृतीयपादयोरुपेन्द्रवज्रा प्रथमचतुर्थपादयोश्चेन्द्रवज्रेत्यतोऽत्रापि माया'ख्योपजातिः।

सुधासार—पृथ्वीके कण्टकतुल्य 'राष्ट्रकूट'वंश (या —जनपद समूह) को जड़से उखाड़ने (नष्ट करने) में विचक्षण (अत एव) चालुक्यवंशमें चन्द्रमाके समान जिस (श्रीतैलप) राजाके पास राजलक्ष्मी सुखसे (अनायास ही) आ गयी।

विमर्श--पृथ्वीपर उत्पन्न काँटेको जिस प्रकार जड़से उखाड़कर नष्ट कर दिया जाता है, उसी प्रकार श्रीतैलपने भूतलके कष्टप्रद 'राष्टकूट'वंशको समूल नष्टकर निष्कण्टक राज करने लगा॥ ६९॥

शौर्योष्मणा स्विन्नकरस्य यस्य सङ्ख्येषु खड्गः प्रतिपक्षकालः।
पुरन्दरप्रेरितपुष्पवृष्टिपरागसङ्गान्निबिडत्वमाप ॥ ७०॥

अन्वयः—संख्येषु शौर्योष्मणा स्विन्नकरस्य यस्य प्रतिपक्षकालः खड्गः पुरन्दरप्रेरितपुष्पवृष्टिपरागसङ्गात् निबिडत्वम् आप।

सुधा--सख्येषु युद्धेषु ("मृधमाक्रन्दनं युद्धं सामिकं साम्परायिकम्। आयोधनं रणं संख्यं प्रधनं प्रविदारणम्" इति वैजयन्ती), शौर्योष्मणा--शूरस्य भावः शौर्यं वीरत्वं तस्योष्मणा वाष्पेण वीरत्वदर्पेणेति यावत् ("ग्रीष्मोष्णवाष्पा ऊष्माणः" इति वैजयन्ती), स्विन्नकरस्य—स्विन्नः स्वेदयुक्तः करो हस्तो

यस्य स स्विन्नकरस्स्वेदयुक्तहस्तस्तस्य यस्य श्रीतैलपस्य, प्रतिपक्षकालः—प्रतिपक्षाणां वैरिणां कालो मृत्युरूपो यम इति यावत् ("सपत्नोऽसहनो वैरी द्रूपकः शात्रवः परः । प्रत्यर्थी पर्यवस्थाता प्रतिपक्षो विपक्षक । ..." इति वैजयन्ती, "कालो मृतौ महाकाले समये यमकृष्णयोः" इति मेदिनी), खड्गः करवालः, पुरन्दरप्रेरितपुष्पवृष्टिपरागसङ्गात्—पुरन्दारयतीति पुरन्दर इन्द्रस्तेन प्रेरिता प्रवर्तिता विहितेति यावत् या पुष्पाणां कुसुमानां वृष्टिर्वर्षणं तस्य परागो धूलिः किञ्जल्क इत्यर्थस्तस्य सङ्गात्संपर्कात् इन्द्रकृतसुमनोवर्षणपरागसम्पर्कात् ("इन्द्रो मरुत्वान्मघवा विडोजाः पाकशासनः । वृद्धश्रवा सुनासीरः पुरुहूतः पुरन्दरः । ...." इति, "परागः कौसुमे रेणौ स्नानीयादौ रजस्यपि" इति च अमरः) ['पुरन्दर' इति "वाचंयमपुरन्दरौ च" इति निपातनात्साधु], निविडत्वम्—निविडस्य भावो निविडत्वं सान्द्रत्वं दृढत्वमिति यावत्, आप प्राप्तवान् । ऊष्मणा स्वेदयुक्तस्य हस्तस्य रज.संसर्गाच्छुष्कता जायते, प्रकृते यद्धेषु शौर्योष्मणा करे स्विन्ने खड्गग्रहणे जातं शैथिल्यं शक्रकृतपुष्पवृष्टिपरागसंसर्गाद् दूरीकृत्य दृढतया खड्गस्य ग्रहणं कृतवान् । अयं श्रीतैलपः समरे शत्रून् हतवानतः प्रसन्नोऽमरेन्द्रः नभस. पुष्पवृष्टिं कृतवानिति भावः। खड्गे प्रतिपक्षकालत्वारोपाद्रूपकालङ्कारः। पूर्वार्द्धोत्तरार्द्धयोः क्रमेणेन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रे अतोऽत्र 'माया'ख्योपजातिः ।

सुधासार—युद्धोंमें शूरताकी गर्मी अर्थात् दर्पसे पसीजे हुए हाथवाले जिस (श्रीतैलप) की शत्रुओंके काल (मृत्यु, या—यमराज) रूप तलवारने इन्द्रके द्वारा की गयी फूलोंकी पुष्पवृष्टिके परागके संसर्गसे दृढ़ताको प्राप्त किया ।

विमर्श—गर्मीके कारण उत्पन्न पसीनेसे हाथ पसीजनेपर पकड़ी गयी कोई वस्तु ढीली पड़ जाती है, किन्तु धूल रगड़नेसे हाथ सूखकर उस वस्तुको दृढ़तासे पकड़ लेता है। प्रकृतमें—श्रीतैलपने युद्धोंमें शत्रुओंको तलवारसे मार डाला, तव उनका हाथ शौर्याभिमानरूपी गर्मीसे हाथके पसीजनेपर तलवार पकड़नेमें ढीली पड़ने लगी, उसे आकाशसे इन्द्र द्वारा की हुई पुष्पवृष्टिके परागसे हाथको शुष्क करनेपर तलवार पुनः अच्छी तरह (दृढ़तासे) पकड़ी गयी ।। ७० ।।

यस्याञ्जनश्यामलखड्गपट्टजातानि जाने धवलत्वमापुः ।
अरातिनारीशरकाण्डपाण्डुगण्डस्थलीनिर्लुठनाद्यशांसि ।। ७१ ।।

अन्वयः—यस्य अञ्जनश्यामलखड्गपट्टजातानि यशांसि अरातिनारीशरकाण्डपाण्डुगण्डस्थलीनिर्लुठनात् धवलत्वम् आपुः (इति अहम्) जाने ।

सुधा—यस्य श्रीतैलपस्य, अञ्जन-श्यामल-खड्गपट्ट-जातानि—अञ्जनमिव

कज्जलमिव श्यामलः श्यामवर्णो यो खड्गपट्टः करवालस्तस्माज्जातानि समुद्भूतानि कज्जलवच्छ्यामवर्णकरवालसमुद्भूतानि ("अञ्जनं कज्जले चाक्तौ सौवीरे च रसाञ्जने। पुंसि ज्येष्ठादिग्गजयोरञ्जना वानरीभिदि। अञ्जनी लेप्यनार्यां च" इति मेदिनी) [अञ्जनश्यामल इत्यत्र "उपमानानि सामान्यवचनैः" इति उपमानपूर्वपदकर्मधारयः], यशांसि कीर्तयः, अराति-नारी-शरकाण्ड पाण्डु-गण्डस्थली निर्लुठनात्—अरातीनां रिपूणां नार्यः पत्न्योऽरातिनार्यस्तासां शरकाण्ड इव गुन्द्रस्तम्ब इव पाण्डवो धवला या गण्डस्थल्यः कपोलस्थल्यस्तासु निर्लुठनाल्लुण्ठनात् शत्रुपत्नीनां शरकाण्डतुल्यधवलकपोलस्थलेषु लुण्ठनात् ("गुन्द्रस्तेजनकः शरः" इति, "काण्डोऽस्त्री दण्डबाणार्ववर्गावसरवारिषु" इति, "गण्डौ कपोलौ" इति च अमरः), धवलत्वं शुभ्रताम्, आपुः प्रापुः (इत्यहं) जाने मन्ये। "मालिन्ये व्योम्नि पापे, यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्योः" इति वचनेन यशसो धवलत्व कविनमयप्रसिद्धम्। अञ्जनवच्छ्यामलखड्गजातानां यशसां श्यामवर्णस्यौचित्येऽपि पतिमरणेन त्यक्तकुङ्कुमादिलेपाना शत्रुपत्नीनां धवलगण्डस्थलीसम्पर्काद्धवलतेति मन्ये शत्रवो निहताः श्रीतैलपस्य यशांसि प्रसृतानीति तात्पर्यम्। अत्राञ्जनेन सह खड्गस्य श्यामलतया साम्यात् गण्डस्थल्याः पाण्डुतया शरकाण्डेन साम्याच्चोपमालङ्कारः, श्यामलखड्गजातयशसां धवलताया अरातिनारीशरकाण्डपाण्डुगण्डस्थलीनिर्लुठनस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षालङ्कारः "जाने" इति पदस्योत्प्रेक्षावाचकत्वात्, तदुक्तं विश्वनाथेन—"मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः" इति। अत्र तृतीयचरण उपेन्द्रवज्रा प्रथमद्वितीयचतुर्थपादेष्विन्द्रवज्रेत्यतो 'भद्रा'-ख्योपजातिः।

सुधासार—जिस (श्रीतैलप) के कज्जलके समान श्यामवर्णवाली तलवारसे उत्पन्न यश (अपने पतियोंके मारे जानेसे) शत्रुओंकी स्त्रियोके शिर पत्तेके समान श्वेत कपोलस्थल पर लौटनेसे श्वेत हो गये है (ऐसा मैं) जानता हूँ।

विमर्श—श्रीतैलपने शत्रुओंको तलवारसे मार डाला, अत एव उनकी विधवा स्त्रियोंके कपोल चन्दन-कुङ्कुमादिरचित पत्त्रावलियोंसे शून्य होनेके कारण श्वेत हो गये। यद्यपि श्रीतैलपके यशको उनकी श्यामवर्ण तलवारसे उत्पन्न होनेके कारण ("कारणानुसार कार्योत्पत्ति होती है" इस नियमानुसार) श्यामवर्ण ही होना चाहिए था, किन्तु उन शत्रुपत्नियोंके श्वेत कपोलस्थलके सम्बन्धसे वे यश भी मानो श्वेत हो गये है। काली वस्तुपर

श्वेत वस्तु लिपेटनेपर श्वेत होना स्वाभाविक ही है। श्रीतैलपके शुभ्रयश शत्रुओंके मारनेसे फैल गये ॥ ७१ ॥

स्फूर्जद्यशोहंसविलासपात्रं निस्त्रिंशनीलोत्पलमुत्प्रभं यः ।
उत्तंसहेतोरिव वीरलक्ष्म्या संग्रामलीलासरसश्चकर्ष ॥ ७२ ॥

अन्वयः––यः उत्प्रभम् स्फूर्जद्यशोहंसविलासपात्रम् निस्त्रिंशनीलोत्पलम् संग्रामलीलासरसः वीरलक्ष्म्याः उत्तंसहेतोः इव चकर्ष ।

सुधा—यः श्रीतैलपः, उत्प्रभम्–उदूर्ध्वं गता प्रभा छविर्यस्य तदुपरि प्रसृतच्छवि [बहुव्रीहिसमासे "वोपसर्जनस्य" इति 'प्रभा' शब्दस्य ह्रस्वः], स्फूर्जद्यशोहंसविलासपात्रम्—स्फूर्जत् समेधमानं यशः कीर्तिरेव हंसो मरालस्तस्य विलासः क्रीडा तस्य पात्रं भाजनं समेधमानयशोहंसक्रीडाभाजनम् ("हंसो मरालो नीलाक्षश्चक्रयक्षः सितच्छदः । मानसौकाः परिप्लावी वक्राङ्गो जालपादकः।…" इति, "पात्रं तु भाजने योग्ये वित्ते कूलद्वयान्तरे" इति च वैजयन्ती), निस्त्रिंशनीलोत्पलम्–निर्गतस्त्रिंशद्भ्योऽङ्गुलिभ्य इति निस्त्रिंशः खड्गः, नीलं च तदुत्पलं चेति नीलोत्पलं नीलकमलमिन्दीवरमिति यावत्, निस्त्रिंश एव नीलोपलमिति निस्त्रिंशनीलोत्पलं खड्गेन्दीवरम् ("निस्त्रिंशः क्रूरखड्गयोः" इति, "नीलोत्पलं च कन्दोष्ठं कन्दोऽब्जं कर्णभूषणम् । इन्दीवरं च नीलाब्जम्" इति च वैजयन्ती) ['निस्त्रिंश' इत्यत्र "निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या" इति समासः], संग्रामलीलासरसः—संग्रामो रण एव लीलासरः क्रीडाकासारस्तस्मात् रणरूपक्रीडाकासारात् ("कासारः सरसी सरः" इत्यमर-वैजयन्त्यौ), वीरलक्ष्म्या वीरश्रियः, उत्तंसहेतोः कर्णपूरकारणात् कर्णपूरायेति भावः ("वतंसोत्तंसावतंसाः कर्णपूरेऽपि शेखरे" वैजयन्ती), इव यथा, चकर्षाकृष्टवान् । संग्रामे लीलासरसोऽभेदः, शुभ्रत्वसादृश्याद्यशसि हंसस्याभेदः, अभेदावेतौ निस्त्रिंशाभेदप्राप्ते नीलोत्पले हंसविलासपात्रत्वारोपे हेतुत्वेनाङ्गीकृताविति कारणादत्र परम्परितरूपकालङ्कारः, निस्त्रिंशाकर्षणे उत्तंसनिर्माणस्य कारणत्वेनोत्प्रेक्षणाद्धेतूत्प्रेक्षालङ्कारश्च । अत्रेन्द्रवज्रावृत्तम् ।

सुधासार––जिस (श्रीतैलप) ने ऊपर निकलती हुई प्रभावाले एवं बढते हुए यशोरूप हंसके विलासके भाजन (योग्य) तलवाररूपी नीलकमलको युद्धरूपी लीलासरोवरसे मानों वीरलक्ष्मीके कर्णभूषणके कारणसे अर्थात् वीरलक्ष्मीके कर्णभूषण बनानेके वास्ते खींच लिया ।

विमर्श––जिस प्रकार कोई विलासप्रिय पुरुष हंसके विलासयोग्य तालाब

से नीलकमलको अपनी प्रेयसीके कर्णभूषणके लिए निकालता है, उसी प्रकार श्रीतैपलने यशोविलास-पात्र तलवारको युद्धभूमिमें म्यानसे वीरलक्ष्मीके कर्ण-भूषण बनवानेके लिए निकाल लिया ॥ ७२ ॥

विधाय सैन्यं युधि साक्षिमात्रं दासीकृतायाः प्रातिपक्षलक्ष्म्याः ।
यः प्रातिभाव्यार्थमिवाजुहाव महाभुजः शत्रुनरेन्द्रकीर्तिम् ॥ ७३ ॥

अन्वयः—महाभुजः यः युधि सैन्यम् साक्षिमात्रम् विधाय दासीकृतायाः प्रतिपक्षलक्ष्म्याः प्रातिभाव्यार्थम् इव शत्रुनरेन्द्रकीर्तिम् आजुहाव ।

सुधा—महाभुजः—महान्तौ आजानु लम्बमानौ भुजौ बाहू यस्य स आजानुबाहुः ("अनेकमन्यपदार्थे" इति समासे "आन्महतः समानाधिकरण-जातीययोः" इति महच्छब्दस्यात्वम्], यः श्रीतैलपनृपः, युधि युद्धे, सैन्यं सेनायां समवेतं सैनिकपुरुषमिति यावत् ("सेनायां समवेता ये सैन्यास्ते सैनिकाश्च ते"' इत्यमरः) ["सेनाया वा" इति 'सेना' शब्दात् 'ण्य' प्रत्यये आदिवृद्धिरन्त्यलोपश्च], साक्षिमात्रम्—साक्षी एवेति साक्षिमात्रं केवलं साक्षाद् द्रष्टारं ("मात्रा कर्णविभूषायां वित्ते माने परिच्छदे । अक्षरावयवे स्वल्पे क्लीबं कार्त्स्न्येऽवधारणे" इति मेदिनी) ["साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्" इति 'साक्षी'ति सिद्धं 'साक्षिमात्र'मित्यत्रावधारणोत्तरपदकर्मधारयसमासः], विधाय कृत्वा, सैनिकसाहाय्यं विनैवबाहुबलेन शत्रून् विजित्येत्याशयः, दासी-कृतायाः दासीत्वं नीतायाः प्रतिपक्षलक्ष्म्याः—प्रतिपक्षिणां शत्रूणां लक्ष्मीः राजश्रीः प्रतिपक्षलक्ष्मीस्तस्याः प्रातिभाव्यार्थम्—प्रतिभूर्लग्नकः ('जमानत-दार' इति ख्यातः) तस्य भावः प्रातिभाव्यं तस्मै इदमिति प्रातिभाव्यार्थं लग्नकत्वाय ["स्युर्लग्नकाः प्रतिभुवः ।" इत्यमरः) ['प्रतिभू' शब्दात् "गुण-वचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च" इति 'ष्यञ्' प्रत्यये "हृद्भगसिन्ध्वन्तेभ्यः पूर्वपदस्य च" इति इत्युभयपदवृद्धौ 'प्रातिभाव्य'मिति, ततः "प्रातिभाव्या"-येदमिति विग्रहे "अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्" इति समासादौ 'प्रातिभाव्यार्थम् इति पदम्] इव, शत्रुनरेन्द्रकीर्तिम्—शत्रवश्च ते नरेन्द्रा राजानश्चेति शत्रुनरेन्द्रास्तेषां कीर्ति यश इति शत्रुनरेन्द्रकीर्ति वैरि-भूतनृपतियशः, आजुहावाहूतवान् । युद्धे साक्षिमात्रं सैनिकं कृत्वा तत्साहाय्यं विनैव स्वबाहुबलेन शत्रुनृपान् श्रीतैलपः पराजितवान्, तेषां राजश्रिया सहैव तत्कीर्तिरप्येनं प्रापेति भावः । प्रातिभाव्यार्थमिवेत्यत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः । अत्रा-द्यन्तपादयोरुपेन्द्रवज्रा मध्यस्थपादयोरिन्द्रवज्रेत्यत 'आर्द्रा'नाम्न्युपजातिः ।

सुधासार—आजानुबाहु जिस (श्रीतैलप) ने युद्धमें सैनिकोंको केवल

साक्षी वनाकर अर्थात् सैनिकोंकी सहायताके विना ही शत्रु राजाओंको हराकर दासी वनायी गयी (वशमे की गयी) शत्रुओंकी राजलक्ष्मीको मानो जामिनके लिए वुला लिया।

विमर्श—महावाहु श्रीतैलपने केवल अपने वाहुवलसे युद्धमें शत्रु राजाओं को हराकर उनकी राजलक्ष्मीको अपने वशमें कर लिया और उनकी कीर्तिको भी मानो इस लिए वुला लिया कि वह शत्रुओंकी राजलक्ष्मीके साथ उनकी कीर्ति भी श्रीतैलपको प्राप्त हो गयी। लोक-व्यवहारानुसार किसी प्रकारके लेन देन आदिमे दूसरे व्यक्तिके जामिन होनेसे यह कार्य दृढ़ माना जाता है॥७३॥

चालुक्यवंशामलमौक्तिकश्रीः सत्याश्रयोऽभूदथ भूमिपालः।
खड्गेन यस्य भ्रुकुटिक्रुधेव द्विषां कपालान्यपि चूर्णितानि॥ ७४॥

अन्वयः—अथ चालुक्यवशामलमौक्तिकश्रीः सत्याश्रयः भूमिपालः अभूत यस्य भ्रुकुटिक्रुधा इव खड्गेन द्विषाम् कपालानि अपि चूर्णितानि।

सुधा—इतः प्राक् षड्भिः श्लोकैः श्रीतैलपमुपवर्ण्य साम्प्रतं पञ्चभिः श्लोकैः सत्याश्रय नृपं वर्णयितुमुपक्रमते—चालुक्येति। अथ श्रीतैलपनृपान्तरम्, चालुक्यवंशामलमौक्तिकश्रीः—चालुक्यानां वशः कुलं (पक्षे –चालुक्य एव वंशो वेणुः इति) चालुक्यवंशस्तस्यामलं निर्मलं मौक्तिकं मुक्ताफलं तस्य श्रीरिव श्रीः शोभा (पक्षे—सम्पत्तिः) यस्य स चालुक्यवंशामलमौक्तिकश्रीश्चालुक्यकुलोत्पन्नविमलमुक्ताफलसंपत्तिः (पक्षे—चालुक्यरूपवेणूत्पन्नमुक्ताफलकान्तिः) ("करीन्द्रजीमूतवराहशङ्खमत्स्याहिशुक्त्युद्भववेणुजानि। मुक्ताफलानि प्रथितानि लोके तेषां तु शुक्त्युद्भवमेव भूरि" इति वेणोरपि मुक्तोत्पत्तिः) (मुक्तैव 'मौक्तिक'मित्यत्र "विनयादिभ्यष्ठक्" इति 'ठक्' प्रत्यये "ठस्येकः" इति ठस्येकादेशे कित्त्वादादिवृद्धिः], सत्याश्रयः—सत्यमेवाश्रयो यस्य सत्यास्याश्रय इति वा 'सत्याश्रय' इत्यन्वर्थनामकः भूमिपालः—भूमिं पृथ्वीं पालयति रक्षतीति स पृथ्वीपालो नृप इति यावत्, अभूत् वभूव। यस्य सत्याश्रयनृपस्य, भ्रुकुटिक्रुधा– भ्रुवः कुटिर्भ्रुकुटिस्तस्याः क्रुत् क्रोधस्तया भ्रुकुटिक्रोधेन ("भ्रकुटिर्भ्रुकुटिर्भ्रूकुटि स्त्रियाम्" इत्यमरः "अथ भ्रुकुटिर्भ्रूकुटिः स्त्रियाम्। भ्रकुटिर्भृकुटिः सारी काली तीरतरङ्गिका" इति वैजयन्ती च, "कोपक्रोधामर्षरोषप्रतिघा रुट्क्रुधौ स्त्रियौ" इत्यमरः) ['कुट' कौटिल्ये इति धातोः "इगुपधात् कित्" इतीन् प्रत्यये 'कुटिः' ततो भ्रुवः कुटिरिति विग्रहे 'भ्रुकुटिः' इति], इव यथा, खड्गेन कृपाणेन ("खड्गे तु निस्त्रिंशचन्द्रहासासिरिष्टयः। कौक्षेयको मण्डलाग्रः करवालः कृपाणवत्"

इत्यमरः) [खण्डति परं खण्ड्यतेऽनेनेति वा विग्रहे 'खडि' भेदने इति धातोः "छापूखडिभ्यः कित्" इति 'गन्' प्रत्यये 'आगमशास्त्रमनित्यम्' इत्युक्तेर्नुमागमाभावः], द्विषाम्—द्विषन्तीति द्विषो रिपवस्तेषां रिपूणाम्, कपालानि शिरोऽस्थीनि ("कपालोऽस्त्री शिरोऽस्थिन स्याद् घटादेः शकले व्रजे" इति मेदिनी), अपि च, चूर्णितानि शकलितानि। ईषत्कुटिलतया श्यामलतया च खड्गभ्रुकुटिक्रुधोः साम्यम्, खड्गोपरि भ्रुकुटिक्रुधोरुत्प्रेक्षालङ्कारः, वंशे वेणुत्वारोपो भूपाले मौक्तिकारोपे हेतुरित्यतः परम्परितरूपकम्। आद्येषु त्रिषु पादेष्विन्द्रवज्रा चरमे पादे चोपेन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'बाला'ख्योपजातिः।

सुधासार—इस (श्रीतैलपराजा) के बाद चालुक्य कुलके (पक्षान्तरमें—चालुक्यरूपी बाँससे उत्पन्न) निर्मल मोतीके समान सम्पत्तिवाला (पक्षान्तरमें—शोभावाला) 'सत्याश्रय' नामक राजा हुआ, जिसकी 'भ्रुकुटि'के क्रोध-जैसी तलवारने शत्रुओंकी खोपड़ियोको चूर्ण कर दिया।

विमर्श—चालुक्य वंशोत्पन्न 'सत्याश्रय' की तलवार उसकी भ्रुकुटिके समान थी, उससे इस सत्याश्रयने शत्रुओंकी खोपड़ियोंको टुकड़े-टुकड़े कर दिये। यहाँपर तलवारमें भ्रुकुटिका आरोप करनेसे महाकविने यह सूचित किया है कि जिस प्रकार भ्रुकुटिके चलानेमें कोई श्रम नहीं करना पड़ता, उसी प्रकार सत्याश्रयको तलवार चलानेमें भी कोई परिश्रम करना नहीं पड़ा और उसने अनायास शत्रुओंका नाश कर डाला॥ ७४॥

यस्येषवः संयुगयामिनीषु प्रोतप्रतिक्ष्मापतिमौलिरत्नाः।
गृहीतदीपा इव विन्दते स्म खड्गान्धकारे रिपुचक्रवालम्॥ ७५॥

अन्वयः—संयुगयामिनीषु प्रोतप्रतिक्ष्मापतिमौलिरत्नाः यस्य इषवः खड्गान्धकारे गृहीतदीपाः इव रिपुचक्रवालम् विन्दते स्म।

सुधा—संयुगयामिनीषु—संयुगाः समरा एव यामिन्यो रात्रयः इति संयुगयामिन्यस्तासु समररात्रिषु ("अथ शर्वरी, निशा निशीथिनी रात्रिस्त्रियामा क्षणदा क्षपा। विभावरीतपस्विन्यौ रजनी यामिनी तमी" इत्यमरः) [भयकारणत्वात् निन्दिता यामा यासां ताः इति विग्रहे निन्दायाम् "अत इनिठनौ" इति 'इनि' प्रत्यये "ऋन्नेभ्यो ङीप्" इति ङीप्], प्रोतप्रतिक्ष्मापतिमौलिरत्नाः—प्रोतान्योतानि प्रतिक्ष्मापतीनां प्रतिपक्षिभूपतीनां मौलिरत्नानि शिरःस्थमणयो येषु ते प्रोतप्रतिक्ष्मापतिमौलिरत्नाः प्रोतशत्रुभूपतिशिरोमणयः, ("ओतप्रोतमुभे त्रिषु" इति वैजयन्ती, "मुण्डोत्तमाङ्गमस्तकमौलिशिरःशीर्ष-

मूर्धकानि स्युः" इति हलायुधः) ['प्र'पूर्वकात् 'ऊयी' तन्तुसन्ताने इति धात्तोर्निष्ठा 'क्त' प्रत्यये 'प्रोतम्' इति], यस्य सत्याश्रयस्य, इषवो वाणाः ('कङ्कपत्त्रशरमार्गणवाणाश्चित्रपुङ्खविशिखेषुकलम्वाः' इति हलायुधः) ['ईष' गतिहिंसादर्शनेषु इति भौवादिकाद्धातोः "ईषेः किच्च" इत्युणादिसूत्रेण 'उ' प्रत्यय आदेरिच्च वोध्यः], खड्गान्धकारे—खड्गानां (श्यामलतया बाहुल्येन च जाते) अन्धकारे तमसि खड्गान्धकारे श्यामलकृपाणानां वाहुल्येन सम्पन्ने तमसि, गृहीतदीपाः—गृहीता हस्ते कृताः दीपाः प्रदीपा यैस्ते हस्तस्थापित-प्रदीपाः, इव यथा, रिपुचक्रवालम्—रिपूणां वैरिणां चक्रवालं मण्डलं वैरिस-मूहमिति यावत् ("चक्रवालोऽद्रिभेदे स्याच्चक्रवालं तु मण्डले" इति मेदिनी), विन्दते स्म जानन्ति स्म ['विद' विचारणे इति रौधादिकाद्धातोः "लट् स्मे" इति लटः प्रथमपुरुषवहुवचने रूपम्]। रात्रावन्धकारे पदार्थावलोकनाय यथा हस्ते दीपं गृहीत्वा पदार्थान् जानन्ति तथैव सत्याश्रयनृपस्य वाणाः समर-रूपायां रात्रौ खड्गानां बाहुल्येनायोमयत्त्वाच्छ्यामलत्वेन चान्धकारे जाते शत्रुसमूहं नृपतिशिरोमणिप्रकाशेन जानन्ति स्म इति भावः। प्रोतप्रतिक्ष्मा-पतिशिरोरत्नेषु वाणेषु गृहीतदीपकत्वारोपसम्भावनयोत्प्रेक्षालङ्कारः, संयुगेषु यामिनीत्वारोपाद्रूपकालङ्कारश्च। तृतीयपाद उपेन्द्रवज्रा शेषेषु पादेष्विन्द्र-वज्रेत्यतोऽत्र 'शाला'ख्योपजातिः।

सुधासार—युद्धरूपी रातमें गुथे है शत्रु-राजाओंके शिरोमणि जिनमें ऐसे जिस (सत्याश्रय राजा) के वाण (अत्यधिक संख्यावाले एवं लोहमय होनेसे श्याम वर्ण) तलवारमें, मानो दीप लिये हुए शत्रु-समूहको पहचानते (खोजकर जानते) थे।

विमर्श—रातके अँधेरेमें दीपक लेकर जैसे कोई किसी वस्तुको पहचान लेता है, वैसे ही युद्धरूपी रातके अँधेरेमें सत्याश्रय राजाके वाण शत्रु-राजाओंके शिरोरत्नरूपी दीपक लेकर शत्रुसमूहको पहचानते थे ॥ ७५ ॥

अवन्ध्यपातानि रणाङ्गणेषु सलीलमाकृष्टधनुर्गुणस्य।
यस्यानमत्कोटितया व्यराजदस्त्राणि चुम्बन्निव चापदण्डः ॥ ७६ ॥

अन्वयः—रणाङ्गणेषु सलीलम् आकृष्टधनुर्गुणस्य यस्य चापदण्डः आनम-त्कोटितया अवन्ध्यपातानि अस्त्राणि चुम्बन् इव व्यराजत्।

सुधा—रणाङ्गणेषु—रणस्य युद्धस्याङ्गणेष्वजिरेषु युद्धाजिरेषु ("अङ्गणं चत्वराजिरे" इत्यमरः) ['अङ्गति' इति विग्रहे 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" इति निपातनात्साधु, 'करणाधिकरणयोश्च' इति 'ल्युट्' प्रत्यये तस्यानादेशे च 'अङ्गना'

इति], सलीलम्—लीलया सह यथा स्यात्तथा लीलापूर्वकमनायासेनेति यावत्, आकृष्टधनुर्गुणस्य—आकृष्टाः समाकृष्टा धनुषश्चापस्य गुणा मौर्व्यो येन स आकृष्टधनुर्गुणस्तस्य समाकृष्टचापमौर्वीकस्य ("अयास्त्रियाम्। धनुश्चापौ धन्वशरासनकोदण्डकार्मुकम्। इष्वासोऽपि" इति, "मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः" इति च अमरः), यस्य सत्याश्रयस्य, चापदण्डः—चापस्य धनुषो दण्डो यष्टिर्धनुर्वंश इति भावः, आनमत्कोटितया—आनमन्त्यावतिशयितं नम्रीभवन्त्यौ कोटी प्रान्तभागौ यस्य स आनमत्कोटिस्तस्य भाव आनमत्कोटिता तयाऽधिकं नम्रीभवत्प्रान्तभागतया ('कोटिः स्त्री धनुषोऽग्रेऽस्त्रौ संख्याभेदप्रकर्षयोः' इति मेदिनी), अवन्ध्यपातानि—अवन्ध्या अप्रतिहताः सफला इत्यर्थः, पाताः पतनानि प्रहारा इति भावः, येषां तानि अवन्ध्यपातानि सफलप्रहाराणि, अस्त्राणि बाणान्, चुम्बन् प्रेम्णा चुम्बनं कुर्वन्, इव यथा, व्यराजदशोभत। चापदण्डे चुम्बनस्योत्प्रेक्षयोत्प्रेक्षालङ्कारः। पूर्वार्द्धोत्तरार्द्धयोः क्रमेणोपेन्द्रवज्रेन्द्रवज्रे इत्यतोऽत्र 'रामा'नाम्न्युपजातिः।

सुधासार—युद्धके मैदानमें धनुषकी डोरीको खींचे हुए, जिस (सत्याश्रय) के चापदण्ड दोनों हिस्सोंको अत्यन्त झुकनेसे निष्फल न होनेवाले अर्थात् सर्वदा लक्ष्यवेध करनेवाले बाणोंको चूमते हुए-से शोभते थे।

विमर्श—सत्याश्रय राजा युद्धभूमिमें शत्रुओंपर प्रहार करनेके वास्ते धनुषको इतना नवाता था कि दोनों छोर आपसमें सट जाते थे, अतः ऐसा जान पड़ता था कि बाणोंको सफल प्रहार करनेसे चापदण्ड मानो दोनों छोरोंको प्रेमसे चूम रहा हो। लोकव्यवहारमें भी सफल कार्य करनेवालेको प्रेमसे चूमकर प्रसन्नता सूचित की जाती है ॥ ७६ ॥

भूभृत्सहस्रार्पितदेहरन्ध्रैः क्रौञ्चाचलच्छिद्रविशारदानाम्।
सेहे न गर्वः पृथुसाहसस्य यस्येषुभिर्भार्गवमार्गणानाम् ॥ ७७ ॥

अन्वयः—पृथुसाहसस्य यस्य भूभृत्सहस्रार्पितदेहरन्ध्रैः इषुभिः क्रौञ्चाचलच्छिद्रविशारदानाम् भार्गवमार्गणानाम् गर्वः न सेहे।

सुधा—पृथुसाहसस्य—पृथु विपुलं साहसं दुष्करकर्म पराक्रम इत्यर्थो यस्य तस्य विशालपराक्रमस्य ("विशङ्कटं पृथु बृहद्विशालं पृथुलं महत्। वड्रोरुविपुलम्' इत्यमरः, "साहसं तु दमे दुष्करकर्मणि। अविमृश्य कृतौ धार्ष्ट्ये" इत्यनेकार्थसंग्रहः) [सहसि बले भवं "तत्र भवः" इत्यण् प्रत्यये 'साहसम्' इति], यस्य सत्याश्रयस्य, भूभृत्सहस्रार्पितदेहरन्ध्रैः—भूवं बिभ्रति भूभृतो

राजानः पर्वताश्च तेषां सहस्रे दशशतयामसंख्याके वा अर्पितानि कृतानि देहरन्ध्राणि शरीरच्छिद्राणि यैस्तैर्भूभृत्सहस्रार्पितदेहरन्ध्रैरसंख्यनृपति (पक्षे— पर्वत) शरीरे छिद्राणि कृतवद्भिः, ("भूभृद् भूमिधरे नृपे" इत्यमरः, "रन्ध्रं तु दूषणे छिद्रे" इति मेदिनी), इषुभिर्वाणैः, क्रौञ्चाचलच्छिद्रविशारदानाम्– चलतीति चलो न चलोऽचलः पर्वतः, क्रौञ्चश्चासावचलश्चेति क्रौञ्चाचलः क्रौञ्चनामा पर्वतस्तस्मिन् छिद्रे छेदने विशारदानां निपुणानां क्रौञ्चाचलच्छिद्रविशारदानामेकस्मिन् क्रौञ्चपर्वत एव रन्ध्रकर्तृणाम्, भार्गवमार्गणानाम्— भृगोर्भृगुमुनेरपत्यं पुमान् भार्गवः परशुरामस्तस्य मार्गणा वाणास्तेषां भार्गवमार्गणानां परशुरामवाणानाम् ("भार्गवो गजधन्विनोः शुक्रे परशुरामे च" इति मेदिनी, "पृषत्कवाणविशिखा अजिह्मगखगाशुगाः । कलम्वमार्गणशराः पत्त्री रोप इषुर्द्वयोः" इत्यमरः) ['भार्गव' इत्यत्रापत्यार्थे 'भृगु' शब्दादणादिवृद्धि-रपरत्वानि, 'मार्गण' इत्यत्र 'मृग' अन्वेषण इति धातोः "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" इति 'ल्युट्' प्रत्यये तस्य "युवोरनाकौ" इत्यनादेशः], गर्वोऽहङ्कारः ("गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारः" इत्यमरः), न नहि, सेहे सोढः ['षह' मर्षणे इति धातोः कर्मणि लिटि प्रथमपुरुषैकवचनम्] । महाकविकालिदासेनापि परशुरामेण क्रौञ्चगिरिभेदनं मेघदूत उक्तं तद्यथा—"हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम् (श्लोक ५७) ।" महाभारतानुसारमयं क्रौञ्चपर्वतो हिमाचलस्य पौत्रो मैनाकपर्वतस्य पुत्रोऽस्ति, तत्रस्थं वलिपुत्रं 'वाण'नामकमसुर हन्तुं तं पर्वतं कार्तिकेयो विभेद । परशुरामः केवलमेकस्मिन् क्रौञ्चपर्वत एव छिद्राणि कृतवानयं सत्याश्रयस्तु वहुषु राजशरीरेषु छिद्राणि कृतवानिति व्यतिरेकालङ्कारः । 'भूभृ'च्छब्दे श्लेषालङ्कारश्च । "भेदप्राधान्य उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः" इत्यलङ्कारसर्वस्वकारः । उपेन्द्रवज्रावृत्तमत्र ।

सुधासार—वड़े साहसी, जिस (सत्याश्रय राजा) के, सहस्रों राजाओं (पक्षान्तरमें – पर्वतों) के शरीरको छेदनेवाले वाणोंने (केवल एक) क्रौञ्च पर्वतको छेदनेमें निपुण, परशुरामके अहङ्कारको सहन नहीं किया ।

विमर्श—परशुरामने केवल एक ही क्रौञ्च पर्वतको वाणोंसे छेदकर भर दिया था, किन्तु सत्याश्रय राजाने हजारों राजाओंको वाणोंसे छेदकर भर दिया; अत एव परशुरामकी अपेक्षा अधिक साहसिक कार्य करनेवाले इस सत्याश्रयके वाणोंको परशुरामके वाणोंके अहङ्कारको न सहना उचित ही है ।

दृप्तारिदेहे समरोपमर्दसूत्रावशेषस्थितहारदाम्नि ।
यज्ञोपवीतभ्रमतो वभूव यस्य प्रहर्तुः क्षणमन्तरायः ॥ ७८ ॥

अन्वयः—समरोपमर्दसूत्रावशेषस्थितहारदाम्नि दृप्तारिदेहे यज्ञोपवीतभ्रमतः प्रहर्तुः यस्य क्षणम् अन्तरायः बभूव ।

सुधा—समरोपमर्दसूत्रावशेषस्थितहारदाम्नि—समरे युद्धे उपमर्देन सङ्घर्षेण सूत्रमेव तन्तुरेवावशेषोऽवशिष्टो यस्य तत् समरोपमर्दसूत्रावशेषं स्थितं हारस्य मुक्तावल्या दाम सूत्रं यस्य तस्मिन् समरोपमर्दसूत्रावशेषस्थितहारदाम्नि युद्धसङ्घर्षतन्तुमात्रावशिष्टमुक्तावलीतन्तौ ("हारो मुक्तावली स्त्री स्यात्" इति वैजयन्ती), दृप्तारिदेहे—दृप्तस्य गर्वितस्यारेः शत्रोर्देहः शरीरं तस्मिन् दृप्तारिदेहे गर्वितशत्रुशरीरे यज्ञोपवीतभ्रमतः—यज्ञोपवीतस्य ब्रह्मसूत्रस्य भ्रमो भ्रान्तिस्तस्मात् ब्रह्मसूत्रभ्रान्तेः ("द्विजायनी ब्रह्मसूत्रं सूत्रं यज्ञोपवीतकम्" इति वैजयन्ती), प्रहर्तुः—प्रहरतीति प्रहर्ता तस्य शत्रुशरीरे प्रहारं कुर्वतः, यस्य सत्याश्रयनृपस्य, क्षणं क्षणमात्रम्, अन्तरायो विघ्नः ("विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः" इत्यमरः), बभूवाभूत् । 'अहं शत्रुमवश्यं हनिष्यामि' इति दर्पेण युक्तानां रिपूणां शरीरे युद्धसङ्घर्षेण कवचादिषु छिन्नेषु मुक्तावलीसूत्रमात्रावशिष्टं शत्रु दृष्ट्वाऽयं ब्रह्मसूत्रधारी ब्राह्मणोऽवध्यः' इति भ्रमेण तादृशे शत्रुदेहे प्रहरन् सत्याश्रयः क्षणमात्र विलम्बं कृतवानिति भावः । मुक्तावलीसूत्रे यज्ञोपवीतभ्रमादत्र भ्रान्तिमदलङ्कारः । इन्द्रवज्राच्छन्दोऽत्र ।

सुधासार—युद्धसङ्घर्षमें (कवचादिके छिन्न भिन्न होनेसे) सूत्रमात्रअवशिष्ट मुक्तामालाके धागा लिपटे हुए गर्वितशत्रुशरीरपर प्रहार करते हुए सत्याश्रयको यज्ञोपवीतके (यह जनेऊ पहना हुआ ब्राह्मण अवध्य है, इस प्रकार) भ्रम होनेसे क्षणमात्र विघ्न (विलम्ब) हो गया ।

विमर्श—'मैं शत्रु (सत्याश्रय) को अवश्य मार डालूँगा, ऐसे गर्वसे युक्त, शत्रुके शरीरपर कवचादिके छिन्न-भिन्न हो जानेसे केवल हारका धागा मात्र बच गया था, उसे देखकर सत्याश्रयको 'यह यज्ञोपवीत-धारी ब्राह्मण होनेसे अवध्य है' इस प्रकार सन्देह होनेसे उसपर प्रहार करनेमें क्षणमात्र विलम्ब हो गया ॥ ७८ ॥

प्राप्तस्ततः श्रीजयसिंहदेवश्चालुक्यसिंहासनमण्डनत्वम् ।
यस्य व्यराजन्त गजाहवेषु मुक्ताफलानीव करे यशांसि ॥ ७९ ॥

अन्वयः—ततः श्रीजयसिंहदेवः चालुक्यसिंहासनमण्डनत्वम् प्राप्तः, गजाहवेषु यस्य करे मुक्ताफलानि इव यशांसि व्यराजन्त (यद्वा – मुक्ताफलानि यशांसि इव व्यराजन्त) ।

सुधा—प्राक् सत्याश्रयं वर्णयित्वेदानीमष्टभिः पद्यैः श्रीजयसिंहदेवं वर्णयितुमुपक्रमते—प्राप्त इति। ततस्तस्मात्सत्याश्रयनृपात् पश्चात् [तच्छब्दात् "पश्चाम्यास्तसि." इति 'तसि' प्रत्यये "त्यदादीनामः" इत्यकारः] श्रीजयसिंहदेवः–श्रियोपलक्षितो जयसिंहदेव इति श्रीजयसिंहदेवनामा नृपः, चालुक्यसिंहासनमण्डनत्वम्—चालुक्यानां चालुक्यवंशजानां सिंहासनं भद्रासनं स्वर्णमय रत्नजटितं राजासनमिति यावत् तस्य मण्डनत्वं भूषणत्वं चालुक्यकुलभद्रासनभूषणभावं ("नृपासनं तु यद्भद्रासनम्" इत्यमरः), प्राप्त प्राप्तवान्, सत्याश्रयनृपानन्तरं श्रीजयसिंहदेवश्चालुक्यवंशसिंहासनमारूढ इति भावः। गजाहवेषु—गजप्रधानयुद्धेषु, यस्य श्रीजयसिंहदेवस्य, करे हस्ते ("वलिहस्तांशवः करा." इत्यमरः), मुक्ताफलानि मौक्तिकानि ("शुक्तिज मौक्तिकं मुक्ता मुक्ताफलं रसोद्भवम्" इत्यभि० चिन्ता०), इव यथा, यशांसि कीर्तयः, व्यराजन्त अशोभन्त (यद्वा···मुक्ताफलानि मौक्तिकानि यशांसि कीर्तयः इव यथा व्यराजन्ताशोभन्त)। शुभ्रत्वसाम्याद्यशःसु मुक्ताफलानामुत्प्रेक्षादुत्प्रेक्षालङ्कारो गजयुद्धप्राप्तानि करगतमुक्ताफलानि यशांसीवाशोभन्तेत्युपमालङ्कारो वा। इन्द्रवज्राच्छन्दः।

सुधासार—उस (सत्याश्रय राजा) के बाद श्रीजयसिंहदेवने चालुक्यकुलके सिंहासनको अलङ्कृत किया, हाथियोंकी प्रधानतावाले युद्धोंमें जिसके हाथमें (युद्धमें प्राप्त) गजमुक्ताके समान कीर्ति शोभती थी (या···युद्धोंमें विजय होनेसे प्राप्त गजमुक्ता यशके समान शोभती थी)।

विमर्श—सत्याश्रयके बाद श्रीजयसिंहदेव चालुक्योंके सिंहासनपर विराजमान हुए, बहुत हाथियोंवाले युद्धोंमें जिसके हाथमें आयी हुई गजमुक्ता उनके यश–जैसी शोभित हुई (या—हाथमें प्राप्त यश गजमुक्ताके समान शोभित हुए) ॥ ७९ ॥

यस्य प्रतापेन कदर्थ्यमानाः प्रत्यर्थिभूपालमहामहिष्यः।
अन्वस्मरश्चन्दनपङ्किलानि प्रियाङ्कपालीपरिवर्तनानि ॥ ८० ॥

अन्वयः—यस्य प्रतापेन कदर्थ्यमानाः प्रत्यर्थिभूपालमहामहिष्यः चन्दनपङ्किलानि प्रियाङ्कपालीपरिवर्तनानि अन्वस्मरन्।

सुधा—यस्य श्रीजयसिंहदेवस्य, प्रतापेन प्रभावेण प्रकृष्टतेजसा च ("स प्रभावः प्रतापश्च यत्तेजः कोपदण्डजम्" इत्यमरः। "प्रतापौ पौरुषातपौ" इति वैजयन्ती), कदर्थ्यमानाः कदर्थ्यन्त इति कदर्थ्यमानाः पीड्यमानाः, प्रत्यर्थिभूपालमहामहिष्यः—प्रत्यर्थिनो रिपवश्च ते भूपालाः पृथिवीपतयः प्रत्यर्थिभूपालास्तेषां

महामहिष्यः कृताभिषेका पट्टराज्ञ्यः महिषपत्न्यश्च ("महिषी कृताभिषेकासैरि-भ्योरोषधीभिदि" इति मेदिनी), चन्दनपङ्किलानि—पङ्को कर्दमोऽस्त्य-स्मिन्निति पङ्किलम्, चन्दनेन हरिचन्दनेन पङ्किलानि कर्दमयुक्तानि इति चन्दनपङ्किलानि ("सजम्बाले तु पङ्किलः" इत्यमरः) ["पङ्किलम्' इत्यत्र 'पङ्क' शब्दात् "लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः" इति 'इलच्' प्रत्ययः], प्रियाङ्कपालीपरिवर्तनानि—प्रियाणां पतीनां हृद्यानां चाङ्कस्य क्रोडस्य पाली पार्श्वभाग आलिङ्गनमित्याशयस्तत्र परिवर्तनानि परिवर्तान् लण्ठनानि च ("प्रियो वृद्धयौषधे हृद्ये पत्यौ" इति, "अङ्को भूषारूपकलक्ष्मसु। चित्राजौ नाटकाद्यंशे स्थाने क्रोडेन्तिकागसोः" इति च अनेकार्थसंग्रहः), अन्वस्मरन्—अनुस्मरन्ति स्म न तु साक्षादनुभवन्ति स्मेति यावत्। ग्रीष्मर्तौ सूर्यस्य तीव्र-तापेन तप्ताः सैरिभ्यः (महिषपत्न्यः) शैत्यार्थं पङ्किलं गर्तादि समाश्रित्य परिवर्तनैः सुखं तदप्राप्तौ दुःखमनुभवन्ति, प्रकृते तु श्रीजयसिंहेन युद्धे स्वपतिषु हतेषु तेषां पट्टराज्ञ्यः श्रीजयसिंहदेवस्य तीव्रप्रभावेण तप्ताः स्वपतिक्रोडालिङ्गन-प्राप्तपङ्किलपरिवर्तनानि साक्षादननुभवन्त्यस्तदनुस्मरणमात्रं कुर्वन्ति स्म। 'प्रताप-महिषी' शब्दयोः श्लेषालङ्कारः, अनुस्मरणात्स्मरणालङ्कारश्चात्र। प्रथमादिपादत्रय इन्द्रवज्राऽन्तिमपादे चोपेन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'बाला'ख्योपजातिः।

सुधासार—जिस (श्रीजयसिंहदेव) के प्रताप (तेज, पक्षान्तरमें—अधिक ताप) से पीडित की जाती हुई शत्रुराजाओंकी पटरानियाँ (पक्षान्तरमें—भैंसें), चन्दनसे पङ्किल (पङ्कयुक्त अर्थात् गीला) पतिकी गोदके पास किये गये परिवर्तनों (करवटों) को स्मरणमात्र करती थीं।

विमर्श—श्रीजयसिंहदेवने युद्धमें शत्रुराजाओंको मार डाला, अत एव उनकी पटरानियाँ पति-विरहजन्य तीव्र तापसे अब चन्दनपङ्कसे लिप्त (गीली) प्रियतमकी गोदीमें किये गये करवटोंको केवल स्मरणमात्र करती थीं, पतिके अभावमें उनका उपभोग असम्भव होनेसे बहुत दुःखित होती थीं। पक्षान्तरमें—गर्मीमें सूर्यके तीव्र तापसे संतप्त भैंसें ठण्डकके लिए कीचड़ युक्त गर्तोंमे लोटती है, किन्तु उसके अभावमे उसे स्मरणकर दुःखी होती हैं ॥८०॥

प्रतापभानौ भजति प्रतिष्ठां यस्य प्रभातेष्विव संयुगेषु।
सूर्योपलानामिव पार्थिवानां केषां न तापः प्रकटीबभूव ॥ ८१ ॥

अन्वयः—प्रभातेषु इव सयुगेषु यस्य प्रतापभानौ प्रतिष्ठाम् भजति (सति) सूर्योपलानाम् इव केषाम् पार्थिवानाम् तापः न प्रकटीबभूव।

सुधा—प्रभातेषु उषःसु ("प्रत्यूषोऽहर्मुखं कल्यमुषः प्रत्यूषसी अपि । प्रभातश्च" इत्यमरः), इव यथा, संयुगेषु युद्धेषु, यस्य श्रीजयसिंहदेवस्य, प्रतापभानौ—प्रतापस्तेजो भानुरिव सूर्य इवेति प्रतापभानुस्तेजःसूर्यस्तस्मिन् (पक्षे—प्रकृष्टस्तीव्रस्ताप ऊष्मा यस्य स प्रतापः स चासौ भानुः सूर्यश्चेति तस्मिन्), प्रतिष्ठां गौरवं (पक्षे—स्थितिम्) "प्रतिष्ठा गौरवे स्थितौ । छन्दोजातौ यागसिद्धौ" इत्यनेकार्थसंग्रहः) भजति प्रकृष्टत्वं गच्छति सति ['भज' धातोर्लटः 'शतृ' प्रत्यये "यस्य च भावेन भावलक्षणम्" इति भावे सप्तमी], सूर्योपलानां सूर्यकान्तमणीनाम् ('सूर्यकान्तः सूर्यमणिः सूर्याश्मा दहनोपलः" इत्यभि० चिन्ता०), इव तुल्येम्, केषां पार्थिवानां केषां पृथ्वीपतीनां (पृथिव्या ईश्वरा इति "तस्येश्वरः" इति 'अञ्' प्रत्यये 'ञित्त्वादादिवृद्धिः], तापः सन्तापः ("तापः सन्तापकृच्छ्रयोः" इति मेदिनी), न नहि, प्रकटीबभूव—न प्रकटः अप्रकटोऽस्पष्टः, स प्रकटो बभूवेति प्रकटीबभूव स्पष्टीबभूव ("प्रकाशं प्रकटं स्पष्टमुल्वणं विशदं स्फुटम्" इति वैजयन्ती) [अभूततद्भावे 'च्वि' प्रत्यये ईकारे च 'प्रकटीबभूवेति'], सर्वेषां सन्तापः स्पष्टतां गत इति भावः । यथा प्रभातकाले क्रमेण सूर्यस्य तापे वृद्धे सति सूर्यकान्तमणीनां तापः (ग्रीष्मता) स्पष्टं लक्ष्यते, तथैव श्रीजयसिंहदेवस्य प्रभावे समरेषु वृद्धे सति सर्वेषां नृपाणां सन्तापः 'अयमस्मानपि युद्धे हनिष्यती'त्यादिभयेन स्पष्टतां गतः । प्रतापेषु भानुत्वारोपाद्रूपकालङ्कारः, प्रभात-संयुगयोः, सूर्योपलपार्थिवयोश्च सादृश्यादुपमालङ्कारः, केषां न प्रकटीबभूवेत्यत्रार्थापत्तिश्चेत्येषां परस्परसापेक्षतया संकरः । प्रथमपाद उपेन्द्रवज्रेतरेषु पादेष्विन्द्रवज्रेत्यतः 'कीर्त्या'ख्योपजातिः ।

सुधासार—प्रातःकालके समान युद्धोंमें जिस (श्रीजयसिंहदेव) के सूर्यके समान तेज (पक्षमें—अधिक तापरूप सूर्य प्रतिष्ठित होनेपर अर्थात् बढ़नेपर) सूर्यकान्तमणिके समान किन राजाओंका संताप प्रकट नहीं हुआ अर्थात् सभी राजाओंका सन्ताप प्रकट हो गया ।

विमर्श—जैसे प्रातःकालमें सूर्यके तेज बढनेपर सूर्यकान्तमणिका सन्ताप स्पष्ट दीखने लगता है, वैसे ही युद्धोमें श्रीजयसिंहदेवके प्रभावके बढ़नेपर सभी राजाओके सन्ताप स्पष्ट हो गये अर्थात् भयसे सभी राजा संतप्त हो गये ॥ ८१ ॥

यात्रासु यस्य ध्वजिनीभरेण दोलायमाना सकला धरित्री ।
आर्द्रव्रणाधिष्ठितपृष्ठपीठमकर्मठं कूर्मपतिं चकार ॥ ८२ ॥

अन्वयः—यस्य यात्रासु ध्वजिनीभरेण दोलायमाना सकला धरित्री आर्द्र-व्रणाधिष्ठितपृष्ठपीठम् कूर्मपतिम् अकर्मठम् चकार।

सुधा—यस्य श्रीजयसिंहदेवस्य, यात्रासु (विजयाय कृतेषु) प्रस्थानेषु ("यात्रा तु व्रज्या च गमनं प्रस्थानं च गतिर्गमः" इति मेदिनी, वैजयन्ती च), ध्वजिनीभरेण—ध्वजिन्याः सेनाया भरेण भारेण ("ध्वजिनी वाहिनी सेना पृतनाऽनीकिनी चमूः। वरूथिनी बलं सैन्यं चक्रं चानीकमस्त्रियाम्" इत्यमरः, "भरोऽतिशयभारयोः" इति मेदिनी) [ध्वजाः सन्त्यस्यामिति 'ध्वज'शब्दात् "अत इनिठनौ" इति 'इनि'प्रत्ययः], दोलायमाना—दोलेवाचरतीति दोलायते दोलायत इति दोलायमाना अतियेन कम्पमाना [दोलायमानेत्यत्र "लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे" इति 'शानच्'प्रत्यये "आने मुक्" इति मुगागमे स्त्रीत्वाट्टाप्प्रत्ययः], सकला समस्ता, धरित्री पृथिवी, आर्द्रव्रणाधिष्ठित-पृष्ठपीठम्-आर्द्रेण क्लिन्नेनाभिनवेनेत्यर्थः, व्रणेनेर्मणाधिष्ठितं युक्तं पृष्ठपीठं शरीर-पश्चाद्भागो यस्य तमभिनवेर्मयुक्तपृष्ठभागं ("आर्द्रं सार्द्रं क्लिन्नं तिमितं स्तिमितं समुन्नमुत्तञ्च" इति, "व्रणोऽस्त्रियामोर्ममरुः" इति च अमरः), कूर्मपतिं कच्छपराजं ("कमठः कच्छपे पुंसि भाण्डभेदे नपुंसकम्" इति मेदिनी), अकर्मठम्—कर्मणि शूरः कर्मठः स न भवतीति तं कर्मासमर्थं ("कर्मशूरस्तु कर्मठः" इत्यमरः), ["कर्मणि घटोऽठच्" इति 'कर्म' शब्दात् 'अठच्' प्रत्यये नञ्समासे द्वितीयैकवचनम्], चकाराकरोत्। अमृतादिचतुर्दशरत्नप्राप्त्यै कच्छप-रूपधारिणो भगवतो विष्णोः पृष्ठेऽवस्थितेन मन्दरपर्वतेन समुद्रे देवासुरैर्मथिते सति क्लिन्नव्रणयुक्तं भगवत्कच्छपपृष्ठपीठं श्रीजयसिंहदेवस्य विजयप्रयाणे सेनाभारेणा-तिशयं दोलायमाना सम्पूर्णा पृथिवी पुनर्धरित्रीधारणाक्षमं कृतवती। समुद्रमथन-कथा महाभारते (१।१८।१३–३०) द्रष्टव्या। अत्र गम्योत्प्रेक्षालङ्कारः। प्रथमादिपादत्रय इन्द्रवज्रा चरमपादे चोपेन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'बाला'स्योपजातिः।

सुधासार—जिस (श्रीजयसिंहदेव) की (विजयार्थ की हुई) यात्राओंमें सेनाके भारसे झूलेके समान चञ्चल पृथिवीने नये घावसे युक्त पीठवाले कच्छप-राजको (पृथ्वीके भारको धारण करनेमें) अकर्मण्य अर्थात् असमर्थ बना दिया।

विमर्श—भगवान् विष्णु कच्छपावतार होकर पृथ्वीका भार अपनी पीठ-पर धारण करते हैं, समुद्रमंथनके समय मन्दराचलके द्वारा मंथन करनेसे उनकी पीठपर जो घाव हो गया था, वह अभी पूर्णतया सूखकर ठीक नहीं हुआ है और अब श्रीजयसिंहदेवने अपनी विशाल सेना लेकर दिग्विजयार्थ

प्रस्थान किया, तब सेनाके भारसे पृथ्वीके अधिक हिलनेसे कूर्मराज पृथ्वीको धारण करनेमें असमर्थसे हो गये ॥ ८२ ॥

किरीटमाणिक्यमरीचिवीचिप्रच्छादिता यस्य विपक्षभूपाः ।
चिताग्निभीत्या समराङ्गणेषु न सङ्गृहीताः सहसा शिवाभिः ॥८३॥

अन्वयः—यस्य विपक्षभूपाः किरीटमाणिक्यमरीचिवीचिप्रच्छादिताः (सन्तः) समराङ्गणेषु चिताग्निभीत्या शिवाभिः सहसा न संगृहीताः ।

सुधा—यस्य श्रीजयसिंहदेवस्य, विपक्षभूपाः—विपरीतः पक्षो येषान्ते विपक्षाः शत्रवः, भुवं पान्ति रक्षन्तीति भूपाः राजानः, विपक्षाश्च ते भूपाश्चेति विपक्षभूपाः । समरहता शत्रुभूपालाः, किरीटमाणिक्यमरीचिवीचिप्रच्छादिताः—किरीटेषु मुकुटेषु यानि माणिक्यानि रत्नानि तेषां मरीचयः किरणास्तेषां वीचिभिस्तरङ्गैः समूहैरिति भावः । प्रच्छादिता आच्छादिता इति किरीटमाणिक्यमरीचिवीचिप्रच्छादिताः मुकुटरत्नकिरणतरङ्गाच्छादिताः (सन्तः) ("किरीटं मुकुटोऽस्त्रियाम्" इति, "घृष्टिपादमयूखांशुसान्ध्योद्योगगभस्तयः । किरणोऽस्त्री च रोचिक्ली रश्मिक्ली मरीचिवत्" इति, "भङ्गस्तरङ्गो वीचिः स्त्री" इति च वैजयन्ती), समराङ्गणेषु—समरस्य युद्धस्याङ्गणेषु प्राङ्गणेषु, चिताग्निभीत्या—चितायां चित्यामग्नेर्वह्नेर्भीत्या भयेनेति चिताग्निभीत्या चित्यावह्निभयेन ("चिताचित्या चितिः स्त्रियाम्" इति, "दरस्त्रासो भीतिर्भीः साध्वसं भयम्" इति च अमरः), शिवाभिः क्रोष्टीभिः क्रोष्टुभिर्वा ('गोमायुर्भूरिमायः स्याच्छृगालो जम्बुकः शिवा । फेरण्ड. फेरवः फेरुः क्रोष्टा च मृगधूर्तकः" इति हलायुधः), सहसा सद्यः ("सद्योऽर्थे सहसा" इति वैजयन्ती), न नहि, संगृहीताः खादितुं गृहीताः । श्रीजयसिंहदेवेन हतान्वैरिभूपालान् तन्मुकुटमणिमयूखतरङ्गाच्छन्नतया 'नेमा मुकुटमणिमयूखतरङ्गाः, अपित्वग्नय एते' इति ज्ञात्वा शृगालाः जम्बुकास्तान् खादितुं सद्यो नैवादत्तवन्त इति भावः । अत्र शत्रुभूपतिमुकुटमणिमयूखसमूहे चिताग्निभ्रमेण भ्रान्तिमानलङ्कारो व्यङ्ग्यः । द्वितीयचरणे इन्द्रवज्राऽन्येषु चरणेपूपेन्द्रवज्रेत्यतो 'ऋद्ध्या'-स्योपजातिः ।

सुधासार—जिस (श्रीजयसिंहदेव) के द्वारा मारे गये प्रतिपक्षी राजाओंको, (उन्हींके) मुकुटोमें जड़े हुए रत्नोंके किरणसमूहोंसे ढके रहनेसे युद्धभूमिमें चिताकी आगके डरसे (खानेके लिए) शृगालोंने सहसा नहीं पकड़ा ।

विमर्श—श्रीजयसिंहदेवने प्रतिपक्षी भूपतियोंको मार डाला, समरभूमिमें उनके मुकुटमें जड़े हुए रत्नोंकी किरणोंसे उनके शव ढंक रहे थे, उन किरणा-

वलियोंको चिताकी आग जानकर जल जानेके भयसे एकाएक पासमें जाकर उनके शवको गीदड़ों (या—सियारिनियों) ने नहीं पकड़ा ॥ ८३ ॥

यात्रासु दिक्पालपुरीं विलुण्ठ्य न दिग्गजान् केवलमग्रहीद्यः ।
पलायितास्ते जयसिन्धुराणां गन्धेन सप्तच्छदबान्धवेन ॥८४॥

अन्वयः—यः यात्रासु दिक्पालपुरीम् विलुण्ठ्य केवलम् दिग्गजान् न अग्रहीत्, (यतः) ते जयसिन्धुराणाम् सप्तच्छदबान्धवेन गन्धेन पलायिताः ।

सुधा—श्रीजयसिंहदेवो दिक्पालानपि जितवानिति वर्णयति—यात्रास्विति। यः श्रीजयसिंहदेवः यात्रासु दिग्विजयप्रयाणेषु, दिक्पालपुरीम्—दिशः पालयन्तीति दिक्पालाः पूर्वादिदिगीशा इन्द्रादयस्तेषां पुरीं नगरीम् (अत्र 'न ब्राह्मणं हन्यात्' इति जात्येकवचनप्रयोगात्समस्तब्राह्मणहननिषेधवत् समस्तदिक्पालपुरीणां ग्रहणेन 'दिक्पालनगरीः' इत्याशयो बोध्यः । "इन्द्रो वह्निः पितृपतिर्नैर्ऋतो वरुणो मरुत् । कुबेर ईशः पतयः पूर्वादीनां दिश. क्रमात्" इत्यमरः), विलुण्ठ्य लुण्ठयित्वा, केवलमेक ("केवलः कुहने पुमान् । नपुंसकं तु निर्णीति वाच्यवच्चैककृत्स्नयोः" इति मेदिनी), दिग्गजान्—दिशां गजा दिग्गजास्तानैरावतादीन् ("ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः । पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः" इत्यमरे पूर्वादिदिग्गजा उक्ताः), न नहि, अग्रहीत् गृहीतवान् । (यतः) ते दिग्गजाः, जयसिन्धुराणाम्—जयस्य ('नामैकदेशे नाममात्रस्य ग्रहणमि'त्युक्त्या जयसिंहदेवस्य (यद्वा—जयाय दिग्विजयाय सिन्धुरा गजा इति जयसिन्धुरास्तेषाम् ("मातङ्गद्विरदद्विपाः करिगजस्तम्बेरमानेकपाः । कुम्भी कुञ्जरवारणेभरदिनः सामोद्भवः सिन्धुरः" इति हलायुधः), सप्तच्छदबान्धवेन—सप्तमुनिसंख्यकाश्छदाः पर्णा यस्य स सप्तच्छदः सप्तपर्णस्तस्य बान्धवेन तुल्येनेति सप्तच्छदबान्धवेन सप्तपर्णक्षीरतुल्येन ("सप्तपर्णः विशालत्वक् शारदो विषमच्छदः" इत्यमर·वैजयन्त्यौ), गन्धेन मदजलसौरभेण, पलायितास्तिरोहिताः ("पलायितस्तु नष्टः स्याद् गृहीतदिक् तिरोहितः" इत्यभि० चिन्ता०)। श्रीजयसिंहदेवगजानां मदगन्ध ऐरावतादिदिग्गजमदगन्धापेक्षयातीवोत्कट इति तदीयगन्धेन दिग्गजानां पलायनं स्वाभाविकमेव। महाकविना कालिदासेनापि रघुवंशमहाकाव्ये तीव्रतरं सप्तच्छदक्षीरसदृश वन्यमतङ्गजगन्धमाघ्राय रघोर्मतङ्गजानां पलायनं वर्णितं तद्यथा—

"तस्यैकनागस्य कपोलभीत्योर्जलावगाहक्षयमात्रशान्ता ।
वन्येतरानेकपदर्शनेन पुनर्ददीपे मदवुर्दिनश्रीः ॥

सप्तच्छदक्षीरकटुप्रवाहमसह्यमाघ्राय मदं तदीयम् ।
विलङ्घिताधोरणतीव्रयत्नाः सेनागजेन्द्रा विमुखा बभूवुः ॥ इति (५।४७-४८)

अत्र 'सप्तच्छवान्धवेने'ति 'सादृश्य'वाचकबान्धवशब्दादुपमालङ्कारः। आद्यन्तपादयोरिन्द्रवज्रा मध्यस्थपादयोरुपेन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'माया'ख्योपजातिः।

सुधासार—जिस (श्रीजयसिंहदेव) ने विजय-यात्राओमें (इन्द्रादि) दिक्पालोंकी (अमरावती आदि) पुरियोको जीतकर केवल (ऐरावत आदि) दिग्गजोको नही पकड़ा, (क्योकि) वे श्रीजयसिंहदेवके हाथियोंके सप्तपर्ण ('छितौना' नामक पेड़के दूध) के समान गन्धवाले (उत्कट) गन्धसे भाग गये।

विमर्श—श्रीजयसिंहदेवके हाथी ऐरावत आदि दिग्गजोसे अधिक बलवान् थे और उनके मदका गन्ध भी छितौना पेड़के गन्धके समान अधिक कटु था, अतः वे दिग्गज इनके हाथियोके अधिक तीव्र गन्धको सूँघते ही भाग गये, इसीसे श्रीजयसिंहदेवने इन्द्रादि दिक्पालोकी नगरियोको तो नष्ट कर दिया, किन्तु दिग्गजोको नही पकड़ा ॥ ८४ ॥

अपारवीरव्रतपारगस्य पराङ्मुखा एव सदा विपक्षाः ।
अधिज्यचापस्य रणेषु यस्य यशः परं सम्मुखमाजगाम ॥ ८५ ॥

अन्वयः—अपारवीरव्रतपारगस्य यस्य विपक्षाः सदा पराङ्मुखाः एव (अभूवन्), परम् रणेषु अधिज्यचापस्य यस्य यशः सम्मुखम् आजगाम ।

सुधा—अपारवीरव्रतपारगस्य—अपारं पारं गन्तुमशक्यं यद् वीराणां शूराणां व्रतं कृत्यमित्यपारवीरव्रतं तस्यापारवीरव्रतस्य पारं गच्छत्यपारवीरव्रतपारगस्तस्यापारशूरत्वपारगामिनः, यस्य श्रीजयसिंहदेवस्य, विपक्षा रिपवः, सदा सर्वदा [सर्वस्मिन् काले इति विग्रहे 'सर्व'शब्दात् "सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा" इति 'दा'प्रत्यये "सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि" इति 'सर्व'स्य सादेशः], पराङ्मुखाः—परागनभिमुखं मुखं येषां ते पराङ्मुखा विमुखाः ("पराङ्मुखः पराचीनः" इत्यमरः), [पराञ्चत्यनभिमुखो भवतीति पराक्—'परो'पसर्गात् "अञ्चु' गतिपूजनयोः इति धातोः "ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च" इति 'क्विन्' प्रत्ययः], एव निश्चयेन (अभूवन्निति शेषः) । परं किन्तु, रणेषु युद्धेषु, अधिज्यचापस्य—ज्यां मौर्वीमधिगतोऽधिज्य आकृष्टमौर्वीकस्तथाविधश्चापो धनुर्यस्य सोऽधिज्यचाप आकृष्टमौर्वीकधनुस्तस्य, ("मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः" इत्यमरः), यस्य श्रीजयसिंहदेवस्य, यशः कीर्तिः, सम्मुखमभिमुखम्, आजगामागच्छत् । अत्रोपेन्द्रवज्राछन्दः ।

सुधासार—अपार शूरव्रतके पारगामी जिस (श्रीजयसिंहदेव) के शत्रु सर्वदा विमुख ही रहे अर्थात् युद्धमें सामने नही ठहर सके, किन्तु युद्धोंमें धनुष की डोरी चढ़ाये हुए जिस (श्रीजयसिंहदेव) के सामने यश ही आया (अथवा —''' उन शत्रुओंका यश ही आया)।

विमर्श—अपार शौर्यसे पारगत श्रीजयसिंहदेवके शत्रु भाग गये और उनका यश इनको प्राप्त हुआ ॥ ८५ ॥

यशोवतंसं नगरं सुराणां कुर्वन्नगर्वः समरोत्सवेषु।
न्यस्तां स्वहस्तेन पुरन्दरस्य यः पारिजातस्रजमाससाद ॥ ८६ ॥

अन्वयः—सुराणाम् नगरम् यशोऽवतंसम् कुर्वन् (किन्तु) स्वयम् अगर्वः यः पुरन्दरस्य स्वहस्तेन न्यस्ताम् पारिजातस्रजम् आससाद।

सुधा—सुराणां देवानाम्, नगरं पुरीममरावतीमित्यर्थः ("पुर्यना नगरी पूः स्त्री स्थानीयं नगरं पुरः" इति वैजयन्ती), यशोऽवतंसम्—यशः कीर्तिरेवावतंसः कर्णाभरण शेखरो वा यस्य तत्कीर्तिरूपकर्णाभरणम् ("पुंस्युत्तंसावतंसौ द्वौ कर्णपूरे च शेखरे" इत्यमरः), कुर्वन् विदधत् ('कृञ्' धातोर्लटः 'शतृ' प्रत्यये गुणे रपरत्वे "अत उत्सार्वधातुके" इत्यकारस्योकारः, "न भकुर्छुराम्" इति "वीरुपधाया दीर्घ इकः" इति प्राप्तस्य दीर्घस्य निषेधः], (किन्तु स्वयम्) अगर्वो नास्ति गर्वोऽहङ्कारो यस्य स निरहङ्कारः, यः श्रीजयसिंहदेवः, पुरन्दरस्य—पुरं दारयतीति पुरन्दर इन्द्रस्तस्य ["पूःसर्वयोः दारिसहोः" इति 'खच्' प्रत्यये 'मुमा'गमः], स्वहस्तेनात्मनः करेण न्यस्तां निहिताम्, पारिजातस्रजम्—पारिजातानां पारिजाताख्यदेवतरुपुष्पाणां स्रजं मालामिति पारिजातस्रजम्, ("माल्यं मालास्रजौ मूर्ध्नि:" इत्यमरः), आससाद प्राप्तवान्। श्रीजयसिंहस्य शूरताया कीर्तिरमरावती भूपितवतीति हेतोरिन्द्रः श्रीजयदेवसिंहदेवस्य कण्ठे पारिजातमालां स्वहस्तेन परिधाप्य तमादृतवानिति भावः। प्रथमपाद उपेन्द्रवज्राऽन्येषु त्रिषु पादेष्विन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'कीर्त्या'ख्योपजातिः।

सुधासार—देवनगरी अमरावतीको (अपने शूरवीरताजन्य) यशसे भूषित करते हुए जिस (श्रीजयसिंहदेव) ने इन्द्रके द्वारा अपने हाथसे पहनायी गयी परिजातकी मालाको प्राप्त किया।

विमर्श—श्रीजयसिंहदेवकी शूरताका यश स्वर्गतक पहुँच गया, जिससे प्रसन्न हो इन्द्रने उनके गलेमें परिजातकी माला अपने हाथसे पहनाकर उनका आदर किया ॥ ८६ ॥

तस्मादभूदाहवमल्लदेवस्त्रैलोक्यमल्लापरनामधेयः ।
यन्मण्डलाग्रं न मुमोच लक्ष्मीर्धाराजलोत्था जलमानुषीव ॥ ८७ ॥

अन्वयः——तस्मात् त्रैलोक्यमल्लापरनामधेयः आहवमल्लदेवः अभूत्, धाराजलोत्था जलमानुषी इव लक्ष्मीः यन्मण्डलाग्रम् न मुमोच ।

सुधा—पूर्वमष्टभिः श्लोकैः श्रीजयसिंहदेवमुपवर्ण्येदानीमासर्गान्तमाहवमल्लदेवं वर्णयितुमुपक्रमते—तस्मादिति । तस्मात् श्रीजयसिंहदेवात्, त्रैलोक्यमल्लापरनामधेयः—त्रैलोक्ये त्रिभुवने मल्लस्त्रैलोक्यमल्लः स नामधेयं नाम यस्य स "त्रैलोक्यमल्ल" इत्यन्वर्थापरनामक ("आख्याह्वे अभिधानं च नामधेयं च नाम च" इत्यमरः), आहवमल्लदेवः आहवे युद्धे मल्लो बलीयानिति आहवमल्लः स चासौ देवश्चेत्याहवमल्लदेवः 'आहवमल्लदेव' इति सार्थकनामा, (नृपः) अभूद् बभूव । धाराजलोत्था— धाराया खड्गधारायाः (पक्षे——पयःस्रोतसः) जलान्नीरादुत्थोत्पन्नेति धाराजलोत्था खड्गधारापयसः (पक्षे–स्रोतःपयसः) उत्पन्ना ("धारा सैन्याग्रिमस्कन्दे तुरङ्गगतिपञ्चके । घटादिच्छिद्रसन्तत्योः प्रपाते स्याद् द्रवस्य च । खड्गादेर्निशितमुखे" इति मेदिनी), जलमानुषी—जलस्य नीरस्य मानुषी मानवीति जलमानुषी नीरजमानवी [मनोरपत्यं स्त्रीति 'मनु'शब्दात् "मनोर्जातावञ्यतौ पुक् च" इत्यञ् प्रत्यये पुगागमे च 'मानुष' इति, तस्मात् "टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः" इति 'ङीप्'प्रत्यये 'मानुषी'ति], इव यथा, लक्ष्मीः राजश्रीः, यन्मण्डलाग्रम्—मण्डलमग्रं यस्य स मण्डलाग्रः खड्गः यस्याहवमल्लदेवस्य मण्डलाग्रः खड्गस्तम् ("खड्गे तु निस्त्रिंशचन्द्रहासासिरिष्टयः । कौक्षेयको मण्डलाग्रः करवालः कृपाणवत्" इत्यमरः), न नहि, मुमोचामुचत् । प्रवाहजलजाता जलमानुषी यथा जलं न त्यजति, तथैवाहवमल्लदेवकृपाणधाराजलोत्पन्ना राजलक्ष्मीस्तत्कृपाण न तत्याजेत्याशयः । अत्र धाराजलोत्थलक्ष्म्या जलमानुषीसाम्यादुपमालङ्कारः । इन्द्रवज्रावृत्तमत्र ।

सुधासार—उस (श्रीजयसिंहदेव) से 'त्रैलोक्यमल्ल' इस दूसरे नामवाला 'आहवमल्लदेव' उत्पन्न हुआ । प्रवाहशील जलसे उत्पन्न जलमानुषीके समान लक्ष्मीने जिस (आहवमल्लदेव) की तलवारको नहीं छोड़ा अर्थात् सर्वदा उसीका सेवन करती रही ।

विमर्श—उस श्रीजयसिंहदेवसे 'आहवमल्लदेव' हुआ, तीनों भुवनोंमें अधिक बलवान् होनेसे जिसका दूसरा नाम 'त्रैलोक्यमल्ल' भी था । इसकी तलवारकी धारसे उत्पन्न राजलक्ष्मीने इसकी तलवारको उस प्रकार कभी नहीं छोड़ा, जिस

प्रकार जलसे उत्पन्न जलमानुषी जलको नहीं छोड़ती। तात्पर्य यह है कि वह आहवमल्लदेव त्रिभुवनमें बहुत शूरवीर था, अतः इसकी तलवार अर्थात् वीरतामें ही लक्ष्मी सर्वदा निवास करती थी ॥ ८७ ॥

आख्यायिकासीम्नि कथाद्भुतेषु यः सर्गबन्धे दशरूपके च।

पवित्रचारित्रतया कवीन्द्रैरारोपितो राम इव द्वितीयः ॥ ८८ ॥

अन्वयः—यः पवित्रचारित्रतया कवीन्द्रैः आख्यायिकासीम्नि कथाद्भुतेषु सर्गबन्धे च दशरूपके द्वितीयः राम इव आरोपितः।

सुधा—यः आहवमल्लदेवः, पवित्रचारित्रतया—पुनातीति पवित्रं पूतं चरित्रमेव चारित्रं पवित्रं च तच्चारित्रं चेति पवित्रचारित्रं सदाचारस्तस्य भावः पवित्रचारित्रता तया सदाचारतया ("पवित्रं प्रयतं पूतं मेध्यं शुद्धं शुचीति च" इति, "आचारो वृत्तचारित्रचरित्रचरणानि च" इति च वैजयन्ती), [पुनातीति 'पूञ्' पवने इति धातोः "कर्तरि चर्षिदेवतयोः" इति 'इत्र्' प्रत्यये 'पवित्र'मिति], कवीन्द्रैर्महाकविभिः, आख्यायिकासीम्नि—आख्यायिकाया उपलब्धार्थायाः सीम सीमा तस्यामुपलब्धार्थसीम्नि अनुभूतविषयप्रतिपादकसीमायामित्यर्थः ("आख्यायिकोपलब्धार्था" इति, "सोमसीमे स्त्रियामुभे" इति च अमरः) कथाद्भुतेषु विचित्रप्रबन्धकल्पनासु ("प्रबन्धकल्पना कथा" इत्यमरः), सर्गबन्धे महाकाव्ये ("सर्गबन्धो महाकाव्यम् ...." इति विश्वनाथः), च तथा, दशरूपके नाटकादिदशविधेऽभिनेयकाव्ये, द्वितीयः द्विसंख्यापूरकः [द्वयोः पूरण इति 'द्वि' शब्दात् "द्वेस्तीयः" इति 'तीय'प्रत्ययः], रामः—रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामो दशरथसुतः अन्यो रघुनाथ इत्याशयः, ['रमु' क्रीडायामिति धातोः "हलश्च" इति 'घञ्' प्रत्यये ञित्त्वादादिवृद्धौ 'राम' इति, इव यथा, आरोपितः स्थापितः। पवित्रचारित्रतया महाकवयः स्व-स्वकाव्येषु 'आहवमल्लदेव' रघुनाथमिव वर्णितवन्तः इत्याशयः। अत्राहवमल्लदेवस्य रामेण सादृश्यादुपमालङ्कारः। तृतीयचरण उपेन्द्रवज्राऽन्येषु त्रिषु चरणेष्विन्द्रवज्रेति 'शाला'ख्योपजातिरत्र। अथ प्रसङ्गादाख्यायिकादीनां लक्षणान्युच्यन्ते, तत्रादौ 'आख्यायिका'लक्षणं यथा—

"आख्यायिका कथावत् स्यात् कवेर्वंशादिकीर्तनम्।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित् क्वचित् ॥
कथांशानां व्यवच्छेद 'आश्वास' इति कथ्यते।
आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित् ॥
अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यार्थसूचनम्।" इति,

ततः 'कथा' लक्षणं यथा—

"कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम् ।
क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके ॥
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम् ।" इति,

अथ 'महाकाव्य' लक्षणं यथा—

"सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः ॥
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ।
शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ॥
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः ।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ॥
चत्वारस्तत्र वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ।
आदौ नमस्क्रियाऽऽशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ॥
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ।
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ॥
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ॥
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ।
सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ॥
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ।
वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह ॥
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ।
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु ॥" इति,

दशरूपकाणां नाटकादिभेदा यथा—

"नाटकमथ प्रकरणभाणव्यायोगसमवकारडिमाः ।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश ॥" इति च सा० द०

एषामेकैकस्य लक्षणं सविस्तरं साहित्यदर्पण उक्तमिति तत्रैव द्रष्टव्यम् ।
उपरूपकाणामष्टादशभेदा विश्वनाथेन तत्रैवोक्तास्ते यथा—

"नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टकं नाट्यरासकम् ।
प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यानि प्रेङ्खणं रासकं तथा ॥

संलापकं श्रीगदितं शिल्पकं च विलासिका ।
दुर्मल्लिका प्रकरणी हल्लीशो भाणिकेति च ॥
अष्टादश प्राहुरुपरूपकाणि मनीषिभिः ।
विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम् ॥"

इति सा० द० ॥ ८८ ॥

सुधासार—जिस (आहवमल्लदेव) के पवित्र आचरण होनेसे महाकवियोंने (अपनी-अपनी) श्रेष्ठ आख्यायिकों, अद्भुत कथाओं, महाकाव्यों और नाटक आदि दशविध रूपकोंमें (तथा अठारह प्रकारके उपरूपकों) में दूसरे रामचन्द्रके समान स्थापित किया है'।

विमर्श—सदाचार-सम्पन्न आहवमल्लदेवका वर्णन महाकवियोंने अपने अपने प्रबन्धोमें श्रीरामचन्द्रके समान किया है ॥ ८८ ॥

भूपेषु कूपेष्विव रिक्तभावं कृत्वा प्रपापालिकयेव यस्य ।
वीरश्रिया कीर्तिसुधारसस्य दिशां मुखानि प्रणयीकृतानि ॥ ८९ ॥

अन्वयः—प्रपापालिकया इव यस्य वीरश्रिया कूपेषु इव भूपेषु कीर्तिसुधारसस्य रिक्तभावम् कृत्वा दिशाम् मुखानि प्रणयीकृतानि ॥ ८९ ॥

सुधा—प्रपापालिकया—प्रपायाः पानीयशालायाः पालिकया रक्षिकया पिपासुपथिकेभ्यः प्रपास्थया जलवितरणपरया स्त्रियेत्यर्थः ("प्रपा पानीयशालिका" इत्यमरः), इव यथा, यस्याहवमल्लदेवस्य, वीरश्रिया—वीरस्य शूरस्य श्रिया लक्ष्म्या युद्धवीरतयेत्यर्थः, कूपेषु अन्धुषु ("पुंस्येवान्धुः प्रहिः कूप उदपानं तु पुंसि वा" इत्यमरः), इव यथा, भूपेषु—महीपालेषु [भुवं पृथिवी पान्ति रक्षन्ति इति 'भू'पूर्वकात् 'पा' रक्षणे इति धातोः "आतोऽनुपसर्गे कः" इति 'क' प्रत्यय "आतो लोप इटि च" इत्यालोपः], कीर्तिसुधारसस्य—कीर्तिर्वैरियश एव सुधारसोऽमृततुल्यं स्वादुजलं तस्य यशोऽमलजलस्य, रिक्तभावं शून्यत्वमिति यावत् ("शून्यं तु वशिकं तुच्छरिक्तके" इत्यमरः), कृत्वा विधाय, दिशां ककुभां ("दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः" इत्यमरः), मुखान्यग्रभागान् (पक्षे—आननानि) (मुखं निःसरणे वक्त्रे प्रारम्भोपाययोरपि" इति मेदिनी), प्रणयीकृतानि—प्रश्रयीकृतानि ("प्रणयः प्रश्रये प्रेम्णि याच्ञाविश्रम्भयोरपि । निर्वाणेऽपि" इति मेदिनी) ['प्रणय' शब्दात् 'कृ' धातुयोगे अभूततद्भावे 'च्वि' प्रत्ययेऽकारस्येकारः]। अत्र वीरश्रिया प्रपापालिकासादृश्यस्य भूपैः कूपसादृश्यस्य च

प्रतिपादनादुपमालङ्कारः, 'भुपेषु, कूपेषु' इत्यत्रानुप्रासालङ्कारश्च। प्रथमपादत्रय इन्द्रवज्रा चरमपादे चोपेन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'वाला'ख्योपजातिः।

सुधासार—प्याऊकी रक्षिका (प्याऊ अर्थात् पौसरेपर प्यासे पथिकों को पानी पिलानेवाली स्त्री) के समान जिस (आहवमल्लदेव) की वीरश्री (शूरवीरता) ने कूपोंके समान भूपालोको (उनके) निर्मल कीर्तिरूप जलसे शून्यकर दिशाओके अग्रभाग (पक्षान्तरमें—मुँह) को प्रणयपात्र बना दिया।'

विमर्श—आहवमल्लदेवके शत्रु राजालोग यशोहीन हो गये और इसकी कीर्ति दिशाओमें (सर्वत्र) फैल गयी॥ ८९॥

कौक्षेयकः क्ष्मातिलकस्य यस्य पीत्वतिमात्रं द्विषतां प्रतापम्।
आलोड्य बाष्पाम्बुभिराचचाम, चोलीकपोलस्थलचन्दनानि॥ ९०॥

अन्वयः—क्ष्मातिलकस्य यस्य कौक्षेयकः द्विषताम् प्रतापम् अतिमात्रम् पीत्वा चोलीकपोलस्थलचन्दनानि वाष्पाम्बुभिः आलोड्य आचचाम।

सुधा—क्ष्मातिलकस्य-क्ष्मायाः पृथिव्यास्तिलको विशेषकस्तस्य पृथिवी विशेषकस्य ("...गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी क्ष्मावनिर्मेदिनी मही" इत्यमरः, "तिलको द्रुमरोगाश्वभेदेषु तिलकालके। क्लीबं सौवर्चलालोम्नोर्न स्त्रियां तु विशेषके" इति मेदिनी), यस्याहवमल्लदेवस्य, कौक्षेयकः—कृपाणः ("कौक्षेयको मण्डलाग्रः करवालः कृपाणवत्" इत्यमरः) [कुक्षौ भव इति विग्रहे "कुलकुक्षिग्रीवाभ्यः श्वास्यलङ्कारेषु" इति 'ढकञ्' प्रत्यये "आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्" इति 'ढ'स्यैयादेशे 'कौक्षेयकः' इति], द्विषताम्—द्विषन्तीति द्विषन्तः शत्रवस्तेषाम्, प्रतापं प्रभावं (पक्षे—प्रकृष्टं तापम्), अतिमात्रं निर्भरमत्यधिकमित्यर्थः ("अतिमात्रोद्गाढनिर्भराः" इत्यमरः) [मात्रामतिक्रान्तमिति "अव्ययं विभक्तिसमीपे ..." इत्यव्ययीभावे "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" इति ह्रस्वः], पीत्वा पानं कृत्वा ['पा पाने इति धातोः "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" इति 'क्त्वा' प्रत्यये "घुमास्थागापाजहातिसां हलि" इति धातोराकारस्येकारः], चोलीकपोलस्थलचन्दनानि—चोलदेशवासिनो भूपा जनाश्च चोलास्तेषां स्त्रियश्चोल्यस्तासां कपोलस्थलेषु गण्डमण्डलीषु यानि चन्दनानि चन्दनलेपा हरिचन्दनरचितपत्त्ररचना इत्यर्थस्तानि चोलीकपोलस्थलचन्दनानि चोलभूपतिपत्नीगण्डस्थलहरिचन्दनानि ("गण्डो गल्लः कपोलश्च" इति वैजयन्ती), वाष्पाम्बुभिश्चोलाङ्गनाश्रुजलैः ("वाष्पमूष्माश्रु" इत्यमरः), आलोड्य मन्थयित्वा, आचचामाचमन चकार पपा-

वित्यर्थः। शत्रूणां प्रताप (अत्युष्णता) पानेनान्तरूष्मत्वमनुभवन् खड्ग-स्तदूष्मशान्तये चोलाङ्गनाकपोलचन्दनानि तासां रोदनजनेत्रजलैर्निर्मन्थ्य पीतवान्। चोलभूपतयो रणे हतास्तेषां रमण्यो रुरुदुस्तेन तासां कपोलस्थल-लिप्तानि चन्दनानि विलुप्तानीति भावः। ऊष्णवस्तुपानेनान्तस्तापे जाते तत्प्र-शमनाय चन्दनं जले मेलयित्वा पीयते इत्यस्वाभाविकव्यवहारस्य खड्गव्यव-हारे समारोपादत्र समासोक्तिरलङ्कारः। तल्लक्षणमाह विश्वनाथः—"समा-सोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः। व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तु-नः॥" इति। इन्द्रवज्रावृत्तमत्र।

सुधासार—पृथ्वीके तिलक जिस (आहवमल्लदेव) की तलवारने शत्रुओं के प्रताप (अधिक ताप अर्थात् तेज) को अत्यधिक पीकर (अन्तःकरण में अत्यन्त गर्मीका अनुभव होनेसे उसके शान्त्यर्थ) चोल भूपालो (या—चोल देशवासियों) की रमणियोके कपोलस्थलमें (पत्रावली-रचनार्थ) लगाये हुए चन्दनको (उन चोलरमणियोके) आँसूके जलके साथ मिलाकर पान किया।

विमर्श—आहवमल्लदेवने अपनी तलवारसे चोल राजाओंको मारकर उनके प्रतापको नष्ट कर डाला तो पतियोंके मारे जानेसे उनकी रमणियाँ रोने लगी, उनके कपोलोंपर पत्र-रचनादिमें लगाये गये चन्दन उनके आँसूसे धुल गये, इसीको ग्रन्थकारने इस प्रकार कहा है कि—आहवमल्लदेवकी तल-वारने प्रताप (अधिक ताप) को पी लिया अर्थात् शत्रुप्रतापको समूल नष्ट कर दिया, तदनन्तर भीतर अधिक गर्मीका अनुभव होनेसे चोल-रमणियोके कपोलोंपर लगाये हुए चन्दनको उन चोलियोंके आँसूके जलमें घोलकर पी लिया। लोकव्यवहारमें भी अधिक गर्म पदार्थ पीनेसे अन्तःकरणमें होनेवाले दाह (गर्मी) के शान्त होने के लिए लोग चन्दनको पानीमें मिलाकर पीते हैं॥ ९०॥

दीप्रप्रतापानलसन्निधानाद् बिभ्रत् पिपासामिव यत्कृपाणः।
प्रमारपृथ्वीपतिकीर्तिधारां धारामुदारां कवलीचकार॥ ९१॥

अन्वयः—यत्कृपाणः दीप्रप्रतापानलसन्निधानात् पिपासाम् इव बिभ्रत् प्रमारपृथ्वीपतिकीर्तिधाराम् उदाराम् धाराम् कवलीचकार।

सुधा—इदानी आहवमल्लदेवस्यान्तिम युद्धं परमार (भोज) कुलपरा-जयं च चतुर्भिः पद्यैर्वर्णयति—दीप्रेति। यत्कृपाणः—यस्याहवमल्लदेवस्य कृपाणः खड्गः, दीप्रप्रतापानलसन्निधानात्—दीप्रो दीप्तिमान् प्रतापः प्रभावः (प्रकृष्टतापश्च) इति दीप्रप्रतापः स एवानलो वह्निरिति दीप्रप्रतापाग्निस्तस्य सन्निधानात्सामीप्यात् ['दीपी' दीप्तौ इति धातोः "नमिकम्पिस्म्यजसकम-

हिसदीपो रः" इति 'र' प्रत्यये 'दीप्र' इति], पिपासामुदन्याम् ("उदन्या तु पिपासा स्यात् तर्षः" इत्यमरः) [पातुमिच्छति विग्रहे 'पा' पाने इति धातोः "धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा" इति 'सन्' प्रत्यये "सन्यङोः" इति द्वित्वेऽभ्यासकार्ये "अप्रत्ययात्" इति 'अ' प्रत्यये टापि 'पिपासा' इति] इव, बिभ्रत् धारयन् ['डुभृञ्' धारणपोषणयोरिति धातोर्लटि शतृप्रत्यये द्वित्वाभ्यासकार्ये "नाभ्यस्ताच्छतुः" इति नुमो निषेधे 'बिभ्रत्' इति], प्रमारपृथ्वीपतिकीर्तिधाराम्—प्रमारः 'परमार' इति प्रसिद्धो भोजनृपस्य क्षत्रियवंशः स चासौ पृथ्वीपतिर्भूपतिस्तस्य कीर्तेर्यशसो धारां प्रवाहरूपामिति प्रमारपृथ्वीपतिकीर्तिधारां परमाराख्यक्षत्रियवंशभूपतियशःप्रवाहरूपाम्, उदारां महतीम् ("उदारो दातृमहतोः" इत्यमरः), धारां 'धारा'ख्यां नगरीम्, कवलीचकार ग्रासीकृतवान् स्वाधीनां कृतवानित्यर्थः ("ग्रासस्तु कवलः पुमान्" इत्यमरः) [न कवलोऽकवलः अकवलं कवलं चकारेति "कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः" इति 'च्वि'प्रत्यये "अस्य च्वौ" इत्यकारस्येकारो बोध्यः]। आहवमल्लदेवस्यातितीव्रतेजोऽनलसंसर्गात् पिपासुरिव तत्कृपाणः परमारवंशकीर्तिप्रवाहरूपां श्रेष्ठां धारानगरीं स्वायत्तीकृतवान्। अन्योऽपि कश्चित् तीव्रतापसंयोगात् पिपासायुक्तोऽधिको जलधारां पिबति। दीप्रप्रतापानल इत्यत्र रूपकालङ्कारः, 'प्रताप' इत्यत्र 'धारा' इत्यत्र च श्लेषालङ्कारः, '...धारां धारामुदारामि'त्यत्रानुप्रासालङ्कारः, धारायाः कवलीकरणे दीप्रप्रतापानलसन्निधानजातपिपासाया धारणस्य कारणत्वेनोत्प्रेक्षणादत्र हेतूत्प्रेक्षालङ्कारश्च। तृतीयचरण उपेन्द्रवज्रा शेषेषु त्रिषु चरणेष्विन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'शाला'ख्योपजातिः।

सुधासार—जिस (आहवमल्लदेव) की तलवारने दीप्तिमान् प्रताप (अधिक सन्ताप) रूप आगके संसर्गसे मानो प्यासयुक्त होकर 'परमार' वंशवाले क्षत्रियोंके यशकी धारा (प्रवाह) के समान बड़ी 'धारा' नामकी राजधानी को ग्रस लिया अर्थात् अपने अधीन कर लिया।

विमर्श—आहवमल्लदेवकी तलवार उनके तीव्र प्रताप (अधिक ताप) के पास रहनेसे मानो प्यासी सी हो गयी, अतः उसने 'परमार' नामक वंशवाले क्षत्रियोंके कुलपरम्परागत कीर्ति-प्रवाहरूप विशाल 'धारा' (नामकी राजधानी) को ग्रस लिया अर्थात् जीतकर स्वाधीन कर लिया। इसी 'परमार' वंशमें सुप्रसिद्ध विद्वत्प्रेमी एव दानवीर 'भोज' राजा हुए थे और इनकी राजधानीका नाम 'धारा' था। लोक व्यवहारमें भी मनुष्य अधिक

गर्म आगके समीप रहनेसे प्यास लगने पर जलधारा अधिक जलको पीकर गर्मी शान्त करता है ॥ ९१ ॥

अगाधपानीयनिमग्नभूरिभूभृत्कुटुम्बोऽपि यदीयखड्गः ।
भाग्यक्षयान्मालवभर्तुरासीदेकां न धारां परिहर्तुमीशः ॥ ९२ ॥

अन्वयः—अगाधपानीयनिमग्नभूरिभूभृत्कुटुम्बः अपि यदीयखड्गः मालवभर्तुः भाग्यक्षयात् एकां धारां परिहर्तुम् ईशः न आसीत् ।

सुधा—'धारा'नगर्याः स्वायत्तीकरणं पुनः प्रकारान्तरेणाह—अगाधेति । अगाध-पानीय-निमग्न-भूरि-भूभृत्-कुटुम्बः—अगाधे गभीरे अधिके च पानीये खड्गधारायास्तीक्ष्णीकरणाय शिल्पिभिर्दत्ते जले जलसामान्ये च निमग्नं नितरां मग्नं विलीनं त्रुडितं चेत्यर्थः, भूरिणां बहूनां भूभृतां नृपाणां पर्वतानां च कुटुम्बं पुत्रपौत्रादिपोष्यवर्गः समूहश्च यस्मिन् सोऽगाधपानीयनिमग्नभूरिभूभृत्कुटुम्बोऽपि अतितीव्रजलनष्टबहुनृपपरिवारोऽपि पक्षे—गभीरजलत्रुडितबहुपर्वतसमूहोऽपि ("अगाधमतलस्पर्शमस्थानं च गभीरकम् । गम्भीरं च" इति, "कुटुम्बन्तु सुतादिकम्" इति च वैजयन्ती) [न गाधोऽगाधो 'नञ्' समासः, भुवं बिभ्रतीति भूभृतो 'क्विप्' प्रत्यये "ह्रस्वस्य पिति कृति" इति तुगागमः], यदीयखड्गः—यस्यायं यदीयः स चासौ खड्गश्चेति यस्य कृपाणः ['य'च्छब्दस्य "त्यदादीनि च" इति 'वृद्ध'संज्ञायां "वृद्धाच्छः" इति छप्रत्यये तस्येयादेशे 'यदीय' इति], मालवभर्तुर्मालवदेशनृपस्य, भाग्यक्षयात्—भाग्यस्य दैवस्य क्षयान्नाशात् ("विधौ दैवे दिष्टभाग्ये" इति वैजयन्ती), एकामन्यतमाम्, धारां 'धारा'नाम्नी मालवेशराजधानीं जलप्रवाहश्च ("धारा पूः कापि सेनाग्रं पतदम्ब्वादिसंततिः । खड्गादिनिशितप्रान्तस्तुरङ्गगतिपञ्चकम्" इति नानार्थरत्नमाला), परिहर्तुं त्यक्तुम्, ईशः प्रभुः समर्थ इत्याशयः ("ईशः प्रभौ महादेवे" इति मेदिनी), न नहि, आसीदभूत् । यद्यप्याहवमल्लदेवो बहून्नृपसमूहान् विजित्य तेषां नगरी स्वायत्ताश्चकार, अत एवास्या मालवाधीशनगर्या अस्वायत्तीकरणेऽपि तस्य काचित् क्षतिर्नासीत्तथापि तस्या अपि स्वायत्तीकरणे मालवेश्वरभाग्यक्षय एव हेतुरिति ज्ञायते । समस्तनृपतिभिः सह मालवेशमपि पराजितवानिति भावः । 'भूभृच्छ'ब्देन भूपतिपर्वतयोः 'धारा'शब्देन च 'धारा'ख्यनगरी जलप्रवाहयोश्च ग्रहणादत्र श्लेषालङ्कारः । प्रथमचरण उपेन्द्रवज्रेतरेषु पादेष्विन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'कीर्ति'नाम्न्युपजातिः ।

सुधासार अत्यधिक तलवारकी धारको तेज बनानेके वास्ते कारीगरद्वारा चढ़ाये गये पानी (पक्षान्तरमें—अथाह पानी) में नष्ट हुए अर्थात्

मारे गये (पक्षान्तरमें—डूबे हुए) राजाओंके कुटुम्ब (पक्षान्तरमें—पर्वत-समूह) हैं जिसमें, ऐसी जिस (आहवमल्लदेव) की तलवारने मालवदेशाधिपतिके भाग्यके नष्ट होनेसे एक भी धारा अर्थात् मालवनरेशकी 'धारा' नामकी राजधानी (पक्षान्तरमें—जलप्रवाह) को नहीं छोड़ा।

विमर्श—जिसके अथाह जलमें बहुत-से पर्वत-समूह डूब गये हैं, उसमें एक धारा (जल-प्रवाह) के न मिलनेपर जैसे उस जलमें कोई कमी नहीं होती, वैसे ही आहवमल्लदेवकी तेज पानीवाली तलवारने बहुत-से राजाओं को मारकर उनकी राजधानीको अपने वशमें कर लिया, उसके लिए मालवाधीशकी 'धारा' नामकी एक राजधानीको वशमें न करनेपर भी कोई क्षति नहीं होती, तथापि उसने मालवाधीशको जीतकर जो उसकी राजधानी 'धारा' नगरीको भी अपने वशमें कर लिया, इसमें मालवाधीशके भाग्यका क्षीण होना ही कारण जानना चाहिए॥ ९२॥

निःशेषनिर्वासितराजहंसः खड्गेन बालाम्बुदमेचकेन।
भोजक्ष्माभृद्भुजपञ्जरेऽपि यः कीर्तिहंसी विरसीचकार॥ ९३॥

अन्वयः—बालाम्बुदमेचकेन खड्गेन निःशेषनिर्वासितराजहंसः यः भोजक्ष्माभृद्भुजपञ्जरे अपि (तस्य) कीर्तिहंसीम् विरसीचकार।

सुधा—बालाम्बुदमेचकेन—अम्बु जलं ददातीत्यम्बुदो मेघः बालोऽभिनवश्चासावम्बुदश्चेति बालाम्बुदोऽभिनवमेघस्तद्वन्मेचकेन श्यामेनाभिनवमेघश्यामेन, ("कृष्णे नीलासितश्यामकालश्यामलमेचकाः" इत्यमरः) ['अम्बू'-पपदात् 'दा' धातोः "आतोऽनुपसर्गे कः" इति 'क'प्रत्यये 'आ'लोपे 'अम्बुदः' इति], खड्गेन कृपाणेन, निःशेषनिर्वासितराजहंसः—निःशेषं साकल्येन निर्वासिता बहिष्कृता मानसरोवरं प्रापिताश्च राजहंसाः श्रेष्ठाः राजानो रक्तवर्णचञ्चुचरणयुक्ताः श्वेता 'हंसा'ख्यपक्षिणश्च येन सः (राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैश्चोपलक्षिताः" इत्यमरः, "राजहंसस्तु कादम्बे कलहंसे नृपोत्तमे" इति मेदिनी) [राजसु हंस इवेति राजहंस उपमितसमासः, हंसानां राजेति राजदन्तादिषु परम्" इति पूर्वप्रयोगार्हे-'हंस'शब्दस्य परप्रयोगे 'राजहंस इति], य आहवमल्लदेवः, भोजक्ष्माभृद्भुजपञ्जरे—भोजो भोजनामकश्चासौ क्षमाभृद्राजा चेति भोजक्षमाभृद् भोजाख्यनृपस्तस्य भुजो बाहुरेव पञ्जरः पिञ्जर इति भोजक्ष्माभृद्भुजपञ्जरो भोजनृपतिबाहुपिञ्जरस्तस्मिन् ("भुजबाहू प्रवेष्टो दोः" इत्यमरः) अपि च (तस्य भोजस्यैव) कीर्ति-

हंसीम्—कीर्तिः समज्यैव हंसी मरालीति कीर्तिहंसी समज्यामराली तां ("यशः कीर्तिः समज्या च" इत्यमरः), विरसीचकार विरक्तां स्नेहहीनां विवर्णां च चकारेत्यर्थः। "प्रावृषि नवाम्बुदं दृष्ट्वा हंसा मानसरोवरं निवर्तन्त" इति प्रसिद्धम्। नवीनं जलदं दृष्ट्वा यथा हंसा मानसरोवरं निवर्तन्ते, तथैवाहवमल्लदेवस्य श्यामवर्णं खड्गं दृष्ट्वा श्रेष्ठा राजहंसा बहिष्कृता इति भोजस्य कीर्तिरूपा हंस्यपि तं भोजं त्यक्तवतीति भावः। नवाम्बुदेन खड्गसादृश्यादुपमालङ्कारः, राजसु राजहंसखगानामभेदारोपाद् भोजनृपे पञ्जरस्याभेदारोपाच्च सावयवो रूपकालङ्कारः। अत्रेन्द्रवज्रावृत्तम्।

सुधासार—नये बादलके समान मेचक (मोरपंखके समान चमकीली श्यामवर्ण) तलवारसे समस्त श्रेष्ठ भूपों (पक्षमें—राजहंस पक्षियों) को बहिष्कृत किये (पक्षमें—मानसरोवर लौटाये) हुए जिस (आहवमल्लदेव) ने भोजराजाके बाहुरूप पिंजड़ेमें भी (उनकी) कीर्तिरूपिणी हंसीको विरस अर्थात् स्नेहहीन (पक्षमें—विवर्ण अर्थात् बेरंग) कर दिया।

विमर्श—वर्षाऋतुके प्रारम्भमें श्यामवर्णवाले नये बादलोंको देखकर हंस मानसरोवर को चले जाते हैं, चमकती श्यामवर्ण आहवमल्लदेवकी तलवारको देखकर सब राजालोग भाग गये और भोज राजाकी कीर्ति भी उनसे विरक्त हो उन्हें छोड़ गयी॥ ९३॥

भोजक्ष्मापालविमुक्तधारानिपातमात्रेण रणेषु यस्य।
कल्पान्तकालानलचण्डमूर्तिश्चित्रं प्रकोपाग्निरवाप शान्तिम्॥ ९४॥

अन्वयः—रणेषु कल्पान्तकालचण्डमूर्तिः यस्य प्रकोपाग्निः भोजक्ष्मापालविमुक्तधारानिपातमात्रेण शान्तिम् अवाप (इति) चित्रम् (अस्ति)।

सुधा – रणेषु युद्धेषु, कल्पान्तकालानलचण्डमूर्तिः—कल्पान्तस्य प्रलयस्य कालः समय इति कल्पान्तकालस्तस्यानलोऽग्निरिव चण्डाऽतिकोपना मूर्तिः कायो यस्य स कल्पान्तकालानलचण्डमूर्तिः प्रलयसमयाग्नितुल्या भीषणाकृतिः ("संवर्तः प्रलयः कल्पः क्षयः कल्पान्त इत्यपि" इत्यमरः, "चण्डा धनहरीशङ्खपुष्प्योस्त्रिष्वतिकोपने। तीव्रेऽपि" इति, "मूर्तिः कायकाठिन्ययोः स्त्रियाम्" इति च मेदिनी), यस्याहवमल्लदेवस्य, प्रकोपाग्निः—प्रकृष्टः कोपः क्रोधः प्रकोपो महाक्रोधः स एवाग्निरनल इति प्रकोपाग्निर्महाकोपानलः, भोजक्ष्मापालविमुक्तधारानिपातमात्रेण—भोजो भोजनामा भोजवंशजो वा क्ष्मापालो भूपाल इति भोजक्ष्मापालो भोजभूपालस्तेन विमुक्तायाः पराजये सति त्यक्ताया धारायाः "धारा"ख्यस्वनगर्याः (पक्षे—जलधारायाः) निपात-

मात्रेण पतनमात्रेण (यद्वा—आहवमल्लदेवेन भोजक्षमापालं हन्तुं तस्मिन् विमुक्तायाश्चालितायाः धारायाः खड्गधारायाः निपातमात्रेण वृष्टिमात्रेण) ("धारा पूः कापि सेनाग्रं पतदम्ब्वादिसन्ततिः। खड्गादिनिशितप्रान्तस्तुरङ्गगतिपञ्चकम्" इति नानार्थरत्नमाला) शान्ति प्रशमम्, अवाप प्राप्तवान्, (इति) चित्रमाश्चर्यम्, अस्तीति शेषः। प्रलयसमयाग्निर्धारावृष्ट्याऽपि शान्तो न भवति, किन्तु आहवमल्लदेवस्य जात्वपि शमनमनुपगतस्तथाविधोऽग्निर्भोजनृपविमुक्तधारापतनेनैव शान्त इति विरोधस्तस्य भोजनृपतिना स्वपराजयाद्धेतोर्धारा नाम्नी स्वराजधानी त्यक्ता, अतस्तस्याः पतनेनास्य प्रकोपाग्निः शान्त इत्यविरोधादत्र विरोधाभासोलङ्कारः, 'धारा'शब्दस्य 'धाराख्या नगरी, जलधारा, खड्गधारे'त्यर्थाच्छ्लेषालङ्कारः, कल्पान्तकालानलेन प्रकोपाग्नेः सादृश्यादुपमालङ्कारः, प्रकोपाग्निरित्यत्र रूपकालङ्कारश्चेत्येषां सङ्करः। द्वितीयचरण उपेन्द्रवज्रा शेषेषु पादेष्विन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'वाणी'नाम्युपजातिः।

सुधासार—युद्धोंमें प्रलयकालकी अग्निके समान भयङ्कर आकृतिवाली जिस (आहवमल्लदेव) की प्रवल क्रोधरूप अग्नि भोज राजाके (पराजित होनेके कारण) द्वारा छोड़ी गयी 'धारा'नगरी (पक्षमें—जलधारा) के गिरने (वरसने) से ही शान्त हो गयी (यह) आश्चर्य है। (अथवा—आहवमल्लदेवके द्वारा (भोज राजाको मारनेके लिए उसपर) छोड़ी गयी धारा (तलवारकी धार) के गिरनेसे ही अर्थात् भोज राजाको मारनेसे ही शान्त हो गयी यह आश्चर्य है।)

विमर्श—राजा भोजको पराजित कर धारा नगरीके पतनके वाद आहवमल्लदेवने कही युद्ध नही किया ॥ ९४ ॥

यः कोटिहोमानलधूमजालैर्मलीमसीकृत्य दिशां मुखानि।
तत्कीर्तिभिः क्षालयति स्म शश्वदखण्डतारापतिपाण्डुराभिः ॥ ९५ ॥

अन्वयः—यः कोटिहोमानलधूमजालैः दिशाम् मुखानि मलीमसीकृत्य अखण्डताराधिपपाण्डुराभिः तत्कीर्तिभिः शश्वत् क्षालयति स्म।

सुधा—अधुनाऽऽहवमल्लदेवस्य यागप्रियत्वं वर्णयन्नाह—य इति। य आहवमल्लदेवः, कोटिहोमानलधूमजालैः—कोटयो कोटिसंख्यकाश्च ते होमाश्च यज्ञीयहवनानि चेति कोटिहोमास्तेषामनलस्याग्नेर्धूमानां वायुवाहानां जालैर्वृन्दैरिति कोटिहोमानलधूमजालैः नैककोटियज्ञाहुत्यग्निवायुवाहसमूहैः ("होमस्तु सवनं होत्रं हवनं हुतिराहुतिः" इति वैजयन्ती, "धूमः स्याद्वायुवाहोऽग्निवाहो दहनकेतनम्। अम्भसूः करमालश्च स्तरी जीमूतवाह्यपि"

इत्यभि० चिन्ता०, "जालं गवाक्ष आनाये क्षारके दन्तवृन्दयोः" इति मेदिनी), दिशां ककुभाम्, मुखानि अग्रभागान्याननानि च, मलीमसीकृत्य मलिनीकृत्य ("मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्" इत्यमरः) [मलोऽस्यास्तीति मत्वर्थे 'मल'शब्दात् "ज्योत्स्नातमिस्राश्रृङ्गिणोर्जस्विन्नूर्जस्वलगोमिन्मलिन-मलीमसाः" 'ईमस'प्रत्यये 'मलीमस' इति, ततो न मलीमस इत्यमलीमसः तं मलीमसं कृत्वेति अभूततद्भावे 'च्वि'प्रत्यये "अस्यच्वौ" इतीकारे समासत्वात् "समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्" इति 'ल्यबा'देशे "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" इति तुगागमः], अखण्डताराधिपपाण्डुराभिः—अखण्डः खण्डरहितः सम्पूर्ण इत्यर्थः स चासौ ताराणामधिपश्चन्द्र इत्यखण्डताराधिपः पूर्णचन्द्रस्तद्वत् पाण्डुराभिः श्वेताभिरित्यखण्डताराधिपपाण्डुराभिः पूर्णचन्द्रवच्छ्वेताभिः, तत्कीर्तिभिस्तेषां होमानां कीर्तिभिर्यशोभिरिति तत्कीर्तिभिस्तद्यशोभिः, शश्वत् सदा ("शश्वत् स्यादनुप्रश्ने च मङ्गले। पुराकल्पे सदार्थे च पुनरर्थे च दृश्यते" इति मेदिनी), क्षालयति स्म प्रक्षालयति स्म। कोटियज्ञहवनधूमैर्मलिनानि दिङ्मुखानि तदीययशोभिरेव पुनर्निर्मलानि जातानि, आहवमल्लदेवकृतयज्ञ-कीर्तिभिर्दिशो व्याप्ता जाता इति भावः। ताराधिपपाण्डुरत्वेन कीर्तिसादृश्य-प्रतिपादनादुपमालङ्कारः, दिङ्मुखानां मलीमसीकारणेभ्यो होमधूमेभ्यः पाण्डुकीर्तिजननाद्विषमालङ्कारश्च। विषमालङ्कारलक्षणं—"विरूपकार्या-नर्थयोरुत्पत्तिर्विरूपसंघटना च विषमम्" इत्यलङ्कारसर्वस्वे। अत्र प्रथमतृतीय-पादयोरिन्द्रवज्रा द्वितीयचतुर्थपादयोश्चेन्द्रवज्रेत्यतो 'भद्रा'ख्योपजातिः।

सुधासार—जो (आहवमल्लदेव) (करोड़ों यज्ञोंके) हवनोंके धूओंके समूहोंसे दिशाओंको मलिनकर (पुनः) पूर्ण चन्द्रके समान शुभ्र (उन हवनोंकी) कीर्तियोंसे सर्वदा धो डालता है।

विमर्श—(युद्धसे विरत होकर) आहवमल्लदेवने कोटिशः यज्ञ किये जिससे उनकी कीर्ति दिगन्त तक फैल गयी ॥ ९५ ॥

ध्रुवं रणे यस्य जयामृतेन क्षीवः क्षमाभर्तुरभूत्कृपाणः।
एका गृहीता यदनेन धारा धारासहस्रं यशसोऽवकीर्णम् ॥ ९६ ॥

अन्वयः—क्षमाभर्तुः यस्य कृपाणः रणे जयामृतेन ध्रुवम् क्षीवः अभूत्, यत् अनेन एका धारा गृहीता (किन्तु) यशसः धारासहस्रम् अवकीर्णम्।

सुधा—क्षमाभर्तुः—बिभर्तीति भर्ता पालकः क्षमायाः पृथिव्याः भर्तेति क्षमाभर्ता तस्य क्षमाभर्तुः पृथिवीपालकस्य भूपतेरित्यर्थः, यस्याहवमल्लदेवस्य, कृपाणः खड्गः, रणे युद्धे, जयामृतेन—जयो विपक्षभूपतिषु विजय एवामृतं

सुधा तेन विजयसुधया ("पीयूषममृतं सुधा" इत्यमरः), ध्रुवं निश्चितं ('ध्रुवो भभेदे, क्लीवं तु निश्चिते शाश्वते त्रिषु" इत्यमरः), क्षीवो मत्तः ("मत्ते शौण्डोत्कटक्षीवाः" इत्यमरः) ["अनुपसर्गात् फुल्लक्षीवकृशोल्लाघाः" इति निपातनात्साधुः], अभूद् बभूव। यद्यस्मात् ("यद् गर्हाहेत्ववधृत्योः" इति मेदिनी), अनेन कृपाणेन एकाऽद्वितीया ("एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा" इत्यमरः), धारा 'धारा'नगरी, पक्षे—जयामृतधारा, गृहीताऽऽत्मसात्कृता पीता च, (किन्तु) यशसः कीर्तेः, धारासहस्रम्—धाराणां प्रवाहानां सहस्रं दशशतीति धारासहस्रं सहस्रप्रवाहाः, अवकीर्णं प्रसारितं प्रक्षिप्तं वा। य एकं गृहीत्वा सहस्रं प्रक्षिपति, स मत्तो विचारमूढश्च गण्यते; एतदेव महाकविना कालिदासेनापि रघुवंशमहाकाव्ये नन्दिनीरक्षार्थं स्वदेहार्पणोद्यतं दिलीपं प्रति शिवानुचर-सिंहद्वाराप्रतिपादितं तद्यथा—"…… अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥" इति (२।४७)। 'धारा'शब्दस्य धारानगरी-अमृतधारा चेत्यर्थेन श्लेषालङ्कारः, एकस्या धारायाः सहस्रैर्यशोधाराभिर्विनिमयादत्र परिवृत्त्यलङ्कारश्च, तदुक्तमलङ्कारसर्वस्वे—"समाधिकन्यूनानां समाधिकन्यूनैर्विनिमयः परिवृत्तिः" इति। यद्वा—कृपाणस्य 'क्षीवत्व'प्रतिपादनरूपनिन्दया यशोविस्ताररूपप्रस्तुतेः प्रतिपादनात् व्याजस्तुत्यलङ्कारो वा, तदुक्तं तत्रैव—"स्तुतिनिन्दाभ्यां निन्दास्तुत्योर्गम्यत्वे व्याजस्तुतिः" इति। प्रथमपाद उपेन्द्रवज्राऽन्येषु पादेष्विन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'कीर्त्या'ख्योपजातिः।

सुधासार—पृथ्वीपति जिस (आहवमल्लदेव) की तलवार युद्धमें विजयरूप अमृतसे अवश्य ही पागल (मतवाली) हो गयी, क्योंकि इसने केवल एक धारा अर्थात् मालवेशकी 'धारा' नगरीको ग्रहण किया किन्तु यशकी हजारो धाराओं अर्थात् प्रवाहोंको फैला दिया।

विमर्श—जो एक वस्तु लेकर हजारों वस्तुएँ फैला (नष्ट कर) देता है, वह पागल या मूर्ख समझा जाता है। अतः आहवमल्लदेवकी तलवारने मालवेशकी एक 'धारा'नगरीको लेकर हजारों धाराओं (यशके प्रवाहो) को फैला दिया, अतः यह अवश्य पागल हो गयी है। प्रकृतमें आहवमल्लदेवने युद्धमें मालवनरेशको पराजित कर दिया, अतः उनका यश सर्वत्र फैल गया यह सूचित होता है ॥ ९६ ॥

शतक्रतोर्मध्यमचक्रवर्ती क्रमादनेकक्रतुदीक्षितोऽपि।
ऐन्द्रात्पदादभ्यधिके पदे यस्तिष्ठन्नशङ्कास्पदतामयासीत् ॥ ९७ ॥

अन्वयः—मध्यमचक्रवर्ती यः क्रमात् अनेकक्रतुदीक्षितः ऐन्द्रात् पदात् अभ्यधिके पदे तिष्ठन् (सन्) शतक्रतोः शङ्कास्पदम् न अयासीत् ।

सुधा—मध्यमचक्रवर्ती—मध्यमस्य त्रिलोक्यां मध्यगतस्य भूलोकस्येत्यर्थश्चक्रवर्ती सार्वभौमः ("चक्रवर्ती सार्वभौमः" इत्यमरः) [मध्ये भव इति 'मध्य' शब्दात् "मध्यान्मः" इति 'म' प्रत्यये 'मध्यम' इति, चक्रे भूमण्डले राजमण्डले वा वर्तितुं शीलमस्येति "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" इति 'णिनि'-प्रत्यये 'चक्रवर्ती' इति], यः आहवमल्लदेवः क्रमात् क्रमशः, अनेकक्रतुदीक्षितः—अनेकेषु बहुषु क्रतुषु यज्ञेषु दीक्षितः प्राप्तदीक्ष इत्यनेकक्रतुदीक्षितः बहुयज्ञेषु दीक्षां प्राप्तः ("यज्ञः सवोऽध्वरो यागः सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः" इत्यमरः) [दीक्षा संजाताऽस्येति—"तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्" इति 'इतच्' प्रत्यये 'दीक्षित' इति] (सन्), ऐन्द्रात्—इन्द्रस्येदमैन्द्रं तस्मादिन्द्रसम्बन्धिनः, पदात् स्थानात् ("पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु" इत्यमरः), अभ्यधिकेऽभ्युन्नते, पदे स्थाने, तिष्ठन् अवस्थितः शतक्रतोः—शतं शतसंख्याकाः क्रतवोऽश्वमेधयागा यस्य स शतक्रतुरिन्द्रस्तस्य, शङ्कास्पदम्—शङ्काया सन्देहस्यास्पदं स्थानशङ्कास्पदमनेकयागविधानेनायं मदीयमैन्द्रं पदं प्राप्स्यतीति शङ्कास्थानमित्यर्थः ("आस्पदं स्थानकृत्ययोः" इति वैजयन्ती), न नहि अयासीत् ययौ । शतयज्ञान् कर्तुर्नृपात् 'अयं मदीयमैन्द्रं पदमास्यते' इत्येवमिन्द्रः सदा शङ्कां करोति, किन्त्वनेक (कोटि) यज्ञान् कर्तुरस्मादाहवमल्लदेवादिन्द्रस्तस्मान्निःशङ्क एवासीत्, यतोऽयमैन्द्रादपि पदात्समुन्नतस्थानं त्यक्त्वा हीनस्थानं ग्रहीतुकामो जायते । अत्र शङ्काहेतौ सत्यपि तदभावाद्विशेषोक्तिरलङ्कारः । तदुक्तमलङ्कारसर्वस्वे-"कारणसामग्रीसत्त्वे कार्यानुत्पत्तिर्विशेषोक्तिः" इति । पूर्वार्द्धोत्तरार्द्धयोः क्रमश उपेन्द्रवज्रेन्द्रवज्रे इत्यतोऽत्र 'रामा'ख्योपजातिः ।

सुधासार—भूलोकके चक्रवर्ती जो (आहवमल्लदेव) क्रमशः अनेक यज्ञोंमें दीक्षित होकर भी इन्द्रके स्थान (स्वर्गके राज्य) से उन्नत पदपर रहता हुआ इन्द्रके सन्देहका स्थान नही बना अर्थात् अनेक (कोटि) यज्ञ करनेवाले आहवमल्लदेवसे इन्द्रको शङ्का नहीं हुई कि यह मेरा राज्य ले लेगा ।

विमर्श—इन्द्रने केवल सौ यज्ञ करके स्वर्गका राज्य पाया है और आहवमल्लदेवने अनेक (करोड़) यज्ञोंको किया एवं इन्द्रसे भी उन्नत भूलोकके चक्रवर्ती पदपर विराजमान है, इसी कारण आहवमल्लदेवसे इन्द्रको अपना पद ग्रहण कर लेनेका सन्देह नहीं हुआ । कोई भी विवेकशील व्यक्ति समुन्नत

स्थानको छोड़कर अपनेसे हीन स्थान ग्रहण करना नहीं चाहता। अथवा—ब्रह्मासे प्रार्थनाकर इन्द्रने ही इस चालुक्यवंशको अपनी रक्षाके लिए प्राप्त किया था, अतएव उस वंशमे उत्पन्न आहवमल्लवदेसे इन्द्रका निःशङ्क होना स्वाभाविक ही था ॥ ९७ ॥

चिन्तामणिर्यस्य पुरो वराकः, तथाहि वार्ता जनविश्रुतेयम् ।
यत्तत्र सौवर्णतुलाधिरूढे, चक्रे स पाषाणतुलाधिरोहम् ॥ ९८ ॥

अन्वयः——यस्य पुरः चिन्तामणिः वराकः (जातः), तथा हि——जनविश्रुता इयम् वार्ता, यत् तत्र सौवर्णतुलाधिरूढे सः पाषाणतुलाधिरोहम् चक्रे ।

सुधा—यस्याहवमल्लदेवस्य, पुरोऽग्रतः ("स्यात्पुरः पुरतोऽग्रतः" इत्यमरः), चिन्तामणिरेतन्नामा चिन्तितार्थप्रदो रत्नविशेषः, वराकः शोचनीयः ("वराकः शंकरे पुंसि शोचनीयेऽभिधेयवत्" इति मेदिनी), (जात इति शेषः)। तथा हि तथा च, इयमेषा, वार्ता वृत्तान्तः ("वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः" इत्यमरः), जनविश्रुता लोकप्रसिद्धा, (अस्तीति शेषः), यत्, तत्र तस्मिन् आहवमल्लदेवे इत्यर्थः, सुवर्णतुलाधिरूढे—सुवर्णस्य कनकस्य सुवर्णमानकसहितां वा तुलामधिरूढे समारूढे सति स्वमानपरिमितकनकदानार्थं तुलोपरि समारूढे सतीति भावः ("तुला सादृश्यमानयोः। गृहाणां दारुबन्धाय पीठिकायामपीष्यते ॥ राशौ पलशते भाण्डे" इति मेदिनी), सः चिन्तामणिः, पाषाणतुलाधिरोहम्——पाषाणस्य प्रस्तरस्य तुलायाम् अधिरोहमारोहणमिति पाषाणतुलाधिरोहं प्रस्तरनिर्मितमानकेन सह तुलारोहणम्, चक्रे कृतवान्। विप्राय तुलादानप्रसङ्गे आहवमल्लदेव. सुवर्णेनात्मानं तोलयति, चिन्तामणिस्तु प्रस्तरमानकेन तोल्यत इति हेतोरथ चायं चिन्तामणिश्चिन्तितमेवार्थं ददात्याहवमल्लदेवस्तु चिन्तितादप्यधिक ददातीति हेतोश्चिन्तामणिः शोचनीयो जातः। उपमानस्य चिन्तामणेराहवमल्लदेवोपेक्षया हीनत्वप्रतिपादनादत्र व्यतिरेकालङ्कारस्तदुक्तं विश्वनाथेन——"आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा। व्यतिरेक……" इति। द्वितीयपाद उपेन्द्रवज्रा शेषेषु पादेष्विन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'वाणी'नाम्न्युपजातिः।

सुधासार——जिस (आहवमल्लदेव) के आगे चिन्तामणिरत्न शोचनीय हो गया, क्योंकि यह बात लोगोंमें प्रसिद्ध है कि इस (आहवमल्लदेव) के (तुलादानके लिए) सुवर्णयुक्त तराजूपर चढनेपर यह (चिन्तामणि) पत्थर के साथ तराजू पर चढ़ा।

विमर्श—शास्त्र-विहित तुलादान करनेके वास्ते आहवमल्लदेव सोनेके तराजू पर चढ़कर सोनेसे तौला गया और चिन्तामणि रत्न पत्थरके बाट

(बटखरे) से वजन मालूम करनेके वास्ते तौला गया, इस कारणसे चिन्तामणि केवल चिन्तित (मनमें विचारी गयी) वस्तुको ही देता है. इसके विपरीत आहवमल्लदेव लोगोंको अचिन्तित या चिन्तितसे भी अधिक वस्तु देता है, इस कारणसे भी चिन्तामणिकी अपेक्षा आहवमल्लदेव श्रेष्ठ हो गया। तात्पर्य है कि आहवमल्लदेवने शास्त्र-विहित तुलादान किया। 'हेमाद्रि' के 'दानखण्ड' प्रकरणमें तुलादान करनेका बहुत अधिक पुण्य वर्णित है ॥ ९८ ॥

विधाय रूपं मशकप्रमाणं, भयेन कोणे क्वचन स्थितस्य ।
कलेरिवोत्सारणकारणेन यो यागधूमैर्भुवनं रुरोध ॥ ९९ ॥

अन्वयः—भयेन मशकप्रमाणम् रूपम् विधाय क्वचन कोणे स्थितस्य कलेः उत्सारणकारणेन यः यागधूमैः भुवनं रुरोध ।

सुधा—भयेन भीत्या ("दरस्त्रासो भीतिर्भीः साध्वसं भयम्" इत्यमरः), मशकप्रमाणम्—मशकः प्रमाणं यस्य तन्मशकप्रमाणं रणरणपरिमितम् ("अथ मशको घोषो रणरणश्च सः" इति त्रिकाण्डशेषः), रूपमाकारं ("रूपं स्वभावे सौन्दर्ये नामगे पशुशब्दयोः । ग्रन्थावृत्तौ नाटकादावाकारश्लोकयोरपि" इति मेदिनी), विधाय कृत्वा, क्वचन कस्मिंश्चित्, कोणे गृहादेरेकदेशे ("कोणो वाद्यप्रभेदे स्याद्वीणादीनां च वादने । एकदेशे गृहादीनामश्रौ च लगुडेऽपि च" इति मेदिनी), स्थितस्यात्मानं गोपयित्वाऽवस्थितस्य, कलेरेतन्नामकचतुर्थयुगस्य ("कलिः स्त्री कलिकायां ना शूराजिकलहे युगे" इति मेदिनी), उत्सारणकारणेनोत्सारणाय कारणेनापसारणाय, य आहवमल्लदेवः, यागधूमैः—यागानां यज्ञानां धूमैर्जीमूतवाहिभिः ("यज्ञः सवोऽध्वरो यागः सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः" इत्यमरः, "धूमः स्याद्वायुवाहोऽग्निवाहो दहनकेतनम् । अम्भःसूः करमालश्च स्तरीर्जीमूतवाह्यपि" इत्यभि० चिन्ता०), भुवनं लोकम्, रुरोध रुद्धवान् । शास्त्रविधानानुसारं यज्ञैः कलेरपसारणं लोकव्यवहारानुसारं च धूमैर्गृहादिकोणस्थमशकापसारणं क्रियते । आहवमल्लदेवभयेन कलिः सूक्ष्मं रूपं विधायाज्ञातस्थाने स्थित आसीत्तं यज्ञधूमैरयमाहवमल्लदेवो निःसारितवान् । एतस्य राज्ये कलेः प्रभावो नासीदिति भावः । कल्यपसारणाय यज्ञधूमद्वारा भुवनरोधोत्प्रेक्षायाः प्रतीतेरत्र प्रतीयमानोत्प्रेक्षालङ्कारः । प्रथमादिचरणत्रय उपेन्द्रवज्रा चरमपादे चेन्द्रवज्रेति 'वाला'ख्योपजातिरत्र ।

सुधासार—(आहवमल्लदेवके) डरसे मच्छर (के बराबर छोटा) रूप धारणकर कहीं कोनेमें बैठे अर्थात् छिपे हुए कलियुगको भगानेके वास्ते जिस

(आहवमल्लदेव) ने यज्ञोंके धूओंसे संसारको रोक (ढक) दिया।

विमर्श—यज्ञोंके द्वारा कलियुग तथा धूएँके द्वारा मच्छरको भगाया जाता है, अतः जब पुण्यात्मा आहवमल्लदेवके भयसे कलियुग बहुत छोटा रूप बनाकर अर्थात् अत्यन्त कृशकाय होकर कही अज्ञात जगहमें छिपा था, तब उसे कलिको भगानेके लिए आहवमल्लदेवने यज्ञधूमोसे संसारको आच्छादित कर दिया कि कलि मेरे राज्योमें कही भी नही रह सके। तात्पर्य यह है कि आहवमल्लदेवने इतने अधिक यज्ञ किये कि उनके राज्योंमें कलिका प्रभाव समूल नष्ट हो जाय॥ ९९॥

स्वाभाविकादुष्णगभस्तिभासः क्षत्रोष्मणो दृष्टिविघातहेतोः।
यस्मिन् परित्रस्त इति क्षितीन्द्रे, क्षणं न चिक्षेप कलिः कटाक्षम्॥१००॥

अन्वयः—कलिः स्वाभाविकात् उष्णगभस्तिभासः (इव) क्षत्रोष्मणः दृष्टिविघातहेतोः परित्रस्तः इति यस्मिन् क्षितीन्द्रे क्षणं कटाक्षं न चिक्षेप।

सुधा—कलिः कलियुगम्, स्वाभाविकात् प्राकृतिकान्नैसर्गिकादिति भावः, उष्णगभस्तिभासः—उष्णाः ग्रीष्माः गभस्तीनां किरणानां भासः प्रभाः यस्य तस्मादुष्णगभस्तिभासः ग्रीष्मकिरणकान्तेः रवेरित्यर्थः (इव), क्षात्रोष्मणः क्षात्रस्य क्षत्रियस्योष्मा तापस्तेज इति यावत् क्षात्रोष्मा, क्षात्रं तेजस्तस्मात्, दृष्टिविघातहेतोः—दृष्टेर्नेत्रस्य विघातो नाशस्तस्य हेतोः कारणादिति दृष्टिविघातहेतोर्दृष्टिनाशकारणात्, परित्रस्तो भीतः, इति कारणात् ("इति हेतुप्रकरणप्रकारादिसमाप्तिषु" इति वैजयन्ती), यस्मिन् यत्र क्षितीन्द्रे क्षितीशे आहवमल्लदेव इत्यर्थः, क्षण क्षणमात्रमपि, कटाक्षमपाङ्गदर्शनम् ("कटाक्षोऽपाङ्गदर्शनम्" इत्यमरः), न नहि, चिक्षेप क्षिप्तवान्। सूर्यवत्स्वाभाविकादाहवमल्लदेवस्य क्षात्रतेजसो दृष्टिविनाशभिया तं नेत्रप्रान्तेनापि कलिर्नैवावलोकितवान् तदा पूर्णदृष्ट्या बहु कालावध्यवलोकनस्य चर्चैव का? इति तात्पर्यम्। आहवमल्लदेवे स्वल्पोऽपि कलिप्रभावो नाभूदिति भावः। क्षात्रोष्मणा उष्णगभस्तिना सूर्येण सादृश्यप्रतिपादनादत्रोपमालङ्कारः। आद्ये पादत्रय इन्द्रवज्रा चतुर्थपाद उपेन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'वाला'ख्योपजातिः।

सुधासार—कलियुग स्वाभाविक सूर्यके समान क्षात्रतेजसे आँखके खराब होनेके कारणसे डर गया, इस कारण जिस (आहवमल्लदेव) राजाको क्षणमात्र (भी) कटाक्षसे नही देखा अर्थात् आहवमल्लदेवपर कलियुगका कुछ भी प्रभाव नही पड़ा।

विमर्श—जिस प्रकार आँख फूटनेके डरसे कोई भी व्यक्ति सूर्यके नैसर्गिक तेजकी ओर क्षणमात्र कटाक्ष (नेत्रकी कोर) से भी नही देखता है, उसी प्रकार आहवमल्लदेवके नैसर्गिक (स्वाभाविक) क्षात्रतेजसे डरा हुआ-सा कलि उनकी ओर क्षणमात्र भी नहीं देख सका। सारांश यह है कि कलिका थोड़ा-सा प्रभाव भी आहवमल्लदेवके ऊपर क्षणमात्र भी नहीं पड़ा ॥ १०० ॥

अन्यायमेकं कृतवान् कृती यश्चालुक्यगोत्रोद्भववत्सलोऽपि ।
यत्पूर्वभूपालगुणान् प्रजानां विस्मारयामास निजैश्चरित्रैः ॥ १०१ ॥

अन्वयः—चालुक्यगोत्रोद्भववत्सलः अपि कृती यः एकम् अन्यायं कृतवान्, यत् निजैः चरित्रैः पूर्वभूपालगुणान् प्रजानां विस्मारितवान् ।

सुधा—चालुक्यगोत्रोद्भववत्सलः—चालुक्यस्य गोत्रं चालुक्यकुलं तदुद्भवं उत्पत्तिस्थानं येषान्ते चालुक्यगोत्रोद्भवाश्चालुक्यकुलोत्पन्नाः तेषु वत्सलः स्निग्धः स्नेहवानित्यर्थः ("सन्ततिर्गोत्रजननकुलान्यभिजनान्वयौ । वंशोऽन्ववायः सन्तानः" इति, "स्निग्धस्तु वत्सल." इति च अमरः) [वत्से पुत्रादिस्नेहपात्रे कामोऽभिलाषोऽस्येति विग्रहे "वत्सांशाभ्यां कामबले" इति 'लच्'प्रत्यये 'वत्सलः' इति], अपि, कृती कृतमनेनेति कृती योग्यः ("कृती स्यात् पण्डिते योग्ये" इति मेदिनी) [प्रशस्तं कृतं कर्मास्येति 'कृत' शब्दात् "अत इनिठनौ" इति, कृतमनेनेति "इष्टादिभ्यश्च" इति वा 'इनि' प्रत्यये 'कृती' इति], यः आहवमल्लदेवः, एकमन्यतमम्, अन्यायम् असमञ्जसमनुचितमित्यर्थः ("अथ न्यायो देशरूप समञ्जसम्" इति वैजयन्ती), कृतवान् चकार; यत्, निजैः स्वकीयैः, चरितैः सदाचारप्रजारञ्जनादिगुणैः पूर्वभूपगुणान्—पूर्वेषां स्वपूर्वजानां भूपानां राज्ञां गुणान् प्रजापालनादिगुणान्, प्रजानां जनानां ('प्रजा स्यात् सन्ततौ जने" इत्यमरः), विस्मारयामास विस्मारितवान् । पूर्वपुरुषापेक्षया प्रजास्वधिकवात्सल्यादिना विशेषसुखिनो जनाः आहवमल्लदेवस्य पूर्वभूपान्न स्मरन्ति स्मेति भावः । पूर्वपुरुषान् प्रत्यन्यायोक्त्याऽऽहवमल्लदेवस्य निन्दा प्रतीयते, किन्तु पूर्वपुरुषापेक्षयाऽस्य गुणाधिक्यवर्णनेन प्रशंसायाः प्रतिपादनेनात्र व्याजस्तुतिरलङ्कारः, एतल्लक्षणमलङ्कारसर्वस्व उक्तं तद्यथा—"स्तुतिनिन्दाभ्यां निन्दास्तुत्योर्गम्यत्वे व्याजस्तुतिः" इति । इन्द्रवज्रावृत्तम् । पद्यमिदं कालिदासरचितरघुवंशमहाकाव्यस्याधस्तनपद्याशयकम् । तत्रत्यं पद्यमिदम् ।

"मन्दोत्कण्ठाः कृतास्तेन गुणाधिकतया गुरौ ।
फलेन सहकारस्य पुष्पोद्गम इव प्रजाः ॥ इति (३।९) ॥ १०१

सुधासार—चालुक्यवंशमें उत्पन्न (अपने पूर्वज) भूपालोंमें स्नेह रखनेवाले भी श्रेष्ठ कर्मवाले जिस (आहवमल्लदेव) ने एक अन्याय किया, जो (इसने) अपने चरित्रोंसे पूर्वज भूपालोके गुणोको प्रजाओंसे भुलवा दिया।

विमर्श—नये राजाके सिंहासनारूढ होनेपर प्रजाओंमें आशङ्का रहती है कि "न मालूम इस नये राजाका शासन कैसा होगा ?" किन्तु आहवमल्लदेवने इतने स्नेहसे प्रजाका पालन किया कि वह इनके पूर्वजोके गुणोको भूल गयी ॥ १०१ ॥

विशीर्णकर्णा कलहेन यस्य पृथ्वीभुजङ्गस्य निरर्गलेन।
सङ्गच्छतेऽद्यापि न डाहलश्रीः कर्पूरताटङ्कनिभैर्यशोभिः ॥ १०२ ॥

अन्वयः—पृथ्वीभुजङ्गस्य यस्य निरर्गलेन कलहेन विशीर्णकर्णा डाहलश्रीः कर्पूरताटङ्कनिभैः यशोभिः अद्य अपि न सङ्गच्छते।

सुधा—पृथ्वीभुजङ्गस्य – पृथ्व्याः भूमेः भुजङ्गस्य पत्युः कामुकस्य च ("वेश्यापतिर्भुजङ्गः स्यात् पिङ्गः पल्लविको विटः" इत्यमरः क्षे०), यस्याहवमल्लदेवस्य, निरर्गलेन—अर्गलाया निष्क्रान्तो निरर्गलो निरङ्कुशस्तेन बाधारहितेनेत्यर्थः ("अबाधं तु निरर्गलम्" इत्यमरः) ['निरर्गल' इत्यत्र "निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या" इति पञ्चमीतत्पुरुषसमासः], कलहेन रणेन ("अस्त्रियां समरानीकरणाः कलहविग्रहौ ··" इत्यमरः), विशीर्णकर्णा—विशेषेण शीर्णो इष्ट इति युद्धे निहित इति यावत् छिन्नश्चेति विशीर्णस्तथाभूतः कर्णः 'कर्ण'नामो डाहलाधीशः श्रोत्रञ्च यस्याः सा विशीर्णकर्णा निहत 'कर्णा'ख्यभूपाला छिन्नश्रोत्रा च, डाहलश्रीः—डाहलस्य 'डाहला'ख्यजनपदस्य 'चेदि'देशस्येति यावत् श्रीः राजलक्ष्मीः ('अयं 'डाहल'देशोऽग्निकोणे शुक्तिनदीतीरस्थ इति शब्दकल्पद्रुमः), कर्पूरताटङ्कनिभैः—कर्पूरस्य सुगन्धिद्रव्यविशेषस्य कुमुदस्य वा ताटङ्कः कर्णाभरण तन्निभैः तादृशैः हिमवालुकानिर्मितकर्णाभरणसदृशैः ("घनसारस्तु कर्पूरः सिताङ्गो हिमवालुका। चन्द्रनामा च" इति वैजयन्ती "सदृशव्याजयोर्निभः" इति त्रिकाण्डशेषः), यशोभिः, कीर्तिभिः, अद्यास्मिन्दिने अद्यावधीत्यर्थः ("अद्यात्राह्नि" इत्यमरः) ["सद्यःपरुत्परार्यैषमःपरेद्यव्यद्यपूर्वेद्युरन्येद्युरन्यतरेद्युरपरेद्युरधरेद्युरुभयेद्युरुत्तरेद्युः" इति निपातनात्साधु], अपि, न नहि, संगच्छते संगता भवति [सम्पूर्वकाद् गमेर्लटि "समो गम्यृच्छिभ्याम्" इत्यात्मनेपदम्]। डाहलाधीशे 'कर्ण'नृपतौ रणे निहते तद्यशोऽपि नष्टमिति भावः। अत्र 'भुजङ्ग'शब्दस्य' 'स्वामि-कामुके'त्यर्थद्वयेन 'कर्ण' शब्दस्य 'श्रोत्र-डाहलाधीशे'त्यर्थद्वयेन च श्लेषालङ्कारः, यशसः कर्पूर-

ताटङ्कसादृश्यादुपमालङ्कारश्च । प्रथमचरण उपेन्द्रवज्रेतरेषु त्रिषु पादेष्विन्द्र-वज्रेत्यतोऽत्र 'कीर्त्या'ख्योपजातिः ।

सुधासार—पृथ्वीके प्रति (पक्षान्तरमें—कामुक) जिस (आहवमल्लदेव) के निर्बाध युद्धमें नष्ट (पक्षान्तरमें – मारे गये) कर्ण अर्थात् 'डाहल' (चेदि) देशके राजा (पक्षान्तरमें—छिन्न (कटे हुए) कानों वाली) 'डाहल' (चेदि) देशकी लक्ष्मी कपूर (अथवा—कुमुदपुष्प) के कर्णभूषण के समान (शुभ्र) यशसे आजभी युक्त नहीं है ।

विमर्श—निर्बाध किये गये युद्धमें आहवमल्लदेवके द्वारा डाहलाधीश 'कर्ण'के मारे जानेपर उसका यश भी समूल नष्ट हो गया । यह 'डाहल' देश अग्निकोणमें 'शुक्ति' नदीके तटपर बसा है ऐसा 'शब्दकल्पद्रुम'कार का मत है ॥ १०२ ॥

कर्णे विशीर्णे कलहेन यस्य पृथ्वीभुजङ्गस्य निरर्गलेन ।
कीर्तिः समाश्लिष्यति डाहलोर्वीं न दन्तताटङ्कनिभाऽधुनापि ॥१०३॥

अन्वयः—पृथ्वीभुजङ्गस्य यस्य निरर्गलेन कलहेन कर्णे विशीर्णे दन्तताटङ्कनिभा कीर्तिः डाहलोर्वीम् अधुना अपि न समाश्लिष्यति ।

सुधा—पूर्वपद्योक्तमेव पुनर्वर्णयति—कर्ण इति । पृथ्वीभुजङ्गस्य—पृथ्व्याः भूमेर्भुजङ्गस्य पत्यु कामुकस्य च, यस्याहवमल्लदेवस्य, निरर्गलेन निर्बाधेन, कलहेन युद्धेन, कर्णे 'कर्ण'नामके डाहलदेशपतौ श्रोत्रे च विशीर्णे नष्टे मृते इत्यर्थः, छिन्ने च, दन्तताटङ्कनिभा—दन्तस्य हस्त्यादिदन्तस्य ताटङ्कः कर्णाभरणं तन्निभा तत्सदृशी, कीर्तिर्यशः डाहलोर्वीम्—डाहलस्य डाहलदेशस्योर्वी भूमिं डाहलोर्वीं डाहलदेशभूमिम्, अधुनाऽस्मिन् काले ("कालेऽस्मिन्नधुनेदानीं सम्प्रत्येतर्हि साम्प्रतम्" इति वैजयन्ती) ['इदं'शब्दात् "अधुना" इति 'अधुना' प्रत्यये "इदम ईश्" इतीदमः 'ईशा'देशे "यस्येति च" इति तस्य लोपे च 'अधुना' इति पदं साधु], अपि च, न नहि, समाश्लिष्यति आलिङ्गनं करोति । अनुपदोक्तपद्ये व्याख्याता शब्दास्तत्रैव द्रष्टव्याः । अलङ्कारोऽप्युक्त-पद्यगत एव । प्रथमादिचरणत्रय इन्द्रवज्राऽन्तिमचरणे चोपेन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'वाला'ख्योपजातिः ।

सुधासार—पृथ्वीके स्वामी (पक्षान्तरमे—पृथ्वीके कामुक) जिस (आहव-मल्लदेव) के निरन्तर युद्धसे कर्ण अर्थात् डाहलदेशके 'कर्ण' नामक राजा (पक्षान्तरमे—कान) के नष्ट होने (मारे जाने, पक्षान्तरमे—कट जाने) पर (हाथी) दाँतके बने कर्णभूषणके समान शुभ्र कीर्ति डाहलदेशकी भूमिको इस

समय भी आलिङ्गन नहीं करती है अर्थात् डाहलाधीश राजा 'कर्ण'के युद्धमें मारे जानेपर उसका यश भी समूल नष्ट हो गया।

विमर्श—पूर्व (१०२) श्लोकके समान ही है ॥ १०३ ॥

यस्यासिरत्युच्छलता रराज, धाराजलेनेव रणेषु धाम्ना।
दृप्तारिमातङ्गसहस्रसङ्गाम्, अभ्युक्ष्य गृह्णन्निव वैरिलक्ष्मीम् ॥ १०४॥

अन्वयः—यस्य असिः अत्युच्छलता धाराजलेन इव धाम्ना दृप्तारिमातङ्गसहस्रसङ्गाम् वैरिलक्ष्मीम् अभ्युक्ष्य गृह्णन् इव रराज।

सुधा—यस्याहवमल्लदेवस्य, असिः खड्गः, अत्युच्छलताऽतिशयेनोपरि गच्छता, धाराजलेन—धारायाः खड्गधाराया जलयन्त्रस्य च, जलेन नीरेण, इव यथा, धाम्ना प्रभावेण ("धाम जन्मप्रभावान्नभाःसु खे भोजने गृहे।" इति वैजयन्ती), दृप्तारिमातङ्गसहस्रसङ्गाम्—दृप्ताश्च मत्ताश्च तेऽरयश्च रिपवश्चेति दृप्तारयस्त एव मातङ्गाः श्वपचाः गजाश्चेति दृप्तारिमातङ्गास्तेषां सहस्रेण दशशत्या सङ्गः संसर्गो यस्यास्ताम्, यद्वा—दृप्तानामरीणां मातङ्गा दृप्तारिमातङ्गा मत्तारिगजास्तेषां सहस्रेण सहस्रस्य वा सङ्गो यया तां दृप्तारिसहस्रसङ्गां ("मातङ्गः श्वपचे गजे" इति मेदिनी), वैरिलक्ष्मीम्—वैरिणां रिपूणां लक्ष्मी श्रियमिति वैरिलक्ष्मी शत्रुराजश्रियम्, अभ्युक्ष्य संसेच्य, गृह्णन् ग्रहणं कुर्वन्, इव वा, रराजाराजत्। श्वपचसंसर्गादपवित्रं वस्तु जलमार्जनेन पवित्रं कृत्वा गृह्यते, तथैवास्य खड्गोऽपि चाण्डालसहस्रसंसर्गापवित्रां शत्रुराजलक्ष्मीं धाराजलसेचनेन शुद्धां विधाय ग्रहणं चकार, सहस्रशो मत्तवैरिगजान् खड्गेन हत्वा शत्रुश्रियं गृहीतवानिति भावः। धाराजलस्य धाम्ना साम्यादुपमा, धाराशब्देन खड्गधाराया जलधारायास्तथा मातङ्गशब्देन गजश्वपचयोर्ग्रहणादत्र श्लेषालङ्कारः, वैरिलक्ष्म्या धाराजलेनाभ्युक्ष्य वैरिश्रियो ग्रहणस्योत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालङ्कारश्चेत्येतेषां क्षीरनीरन्यायेन सांकर्यात् सङ्करः। इन्द्रवज्रावृत्तम्।

सुधासार—जिस (आहवमल्लदेव) की तलवार अत्यधिक ऊपर उछलती हुई (अपनी) धार (या—फौव्वारे) के पानी के प्रभावसे मत्त शत्रुरूप हजारों चाण्डालोंके (पक्षमें—शत्रुओंके हजारों मतवाले हाथियोंके) संसर्गवाली राजलक्ष्मीको छिड़ककर (छिड़कनेसे पवित्रकर) ग्रहण करती हुई-सी शोभती थी।

विमर्श—चाण्डालके संसर्गसे अपवित्र वस्तुको पानी छिड़ककर पवित्र होनेके बाद जिस प्रकार ग्रहण किया जाता है, वैसे ही आहवमल्लदेवकी तलवारने

मतवाले शत्रुरूप हजारों चाण्डालों (या—हाथियों) के संसर्ग वाली शत्रुओं की राजलक्ष्मी को मानो धाराजल के छिड़काव से पवित्र कर ग्रहण किया ॥१०४॥

यद्वैरिसामन्तनितम्बिनीनाम्, अश्रान्तसन्तापकदर्थ्यमाने।
पराङ्मुखं शोषविशङ्कयेव, कुचस्थले कुङ्कुमपङ्कमासीत् ॥ १०५ ॥

अन्वयः—यद्वैरिसामन्तनितम्बिनीनाम् अश्रान्तसन्तापकदर्थ्यमाने कुचस्थले शोषविशङ्कया इव कुङ्कुमपङ्कं विमुखम् आसीत् ।

सुधा—यद्वैरिसामन्तनितम्बिनीनाम्—यस्याहवमल्लदेवस्य वैरिणः शत्रवः सामन्ताः राजसन्धिस्थाः नृपास्तेषां नितम्बिन्योऽतिशयितनितम्बवत्यो रमण्यस्तासाम् ("सामन्ता राजसन्धिस्थाः" इति वैजयन्ती) [अतिशयितौ नितम्बौ यासां ताः "अत इनिठनौ" इति 'इनि' प्रत्यये "ऋन्नेभ्यो ङीप्" इति 'ङीप्' प्रत्यये 'नितम्बिन्य' इति], अश्रान्तसन्तापकदर्थ्यमाने—अश्रान्तेन शाश्वतेन सन्तापेन पतिविरहजातज्वरेण कदर्थ्यमाने कदर्थीक्रियमाणे पतिविरहजन्यशाश्वतिककामज्वरकातरीक्रियमाणे, कुचस्थले प्रयोधरस्थाने, शोषविशङ्कया–शोषस्य शोषणस्य विशङ्कयाऽऽशङ्कया शुष्कत्वसन्देहेनेति भावः, इव यथा, कुङ्कुमपङ्कम्—कुङ्कुमस्य पङ्कं कर्दम इति कुङ्कुमपङ्कं कुङ्कुमलेपः इत्यर्थः ("कुङ्कुमं घुसृणं वर्ण्यं रक्त लोहितचन्दनम्" इति, "अथ कर्दमे । दारिपत्परिपत्पङ्कचिकिलाश्च निषद्वरः । शादावकीलजम्बालाः" इति च वैजयन्ती), पराङ्मुखम्—पराचि पश्चान्मुखमाननं यस्य तत् विमुखम्, आसीदभूत् । रणे पतिषु हतेषु पतिविरहज्वरार्तास्तद्रमण्यः स्तनयोः कुङ्कुमलेपं तत्यजुरिति भावः । कुचस्थले कुङ्कुमपङ्कस्य पराङ्मुखत्वे कुचस्थले शोषाशङ्काया हेतुतयोत्प्रेक्षणादत्र हेतूत्प्रेक्षालङ्कारः। पूर्वार्द्धे इन्द्रवज्रोत्तरार्द्धे चोपेन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'रामा'ख्योपजातिः ।

सुधासार—जिस (आहवमल्लदेव) के शत्रु सामन्तोंकी श्रेष्ठ नितम्बों वाली रमणियोंके (पतिविरह के कारण) संतप्त स्तनो पर निरन्तर सन्तापसे सूखनेकी आशङ्कासे कुङ्कुम का पङ्क अर्थात् लेप विमुख हो गया ।

विमर्श—युद्धमें आहवमल्लके द्वारा अपने पतियोंके मारे जाने पर पतिविरहजन्य सन्तापसे उन वैरि-सामन्तोकी रमणियोंने स्तनोंपर कुङ्कुमलेप करना छोड़ दिया ॥ १०५ ॥

एकत्र वासादवसानभाजः, ताम्बूललक्ष्म्या इव संस्मरन्ती ।
वक्त्रेषु यद्वैरिविलासिनीनां, हासप्रभा तानवमाससाद ॥ १०६ ॥

अन्वयः—यद्वैरिविलासिनीनां वक्त्रेषु एकत्र वासात् अवसानभाजः ताम्बूललक्ष्म्याः संस्मरन्ती इव हासप्रभा तानवम् आससाद ।

सुधा—यस्याहवमल्लदेवस्य वैरिणां रिपूणां विलासिन्यः विलासवत्यो रमण्य इति यद्वैरिविलासिन्यस्तासां यदीयरिपुरमणीनाम्, वक्त्रेषु मुखेषु, एकत्र एकस्मिन्नित्येकत्र मुखरूपे एकस्थाने ['एक' शब्दात् "सप्तम्यास्त्रल्" इति 'त्रल्' प्रत्ययः], वासात् निवासात्, अवसानभाजः—अवसानं विरामं भजते सेवते इत्यवसानभाक् तस्याः समाप्ताया इत्यर्थः ("अवसानं विरामोऽमध्यम्" इति त्रिकाण्डशेषः), ताम्बूललक्ष्म्याः नागवल्लीशोभायाः ["कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठी" इति भट्टोजिदीक्षितोक्तेरत्र 'षष्ठी' विभक्तिः], संस्मरन्ती स्मरणं विदधती, हासप्रभा—हासस्य हास्यस्य प्रभा कान्तिरिति हासप्रभा हास्यच्छविरित्यर्थः ("हासिका तु हसो हासो हसन हास्यघर्घरे" इति वैजयन्ती, 'हास' भेदास्तत्रैव वैजयन्त्यामुक्ता यथा—"स्मित त्वदृष्टरदने हासो वक्रोष्ठिकानना । रुचिः स्त्री हसितं दृष्टदन्ते विहसितं श्रुते ॥ सोपहासे त्वाच्छुरितकं तथोपहसितं भवेत् । निकुञ्चितशिरोगात्रमट्टहासो महाहसे ॥ अतिहासस्त्वनुस्यूतोऽपहासोऽकारणात् कृते" इति) तानवम्—तनोर्भावस्तानवं कृशत्वम्, आससाद प्राप्तवती । ताम्बूलभक्षणं हासश्च मुख एवेति हेतोरनयोरेकत्र वास उक्तः । पतिविरहेण वैरिविलासिन्यस्ताम्बूलभक्षणं तत्यजुस्तत्सहवासिनी तासां हासप्रभा च कृशत्वं गतेति भावः, सहवासिन्यभावे तत्स्मृत्वाऽन्यस्याः कृशतोचितैव । आहवमल्लदेवेन युद्धे पतिषु हतेषु शत्रुरमण्यस्तेषां वियोगेन ताम्बूलचर्वणं हासं च तत्यजुरिति भावः । हासप्रभावास्ताम्बूललक्ष्म्यवसानस्मरणस्य हासतानवत्वे हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणादत्र हेतूत्प्रेक्षालङ्कारः, अप्रासङ्गिकस्य सहवासिनीवृत्तान्तस्य प्रासङ्गिकहासप्रभावृत्तान्तेऽभेदारोपात् समासोक्तिरलङ्कारश्च । इन्द्रवज्रावृत्तम् ।

सुधासार—जिस (आहवमल्लदेव) के वैरियोंकी विलासिनी रमणियोंके मुखमे एक जगह रहने से नष्ट हुई पानकी कान्तिको मानो स्मरण करती हुई हासप्रभा दुर्बल हो गयी ।

विमर्श—जिस प्रकार एक साथ रहने वाली कोई सहेली दूसरी सखीके अभावमें उसको याद करती हुई दुबली हो जाती है, उसी प्रकार आहवमल्लदेव वैरियोंकी रमणियोके मुखमें एक साथ रहनेसे पतिविरहमें पान खाना छोड़ देनेके कारण उन्ही मुखोंमें रहनेवाली हंसीकी शोभा अर्थात् हँसी अपनी सहवासिनी पानकी शोभाको याद करती हुई-सी दुर्बल (फीकी) हो गयी । आहवमल्लदेवके

द्वारा अपने पतियोंके मारे जाने पर उनकी विलासवती स्त्रियोंने पान खाना छोड़ दिया और हँसना भी कम कर दिया ॥ १०६ ॥

यं वारिधिः प्रज्वलदस्त्रजालं, वेलावनान्तेषु नितान्तभीतः ।
भूयः समुत्सारणकारणेन समागतं भार्गवमाशशङ्के ॥ १०७ ॥

अन्वयः—नितान्तभीतः वारिधिः प्रज्वलदस्त्रजालं यं समुत्सारणकारणेन वेलावनेषु भूयः समागतं भार्गवम् आशशङ्के ।

सुधा—नितान्तभीतः—नितान्तमत्यन्तं भीतस्त्रस्तः इति नितान्तभीतोऽत्यन्तत्रस्तः ("दरिते भीतचकितत्रस्ताः" इति वैजयन्ती), वारिधिः—वारि जलं धीयतेऽस्मिन्निति वारिधिः पयोधिः ['वरि'पूर्वकाद् 'धा' धातोः "उपसर्गे घोः किः" इति 'कि' प्रत्यये 'आ'लोपः], प्रज्वलदस्त्रजालम्—प्रज्वलन्ति प्रकर्षेण दीप्यमानानि सन्तापयुक्तानि वा अस्त्राणामायुधानां जालानि समूहा यस्य स प्रज्वलदस्त्रजालस्तं भृशं दीप्यमानायुधसमूहम्, यमाहवमल्लदेवम्, समुत्सारणकारणेन—निर्वासनहेतुना अपसारणार्थमिति भावः, वेलावनेषु—वेलायास्तीरस्य वनेष्वरण्येषु तीरारण्येष्विति भावः ("वेला काले च सीमायामब्धेः कूलविकारयोः । अक्लिष्टमरणे रागे ईश्वरस्य च भोजने" इति मेदिनी, "वेला बुधस्त्रिया काले सीमनीश्वरभोजने । अरिष्टमरणेऽम्भोधेस्तीरनीरविकारयोः" इत्यनेकार्थसंग्रहश्च), भूयो मुहुः ("भूयः स्यादसकृन्मुहुः" इति हलायुधः), समागतं समायातम्, भार्गवम्—भृगोरपत्यं पुमान् भार्गवस्तं परशुरामं ("भार्गवः परशुरामे सुधन्वनि मतङ्गजे । दैत्याचार्ये" इत्यनेकार्थसंग्रहः), आशशङ्के आशङ्कितवान् । अत्र प्रकृते आहवमल्लदेवे भार्गवशङ्कोत्पत्त्या शुद्धसन्देहालङ्कारस्तदुक्तं विश्वनाथेन—"सन्देह प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः । शुद्धो निश्चयगर्भोऽसौ निश्चयान्त इति त्रिधा ॥" इति । परशुरामास्त्रापसारितोऽयं पश्चिमसमुद्रः सह्यपर्वतात् षोडशक्रोशदूरस्थो वनभूभागः । सह्यपर्वत-समुद्रयोर्मध्यभागस्थोऽयं वनप्रदेशः 'परशुरामक्षेत्र'नाम्ना ख्यातः कोङ्कणदेशे वर्तते । प्रथमादिपादत्रय इन्द्रवज्रा चरमपादे चोपेन्द्रवज्राऽतोऽत्र 'वाला'ख्योपजातिः । पुराणप्रसिद्धां परशुरामकृतसमुद्रोत्सारणकथामालक्ष्य महाकविकालिदासोऽपि स्वकीये रघुवंशमहाकाव्ये प्रोक्तवान्, तद्यथा—

"तस्यानीकैर्विसर्पद्भिरपरान्तजयोद्यतैः ।
रामास्त्रोत्सारितोऽप्यासीत्सह्यलग्न इवार्णवः ॥" ४।५३

सुधासार—(परशुरामके द्वारा पहले हटाये जानेके कारण) अधिक डरे

हुए समुद्रने चमकते हुए शस्त्रोंके समूहों वाले जिस (आहवमल्लदेव) को हटाने लिए तीरस्थ जङ्गलोमें पुनः आये हुए परशुरामकी आशङ्का की।

विमर्श—परशुरामने अपना क्षेत्र बनानेके लिए अपने अस्त्रोंसे समुद्रको वहाँसे हटा दिया था, अतः उसी समयसे डरा हुआ समुद्र चमकते हुए अस्त्र-समूहोंवाले आहवमल्लदेवको दिग्विजय करते हुए सह्यपर्वत के निकट गया हुआ देखकर 'मुझे हटानेके लिए परशुराम पुनः आ गये हैं' ऐसा सन्देह किया॥१०७

रत्नोत्करग्राहिषु यद्भटेषु तटत्रुटन्मौक्तिकशुक्तिभङ्ग्या।
अस्फोटयत्तीरशिलातलेषु रोषेण मूर्धानमिवाम्बुराशिः॥ १०८॥

अन्वयः—अम्बुराशिः यद्भटेषु रत्नोत्करग्राहिषु (सत्सु) तटत्रुटन्मौक्तिक-शुक्तिभङ्ग्या रोषेण तीरशिलातलेषु मूर्धानम् अस्फोटयत् इव।

सुधा—अम्बुराशिः समुद्रः, यद्भटेषु यदीययोधेषु ('भटा योधाश्च योद्धारः' इत्यमरः), रत्नोत्करग्राहिषु—रत्नानां मणीनामुत्करान् राशीन् गृह्णन्तीति तच्छीला रत्नोत्करग्राहिणो मुक्तादिमणिराशिग्रहीतारस्तेषु ("पुञ्जराशी तूत्करः कूटमस्त्रियाम्" इत्यमरः) ['उत्कीर्यत, इति 'कॄ' विक्षेपे इति धातोः "ऋदोरप्" इति 'अप्' प्रत्ययः], (सत्स्विति शेषः) [अत्र "यस्य च भावेन भावलक्षणम् इति सप्तमी], तटत्रुटन्मौक्तिकशुक्तिभङ्ग्या—तटेषु तीरेषु त्रुटन्तीनां शकलीभवन्तीनां मुक्ताशुक्तीनां मुक्तास्फोटानां भङ्ग्या वैदग्ध्या इति तटत्रुटन्मौक्तिकशुक्तिभङ्ग्या ("मुक्तास्फोटोऽब्धिमण्डूकी शुक्तिः" इति वैजयन्ती, "वैदग्धी भङ्गिश्चेभनिमीलिका" इति त्रिकाण्डशेषः), तीरशिला-तलेषु तटावस्थितपाषाणेषु ("कूलं रोधश्च तीरं च प्रतीरं च तटं त्रिषु" इत्यमरः), रोषेण क्रोधेन, मूर्धानं शिरः, अस्फोटयत् इव स्फोटितवानिव। यथा चौर-साहसिकादिभिर्धनादिष्वाददत्सु प्रतिकारासमर्थः कश्चित् क्रोधेन शिरः प्रस्तरादिष्वाहत्य स्फोटयति, तथैवाहवमल्लदेवस्य योधैः समुद्रतीरगतमुक्ता-प्रवालादिष्वादीयमानेषु समुद्रोऽप्यकरोदिति तीरस्थशिलातलाघातेन खण्डय-मानैस्तरङ्गागतमुक्तास्फोटैरुत्प्रेक्षितं कविना। अत्र समुद्रे शिरःस्फोटनक्रियो-त्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालङ्कारः। द्वितीयचरण उपेन्द्रवज्रे तरेषु त्रिषु चरणेष्विन्द्र-वज्रेत्यतोऽत्र 'वाण्या'ख्योपजातिः।

सुधासार—समुद्र, जिस (आहवमल्लदेव) के योधाओंके रत्नसमूह लेते रहने पर तीरस्थ पत्थरों पर फूटती हुई मोतियोंकी सीपोंके व्याजसे मानो क्रोध से शिर फ़ोड़ता हुआ-सा ज्ञात होता था।

विमर्श—जिस प्रकार चिरसंचित रत्नादि बहुमूल्य पदार्थोंको चोर या डाकुओंके लेते रहने पर रोकनेमें असमर्थ धनी क्रोधसे अपना ही शिर पत्थर आदिपर पटक-पटककर फोड़ने लगता है, उसी प्रकार जब आहवमल्लदेवके योधा लोग समुद्रपर बिखरे हुए मोती-मूँगा आदि रत्नोंको लेने लगे तब तरङ्गा-गत मोतियोंकी सीपोंके, चट्टानोंपर आघातके कारण, फूटनेपर ऐसा प्रतीत होता था कि मानों समुद्रने ही चिरसंचित मोतियोंको योधाओं द्वारा लेनेपर अपना शिर फोड़ लिया हो ॥ १०८ ॥

यं वीक्ष्य पाथोधिरधिज्यचापं शोणाश्मभिः शोणितशोणदेहैः ।
क्षोभादभीक्ष्णं रघुराजबाण-जीर्णव्रणस्फोटमिवाचचक्षे ॥१०९॥

अन्वयः—पाथोधिः अधिज्यचापं यं वीक्ष्य शोणितशोणदेहैः शोणाश्मभिः क्षोभात् रघुराजबाणजीर्णव्रणस्फोटम् इव अभीक्ष्णम् आचचक्षे ।

सुधा—पाथोधिः—पाथो जलं धीयतेऽस्मिन्निति पाथोधिर्जलधिः, अधिज्य-चापम्-ज्यां मौर्वीमधिगतः प्राप्तश्चापो धनुर्यस्य सोऽधिज्यचापस्तमाकृष्टमौर्वीक-धनुषम्, यमाहवमल्लदेवम्, वीक्ष्य दृष्ट्वा, शोणितशोणदेहैः—शोणितवत् रक्तमिव शोणः कोकनदच्छविरतिशयेनारुणवर्ण इति यावत् देहः कायो येषां ते शोणित-शोणदेहास्तैः रक्तवदरुणवर्णकायैः ("रुधिरेऽसृग्लोहितास्ररक्तक्षतजशोणितम्" इति, 'शोणः कोकनदच्छविः" इति, "गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः । कायो देहः क्लीबपुंसोः स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः" इति च अमरः), शोणा-श्मभिः—शोणा आरक्ताश्च तेऽश्मानः प्रस्तराश्चेति शोणाश्मानस्तैः पद्मरागम-णिभिः ("शोणरत्नं लोहितकं पद्मरागोऽरुणोपलः" इति वैजयन्ती), क्षोभाद् दुःखात्, रघुराजबाणजीर्णव्रणस्फोटम्—रघूनां राजेति रघुराजो रघुश्रेष्ठो रामचन्द्र-स्तस्य बाणैः शरैर्जाता ये जीर्णव्रणाः प्राक्तनक्षतास्तेषां स्फोटः स्फोटनमिति रघुराजबाणजीर्णव्रणस्फोटस्तं रामशराघातजातजीर्णक्षतस्फोटनम् ("अरुः क्षतं ना व्रणितुर्व्रणोऽप्यीर्मोऽपि न स्त्रियौ" इति वैजयन्ती), इव यथा, अभीक्ष्णं सत-तम्, आचचक्षे आख्यातवान् । लङ्काविजयार्थं प्रयाणकाले मार्गप्राप्तये रामस्य बाणानां प्रहारेण जाता रक्ता व्रणा नाद्यावधि पूर्णा इति हेतोर्भवता जीर्णव्रणेषु पुनः प्रहारो न कर्तव्य इति पद्मरागव्याजेन जीर्णव्रणस्फोटान् प्रदर्श्य समुद्रः आहवमल्लदेवं प्रार्थितवानिव । अत्र 'शोणितशोणदेहैः' इत्यत्रोपमा, रक्ताश्मसु जीर्णव्रणसम्भावनोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालङ्कारश्च । इन्द्रवज्रावृत्तम् ।

सुधासार—समुद्रने, धनुषकी डोरी चढ़ाये हुए जिस (आहवमल्लदेव) को

देखकर रक्तके समान अत्यन्त लाल (सुर्ख) पद्मरागमणियोंसे रामचन्द्रके वाणों द्वारा उत्पन्न पुराने घावोंको दुःखसे (दिखाकर पुनः प्रहार नहीं करनेके लिए) कह दिया ।

विमर्श—जब आहवमल्लदेव समुद्रके किनारे धनुष चढ़ाये हुए पहुँचे, तब उन्हें देखकर समुद्रने तरङ्गोंसे उछलते हुए लाल पद्मराग मणियोंके द्वारा मानो यह कहा कि लङ्का-विजयार्थ अपनी सेनाको पार ले जानेके लिए रघुश्रेष्ठ रामचन्द्रने जो प्रहार किये थे, वे पुराने घाव अभीतक नहीं भरे (अच्छे हुए) अतः मुझ दुखिया पर आप प्रहार मत कीजिये । यहाँ पर लाल पद्मराग मणियों राम बाणजात पुराने घावकी कल्पना की गयी है ॥ १०९ ॥

राशीकृतं विश्वमिवावलोक्य, वेलावने यस्य चमूसमूहम् ।
अम्भोविभूतेरपरिक्षयेण, क्षारत्वमब्धिर्बहु मन्यतेस्म ॥ ११० ॥

अन्वयः—अब्धिः वेलावने राशीकृतं विश्वम् इव यस्य चमूसमूहम् अवलोक्य अम्भोविभूतेः अपरिक्षयेण क्षारत्वं बहु मन्यते स्म ।

सुधा—अब्धिः—आपो जलानि धीयन्तेऽत्रेति अब्धिः समुद्रः ("समुद्रोऽब्धिरकूपारः पारावारः सरित्पतिः ..." इत्यमरः), वेलावने—वेलायाः समुद्रतटस्य वनमरण्यमिति वेलावनं तस्मिन् स्वतटस्थारण्ये ("वेला काले च सीमायामब्धेः, कूलविकारयोः । अक्लिष्टमरणे रागे ईश्वरस्य च भोजने" इति मेदिनी), राशीकृतं पुञ्जीकृतमेकत्रीकृतमिति भावः, विश्वं जगत् ("विश्वं जगति सर्वस्मिंस्त्रिपु शुण्ठ्यां पुनर्न ना" इति वैजयन्ती), इव यथा, यस्याहवमल्लदेवस्य, चमूसमूहम्—चमूनां सेनानां समूहः समुदाय इति चमूसमूहस्तं सेनासमुदायम् ("सैन्यं चक्रं बलं सेना चमूर्वाहिन्यनीकिनी । पताकिनी च पृतना ध्वजिनी च वरूथिनी" इति वैजयन्ती), अवलोक्य दृष्ट्वा, अम्भोविभूतेः—अम्भो जलमेव विभूतिरैश्वर्यमित्यम्भोविभूतिस्तस्या जलरूपस्यैश्वर्यस्य ("विभूतिर्भूतिरैश्वर्यम्" इत्यमरः), अपरिक्षयेण क्षयाभावेन, क्षारत्वम्—क्षारस्य लवणस्य भावः क्षारत्वं लवणत्वं तत् ("क्षारो रसान्तरे धूर्ते लवणे काचभस्मनोः" इति वैजयन्ती), बहु विपुलं श्रेष्ठमिति भावः, मन्यते स्म जानाति स्म ("वेत्ति जानाति जानीते वेद बुध्यते बुध्यति । निबोधते चेतयते मन्यते प्रतिपद्यते" इत्याख्यातचन्द्रिका) [अत्र "लट् स्मे" इति 'स्म' योगे लिटोऽपवादो लट् लकारः ।] समुद्रजलस्य मधुरत्वे सेनासमूहेन निःशेषे जले पीते सति तस्य जलसंपन्नामशेषैव स्यादित्यतः क्षारत्वस्यैव तद्रक्षाकारणत्वेन तस्य श्रेष्ठत्वमब्धिर्जाना-

तीति भावः। चमूसमूहस्यैकत्रीकृतविश्वसादृश्यादुपमालङ्कारः। इन्द्रवज्रा-वृत्तमत्र।

सुधासार—समुद्र, तीरस्थित जंगलमें एकत्र किये हुए संसारके समान जिस (आहवमल्लदेव) के सेना-समूहको देखकर, (अपनी) जलरूप संपत्ति के नष्ट नही होनेसे खारापनको अच्छा समझता था।

विमर्श—समुद्रने सोचा कि यदि मेरा पानी पीने योग्य मधुर होता, तो यह विशाल सेना समूह इसे पीकर नामशेप (नष्ट) कर देता, अत एव इसका खारा होना ही उत्तम है ॥ ११० ॥

उत्तम्भयामास पयोनिधेर्यस्तीरे जयस्तम्भमदम्भवीरः।
असूयितं स्वैरविहारशीलैरालानभीत्या जलवारणेन्द्रैः॥ १११ ॥

अन्वयः—अदम्भवीरः यः पयोनिधेः तीरे स्वच्छन्दविहारशीलैः जलवारणेन्द्रैः आलानभीत्या असूयितम् जयस्तम्भम् उत्तम्भयामास।

सुधा—अदम्भवीरः—अदम्भो निष्कपटश्चासौ वीरः शूरश्चेत्यदम्भवीरो निष्कपटशूरः ("कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे" इत्यमरः), य आहवमल्लदेवः, पयोनिधेः—निधीयतेऽस्मिन्निति निधिः पयसां जलानां निधिरिति पयोनिधिः समुद्रस्तस्य, तीरे तटे, स्वच्छन्दविहारशीलैः—स्वच्छन्दं स्वतन्त्रं विहारस्य भ्रमणस्य शीलं स्वभावो येषां ते स्वच्छन्दविहारशीलाः स्वतन्त्रभ्रमणस्वभावास्तैः ("स्वच्छन्दोऽपावृतः स्वैरी स्वतन्त्रो निरवग्रहः" इति वैजयन्ती, "विहारस्तु जिनालये। लीलायां भ्रमणे स्कन्धे" इति, "शीलं साधुवृत्तस्वभावयोः" इति चानेकार्थसंग्रहः), जलवारणेन्द्रैः—वारणनां गजानामिन्द्रा राजानो वारणेन्द्रा गजराजाः जलस्य वारणेन्द्रा इति जलवारणेन्द्राः जलगजराजास्तैः ("मतङ्गजो गजो हस्ती कुञ्जरो वारणः करी···" इत्यमरः), आलानभीत्या—आलानाद् वन्धनस्तम्भाद्भीत्येति आलानभीत्या, अयं न विजयस्तम्भोऽपि त्वस्माकं वन्धनस्तम्भ इति भावेनेत्यर्थः ("आलानं वन्धनस्तम्भः" इत्यमरः), असूयितम्—असूया गुणेष्वपि दोपारोपो जातोऽस्मिन्नित्यसूयितस्तम् ("असूया दोपारोपो गुणेष्वपि" इत्यमरः) ['असूया' शब्दात् "तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्" इति 'इतच्' प्रत्ययः] जयस्तम्भं विजयस्मारकस्तम्भम्, उत्तम्भयामासोत्तम्भितवान्। समुद्रतटे प्रतिष्ठापितो विजयस्मारकस्तम्भोऽयं स्वच्छन्दं भ्रमणशीलानामस्माकं जलहस्तिनामालानस्तम्भ इति विचार्य जलहस्तिभिरसूययाऽवलोकितमिति भावः। जयस्तम्भे

जलवारणानामालानभ्रमजनादत्र भ्रान्तिमानलङ्कारः। तृतीयचरण उपेन्द्रवज्रा शेषेषु त्रिषु पादेष्विन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'शाला'ख्योपजातिः।

सुधासार—निष्कपट शूर जिस (आहवमल्लदेव) ने समुद्रके तीरपर स्वतन्त्र भ्रमण करनेवाले जल-गजराजोंके द्वारा (अपनेको) बाँधनेका खूँटा होनेके भयसे असूया पात्र बनाये गये विजयस्तम्भको गड़वा दिया।

विमर्श—आहवमल्लदेवने समुद्रके तीरपर ऊँचे विजयस्तम्भको गड़वा दिया, स्वतन्त्र घूमनेवाले बड़े-बड़े जल हाथियोंने उसे अपने बांधनेका खूँटा समझकर डरके कारण असूयासे देखा ॥ १११ ॥

लब्ध्वा यदन्तःपुरसुन्दरीणां लावण्यनिष्यन्दमुपान्तभाजाम्।
गृहीतसारस्त्रिदशैः पयोधिः पीयूषसन्दर्शनसौख्यमाप ॥ ११२ ॥

अन्वयः—त्रिदशैः गृहीतसारः पयोधिः, यदन्तःपुरसुन्दरीणाम् उपान्तभाजां लावण्यनिष्यन्दं लब्ध्वा पीयूषसन्दर्शनसौख्यम् आप।

सुधा—त्रिदशैः—तिस्रो बाल्यकौमारयौवनाख्यास्तृतीया यौवनरूपा वा दशा अवस्था येषान्ते त्रिदशा देवास्तैः, गृहीतसारः—गृहीत आदत्तः सारो धनं चतुर्दशरत्नरूपं द्रविणमित्याशयो यस्य स गृहीतसारः आदत्तधनः ("सारो बले स्थिरांशे च मज्जिन पुंसि जले धने। न्याय्ये क्लीबं त्रिषु वरे" इति मेदिनी), पयोधिः समुद्रः, यदन्तःपुरसुन्दरीणाम्—यस्याहवमल्लदेवस्यान्तःपुरं शुद्धान्त इति यदन्तःपुरं तस्य सुन्दरीणां सौन्दर्योपेतरमणीनाम् ("स्त्र्यगारं भूभुजामन्तःपुरं स्यादवरोधनम्। शुद्धान्तश्चावरोधश्च" इत्यमरः), उपान्तभाजाम्—उपान्तं सान्निध्यं भजन्ति सेवन्त इत्युपान्तभाजः समीपवर्तिन्यः शय्यासनभूषादिनियुक्ता परिचारिका इत्यर्थस्तासां, ("समीपनिकटाभ्यग्राभ्यर्णाभ्याशान्तिमा इव। सदेश ··· ॥ उपान्ते" इति वैजयन्ती), लावण्यनिष्यन्दम्—लावण्यस्य सौन्दर्यस्य निष्यन्दो निर्गतरसस्तं लावण्यनिष्यन्दं मुखादिसौन्दर्यनिर्गतरसम्, लब्ध्वा प्राप्य, पीयूषसन्दर्शनसौख्यम्—पीयूषस्यामृतस्य सन्दर्शनं सम्यगवलोकनं तस्य सौख्यमानन्दमिति पीयूषसन्दर्शनसौख्यं (पुनः) अमृतावलोकनानन्दम्, आप प्राप्तवान्। देवैः समुद्रं निर्मथ्य अमृतादिरत्नेषु गृहीतेषु तदमृतानन्दवञ्चितः समुद्र आहवमल्लदेवस्यान्तःपुरपरिचारिकानां सौन्दर्यदर्शनेन पुनरमृतदर्शनसुखं प्राप्तवान्, आहवमल्लदेवस्यान्तःपुरपरिचारिकालावण्यनिष्यन्दो यद्यमृतोपमस्तर्हि यदीयान्तःपुरस्थ-पट्टराज्ञीनां सौन्दर्यस्य का कथा?, तत्तु वर्णनातीतमेवेति तात्पर्यम्। अत्रोक्तपरिचारिकाणां लावण्यस्य पीयूषेन सादृश्यादुपमालङ्कारः। तृतीयपाद उपेन्द्रवज्रेतरेषु त्रिषु पादेष्विन्द्रवज्रेति 'शाला'ख्योपजातिः।

सुधासार—(समुद्रमन्थनकर) देवोंके द्वारा लिये गये (चौदह रत्नरूप) सारवाले समुद्रने, जिस (आहवमल्लदेव) के रनिवासकी सुन्दरियों (पटरानियों) के समीपमें रहनेवाली (शय्या-भूषा-शृङ्गारादिमें नियुक्त) परिचारिकाओंकी सुन्दरतासे निकले रूप-रसको पाकर अमृत-दर्शन-सुखको प्राप्त किया ॥ ११२ ॥

विमर्श—देवताओंसे समुद्र-मन्थनकर उसके धन (अमृत आदि चौदह रत्नों) को ले लिया था, अतः वह समुद्र दुःखी रहता था, किन्तु आहवमल्लदेवके रनिवासकी सेवामें नियुक्त रहनेसे समीपवर्तिनी परिचारिकाओंके सौन्दर्यरसको पाकर (देखकर) उस समुद्रने पुनः अमृतप्राप्तिके सुखको अनुभव किया। तात्पर्य यह है कि इस आहवमल्लदेवके रनिवासमें नियुक्त परिचारिकाओंका सौन्दर्य अमृत-सा सुखदायी था, अतः उनकी पटरानियोंका सौन्दर्य अमृतसे भी अधिक सुखद था ॥ ११२ ॥

जयैकरागी विजयोद्यमेषु दृष्ट्वा प्रयाणावधिमम्बुधिं यः।
उत्कण्ठितोऽभूद्दशकण्ठशत्रुसेतौ समस्यापरिपूरणाय ॥ ११३ ॥

अन्वयः—जयैकरागी यः विजयोद्यमेषु प्रयाणाधिकम् अम्बुधिम् दृष्ट्वा दशकण्ठशत्रुसेतौ समस्यापरिपूरणाय उत्कण्ठितः अभूत्।

सुधा—जयैकरागी—एकश्चासौ राग एकरागोऽद्वितीयानुरागः जये विजये एकराग इति जयैकरागो विजयविषयकमुख्यानुराग इत्यर्थः, प्रशस्तः जयैकरागो यस्य सः जयैकरागी प्रशस्तविजतानुरागवान् ["भूमिनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुवादयः" इति श्लोकवार्तिकेन 'इन' प्रत्ययः। यद्वा—एकश्चासौ राग एकरागः, सोऽस्त्यस्येति विग्रहे "अत इनिठनौ" इति 'इनि' प्रत्यये 'एकरागी', जये एकरागीति जयैकरागी] य आहवमल्लदेवः, प्रयाणावधिम्—प्रयाणस्य यात्राया अवधिं सीमां ("यात्रा प्रयाणं प्रस्थानम्" इति हलायुधः, "अवधिस्त्ववधाने स्यात् सीम्नि काले विले पुमान्" इति मेदिनी), अम्बुधिं समुद्रम्, दृष्ट्वा विलोक्य, दशकण्ठशत्रुसेतौ—दश पङ्क्तिसंख्याः कण्ठा ग्रीवा मूर्धान इति यावत् यस्य स दशकण्ठो रावणस्तस्य शत्रू रामचन्द्रस्तस्य सेतौ आलाविति दशकण्ठशत्रुसेतौ रामचन्द्रालौ ("सेतुरालौ स्त्रियां पुमान्" इत्यमरः), समस्यापरिपूरणाय—समसनं समस्या, यद्वा—समं कृत्स्नं तद्विषयिणीच्छा समस्या तत्प्रयोज्यत्वाच्छन्दोऽपि सा, यस्याः परिपूरणाय पूर्तये शेषपूर्त्यर्थं ["प्रथम-विग्रहे 'असु' क्षेपणे इति धातोः "ऋहलोर्ण्यत्" इति 'ण्यत्' प्रत्यये संज्ञापूर्वकत्वाद् वृद्ध्यभावे 'समस्या' इति, द्वितीय-

विग्रहे तु 'सम' शब्दात् "सुप आत्मनः क्यच्" इति 'क्यच्' प्रत्यये "सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्यचि लालसायां सुगसकौ" इति 'सुगागमे' "अ प्रत्ययात्" इति 'अ' प्रत्यये स्त्रीत्वात् "अजाद्यतष्टाप्" इति 'टाप्' प्रत्यये 'समस्या' इति रूपम्], उत्कण्ठितः—उत्कण्ठोत्सुकता जाताऽस्येति उत्कण्ठितः उत्सुकः ['उत्कण्ठा' शब्दात् "तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्" इति 'इतच्' प्रत्ययः], अभूद बभूव। आसमुद्रं मही विजित्य रामसेतुसमस्यां पूरयितुमुत्कण्ठितो बभूवेति भावः। प्रथमपाद उपेन्द्रवज्रा शेषेषु त्रिषु पादेष्विन्द्रवज्रेत्यत्र 'कीर्त्या'-ख्योपजातिः।

सुधासार—केवल विजयमें अनुराग रखनेवाला जो (आहवमल्लदेव) विजय-प्रयासोंमें यात्रा की सीमा (अन्तिम भाग) समुद्र को देखकर दशानन (रावण) के शत्रु अर्थात् रामचन्द्रके पुलकी समस्याको पूरा करनेके लिए उत्कण्ठित हुआ।

विमर्श—विजयमात्रके इच्छुक आहवमल्लदेवने विजय-यात्राके अन्तिम भाग समुद्रको देखकर रामचन्द्रके द्वारा निर्मित पुलकी समस्याको हल करनेकी इच्छा की ॥ ११३ ॥

दोर्दण्डदर्पाद् द्रविडप्रकाण्डं यः सम्मुखं धावितमेकवीरम् ।
अभाजनं वीररसस्य चक्रे वाणोत्करच्छिद्रपरम्पराभिः ॥ ११४ ॥

अन्वयः—यः दोर्दण्डदर्पात् सम्मुखम् धावितम् एकवीरम् द्रविडप्रकाण्डम् वाणोत्करच्छिद्रपरम्पराभिः वीररसस्य अभाजनम् चक्रे।

सुधा—यः आहवमल्लदेवः, दोर्दण्डदर्पात्—दोषौ भुजौ दण्डौ लगुडाविव दोषावेव दण्डाविति वा दोर्दण्डौ तयोर्दर्पाद् गर्वात् भुजदण्डाभिमानात् ("भुजबाहू प्रवेष्टो दोः" इत्यमरः, "दर्पो मदोऽवलेपो मानो गर्वो भवेदहङ्कारः" इति हलायुधः), सम्मुखमभिमुखम्, धावितं वेगेन समागतम्, एकवीरम्—एकश्चासौ वीरश्चेत्येकवीरो मुख्यभटस्तम् ("एके मुख्यान्यकेवलाः" इत्यमरः) ["पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन" इति समासः], द्रविडप्रकाण्डम्—प्रकाण्डश्चासौ द्रविड इति द्रविडप्रकाण्डं द्रविडश्रेष्ठम् ("मतल्लिकामचर्चिका प्रकाण्डमुद्घतल्लजौ। प्रशस्तवाचकान्यमूनि" इत्यमरः) ["अत्र प्रशंसावचनैश्च" इति समासो 'मतल्लिकादीनां नियतलिङ्गतया क्लीवत्वञ्च], वाणोत्करच्छिद्रपरम्पराभिः—वाणानां शराणामुत्कराः राशयः समूहा इत्यर्थस्तैर्जातानां छिद्राणां रन्ध्राणां परम्पराभिः श्रेणिभिरिति वाणोत्करच्छिद्रपरम्पराभिः शरसमूहजातरन्ध्रश्रेणिभिः ("पुञ्जराशी तूत्करः कूटमस्त्रियाम्"

इत्यमरः), वीररसस्य वीराख्यरसस्य वीरजलस्य च ("रसो गन्धरसे जले । शृङ्गारादौ विषे वीर्ये तिक्तादौ द्रवरागयोः । देहधातुप्रभेदे च पारदस्वादयोः पुमान्" इत्यमरः), अभाजनमयोग्यमपात्रञ्च ("भाजनं योग्यपात्रयोः" इति मेदिनी), चक्रे अकरोत् । अहं स्वभुजदण्डबलेन शत्रुं हनिष्यामीति गर्वेण युद्धाय वेगादभिमुखमागतं द्रविडश्रेष्ठं मुख्यवीरमाहवमल्लदेवो बाणवृन्दप्रहारजातच्छिद्रश्रेणिभिर्युद्धानर्हं कृतवान् । यथा सच्छिद्रं पात्रं जलस्थितियोग्यो न भवति, तथा बाणसमूहप्रहारजातव्रणश्रेणिभिर्द्रविडवीरो युद्धेऽवस्थातुं योग्यो न जात इत्याशयः । अत्र 'रस-भाजन'शब्दयोर्द्व्यर्थकतया श्लेषालङ्कारः, 'दोर्दण्ड'-शब्दे उपमा रूपको वाऽलङ्कारः । तृतीयपाद उपेन्द्रवज्रेतरेषु पादेष्विन्द्रवज्रेत्यतोऽत्र 'शाला'मिधोपजातिः ।

सुधासार—जिस (आहवमल्लदेव) ने बाहुदण्डके अहङ्कारसे सामने दौड़े हुए (वेगसे आये हुए) प्रधान शूर द्रविडश्रेष्ठको बाणसमूहोंके (प्रहारसे उत्पन्न) छिद्रोंसे वीररस (वीररूपी रस, पक्षान्तरमें —वीररूपी जल) का अभाजन (अयोग्य, पक्षान्तरमें—अपात्र) बना दिया ।

विमर्श—आहवमल्लदेवके बाण समूहोंके प्रहारसे घायल होकर प्रधान वीर (चोलराज) द्रविडश्रेष्ठकी शूरवीरता वैसे नहीं रही, जैसे छिद्रयुक्त वर्तनमें पानी नहीं रहता है ॥ ११४ ॥

पृथ्वीभुजङ्गः परिकम्पिताङ्गीं यशःपटोल्लुण्ठनकेलिकारः ।
विधूत्य काञ्चीं भुजयोर्बलेन यश्चोलराज्यश्रियमाचकर्ष ॥ ११५ ॥

अन्वयः—यशःपटोल्लुण्ठनकेलिकारः पृथ्वीभुजङ्गः यः काञ्चीं विधूत्य परिकम्पिताङ्गीं भुजयोः बलेन आचकर्ष ।

सुधा—यशःपटोल्लुण्ठनकेलिकारः—यशः (चोलराजस्य) कीर्तिरेव पट उत्तरीयवस्त्रं तस्योल्लुण्ठनमपहरणमिति यशःपटोल्लुण्ठनं तस्य केलिक्रीडा करोति इति यशःपटोल्लुण्ठनकेलिकारः (चोलेशः) कीर्तिवस्त्रापहरणक्रीडाकारकः ("न स्त्री केलिः परीहासः क्रीडा लीला च नर्म च" इति वैजयन्ती) ["करोतीति 'कृ' धातोः "कर्मण्यण्" इत्यण् प्रत्ययः], पृथ्वीभुजङ्गः—पृथ्व्याः भूमेर्भुजङ्गः स्वामी कामुकश्चेति पृथ्वीभुजङ्गो भूस्वामी भूकामुकश्च, यः आहवमल्लदेवः, काञ्चीं सप्तपुरीष्वन्यतमां 'काञ्ची'नाम्नीं चोलराजधानीम् एकयष्टिकां मेखलाञ्च ("काञ्ची स्यान्मेखलादाम्नि प्रभेदे नगरस्य च" इति मेदिनी, "एकयष्टिर्भवेत् काञ्ची मेखलात्वष्टयष्टिका । वलयः षोडशं ज्ञेयः" इति । "स्त्रीकट्यां मेखला काञ्ची सप्तकी रशना तथा । क्लीबे सारसनञ्च" इत्यमरः । सप्त-

पुर्यश्चैता:–"अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका। पुरी द्वारावती चेति सप्तैता मोक्षदायिका:" इति) विधृत्य गृहीत्वा, परिकम्पिताङ्गीम्–परितः सर्वतः कम्पितानि भयेनानुरागेण च वेपथुयुक्यान्यङ्गानि शरीराणि यस्यास्तां सर्वतो वेपथुमदवयवाम्, चोलराज्यश्रियम्–चोलस्य चोलदेशाधिपते राज्यश्रियं राज्यलक्ष्मीमिति चोलेश्वरराजलक्ष्मीम्, भुजयोर्बाह्वोः, वलेन सामर्थ्येन, आचकर्षाकृष्टवान्। चोलराज्यश्रीव्यवहारे कामुकचरित्रस्य काञ्च्या कर्षणेन वलादपरस्त्रीसमाकर्षणरूपस्य अप्राकरणिकव्यवहारस्याभिन्नत्वप्रतीतेरत्र समासोक्तिरलङ्कारः। मध्यपादयोरुपेन्द्रवज्राऽऽद्यन्तपादयोश्चेन्द्रवज्रेत्यत्र 'माया'ख्योपजातिः।

सुधासार–(चोलदेशके) यशरूपी दुपट्टेको खींचनेकी क्रीडा करने वाले पृथ्वीके भुजङ्ग अर्थात् स्वामी (पक्षमें—कामी) जिस (आहवमल्लदेव) ने काञ्ची ('काञ्ची'नाम की चोलराजकी राजधानी, पक्षमें—करधनी) को पकड़कर (भयसे, पक्षमें—अनुरागसे) काँपते हुए अङ्गोंवाली चोलके राज्य-लक्ष्मीको बाहुओंके बलसे खीच लिया।

विमर्श–आहवमल्लदेवने चोलकी राजधानी काञ्चीपुरको जीतकर उसकी कीर्तिको भी अपने वशमें कर लिया ॥ ११५ ॥

चोलस्य यद्भीतिपलायितस्य भालत्वचं कण्टकिनो वनान्ताः।
अद्यापि किं वाऽनुभविष्यतीति व्यापाटयन्द्रष्टुमिवाक्षराणि ॥ ११६ ॥

अन्वयः—कण्टकिनः वनान्ताः यद्भीतिपलायितस्य चोलस्य 'अद्य अपि (अयं) किं वा अनुभविष्यति' इति अक्षराणि द्रष्टुम् इव भालत्वचं व्यपाटयन्।

सुधा–कण्टकिनः–कण्टकाः सन्त्येषामिति कण्टकिनः कण्टकयुक्ताः वनान्ताः अरण्यप्रान्तभूमिभागाः, यद्भीतिपलायितस्य—यस्मादाहवमल्लदेवाद्भीत्या भय-कारणेन पलायितस्य तिरोहितस्येति यद्भीतिपलायितस्य यद्भयतिरोहितस्य ("पलायितस्तु नष्टः स्याद् गृहीतदिक् तिरोहितः" इत्यभि० चिन्ता०), चोलस्य चोलदेशाधिपस्य, अद्यास्मिन्दिने, अपि च, (अयं) किं वा किं खलु, अनुभविष्यति अनुभवं करिष्यति, इति एवम्। "इति स्वरूपे सान्निध्ये विवक्षानियमेऽपि च। हेतौ प्रकारप्रत्यक्षप्रकाशेष्ववधारणे। एवमर्थे समाप्तौ स्यात्" इत्यनेकार्थसंग्रहः), अक्षराणि भाग्यलोपीः, द्रष्टुमवलोकयितुम्, इव यथा, भालत्वचम्—भालस्य ललाटस्य त्वचं चर्मेति भालत्वचं ललाटचर्म ("भालं तेजोललाटयोः" इति, "त्वक् स्त्रीचर्मणि वल्के च गुडत्वचि विशेषतः" इति च मेदिनी), व्यपाटयन् व्यदारयन्। आहवमल्लदेवाद् भयेन वनं गतस्य चोलराजस्य ललाटचर्म कण्टकैः-

विदीर्णमिति भावः। वनान्तद्रुमकण्टकैश्चोलभालत्वग्विपाटने अद्याप्ययं किं दुःखं प्राप्स्यति इति भाग्याक्षरदर्शनस्य प्रयोजनतयाऽत्र फलोत्प्रेक्षालङ्कारः। आद्येषु पादेष्विन्द्रवज्रा चरमपादे चोपेन्द्रवज्रेति 'बाला'ख्योपजातिरत्र।

सुधासार—कँटीले वनप्रदेशों (के झाड़ी-लतादिको) ने जिस (आहवमल्लदेवके डरसे भागे हुए चोलदेशाधिपतिके, "आज अर्थात् आगे भी (यह) क्या कैसे दुःखोंको) अनुभव करेगा" ऐसे (ललाट लिखित) भाग्याक्षरोको मानो देखनेके लिए ललाटके चमड़ेको फाड़ (चीर) दिया।

विमर्श—प्राणीके जन्म लेते ही विधाता उसके ललाटपर भाग्यको लिख देते हैं, अतः आहवमल्लदेवसे पराजित होकर चोलराजा वनमें भाग गया तो उसके भाग्याक्षरोंको देखनेके लिये मानो वनप्रदेशीय भागोने काँटोंसे उस चोलराज के ललाटको चीर दिया, ऐसी उत्प्रेक्षा की गयी है। तात्पर्य यह है कि आहवमल्लदेवसे डरकर चोलराज जंगलमें भाग गया॥ ११६॥

दहत्यशेषं प्रतियोगिवर्गमनर्गले यद्भुजशौर्यवह्नौ।
प्रत्यर्थिपृथ्वीपतिचिन्त्यमानो न कोऽपि मन्त्रः प्रतिबन्धकोऽभूत्॥११७॥

अन्वयः—अनर्गले यद्भुजशौर्यवह्नौ अशेषम् प्रतियोगिवर्गम् दहति (सति) प्रत्यर्थिपृथ्वीपतिचिन्त्यमानः कोऽपि मन्त्रः प्रतिबन्धकः न अभूत्।

सुधा—अनर्गले—नास्त्यर्गला यस्य तस्मिन्ननर्गले निर्बाधे ("अर्गला त्रिषु कल्लोलेऽन्तर्दण्डातारयोर्न ना" इति मेदिनी), यद्भुजवीर्यवह्नौ—यस्याहवमल्लदेवस्य भुजयोर्बाह्वोर्वीर्यमेव सामर्थ्यमेव वह्निरग्निरिति यद्भुजवीर्यवह्निस्तस्मिन् यदीयबाहुबलाग्नौ ("भुजबाहू प्रवोष्ठो दोः" इत्यमरः, "वीर्यं शुक्रे प्रभावे च तेजःसामर्थ्ययोरपि" इति मेदिनी), अशेषं सर्वम्, प्रतियोगिवर्गम्—प्रतियोगिनां शत्रूणां वर्गः समूहस्तं शत्रुसमूहम् दहति—दहतीति दहन् भस्मीकुर्वस्तस्मिन् दहति भस्मीकुर्वती, (सति) [भावे सप्तमी], प्रत्यर्थिपृथ्वीपतिभिः—प्रत्यर्थिनः शत्रवश्च ते पृथ्वीपतयो राजानश्चेति प्रत्यर्थिपृथ्वीपतयः शत्रुराजानस्तैः, चिन्त्यमानो विचार्यमाणः, कोऽपि कश्चिदपि, मन्त्रो गुह्यवादोऽमात्यादिभिः सह कृतः षाड्गुण्यसम्बद्धो गुप्तपरामर्श इति यावत् वेदतन्त्रादिमन्त्रश्च ("मंत्रो वेदविशेषे स्याद्देवादीनां च साधने। गुह्यवादेऽपि च पुमान्" इति मेदिनी), प्रतिबन्धकः प्रतिरोधकः, न नहि, अभूदभवत्। आहवमल्लदेवस्य बाहुवीर्येण शत्रुषु नश्यत्सु मंत्र्यादिभिराप्तवर्गैः सह कृत सन्ध्यादिषाड्गुण्यविषयकः कश्चिदपि परामर्शस्तेषामवरोधको नाभूदिति भावः। मन्त्रद्वारावह्निशान्तिः, राष्ट्ररक्षा च

जायते इति प्रसिद्धम् । भुजवीर्ये वह्नित्वारोपादत्र रूपकालङ्कारः । अत्र केवलं तृतीयचरण इन्द्रवज्रे तरेषु चरणेषूपेन्द्रवज्रेत्यतो 'ऋद्धि'नाम्न्युपजातिः ।

सुधासार—अप्रतिहत, जिस (आहवमल्लदेव) के बाहुबलरूप आगके द्वारा सम्पूर्ण शत्रु-समूहको जलाते (नष्ट करते) रहने पर, शत्रु-राजाओंके द्वारा सोचा गया कोई भी मंत्र (गुप्त परामर्श, पक्षमें—मंत्रतन्त्रादि) बाधक नहीं हो सका ।

विमर्श—प्रबल अग्नि को जिस प्रकार कोई मन्त्रादि-प्रयोग शान्त नहीं कर पाता, उसी प्रकार आहवमल्लदेवके बाहुबलको शत्रु-राजाओं द्वारा अमात्यादि आप्त जनोंके साथ किया गया कोई गुप्त परामर्श रोककर राष्ट्ररक्षा नहीं कर सका ॥ ११७ ॥

ब्रूमस्तस्य किमस्त्रकौशलविधौ देवस्य विक्रामतः
पुष्पेषोरिव यस्य दुष्परिहराः सर्वैरखर्वाः शराः ।
राज्ञामप्रतिभानमेव विदधे युद्धेषु यस्योर्जित-
ज्यानिष्ठ्यूतनितान्तनिष्ठुररवप्राप्ताग्रवादो भुजः ॥ ११८ ॥

अन्वयः—पुष्पेषोः इव यस्य सर्वैः दुष्प्रतिहराः अखर्वाः शराः (सन्ति), विक्रामतः तस्य देवस्य अस्त्रकौशलविधौ (वयम्) किं ब्रूमः, युद्धेषु यस्य ऊर्जितज्यानिष्ठ्यूतनितान्तनिष्ठुररवप्राप्ताग्रपादः भुजः राज्ञाम् अप्रतिभानम् एव विदधे ।

सुधा—साम्प्रतं सर्गसमाप्तिं विदधदाह—ब्रूम इति । पुष्पेषोः—पुष्पाणि कुसमानि इषवो बाणा यस्य स पुष्पेषुः कामदेवस्तस्य ("मदनो मन्मथो मारः" कुसुमेषुरनन्यजः । पुष्पधन्वा रतिपतिः" " इति, कामस्य पञ्च पुष्पबाणास्तेषां धर्मश्च यथा—"अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका । नीलोत्पलं च पञ्चैते पुष्पबाणस्य सायकाः" इति, "उन्मादनस्तापनश्च शोषणः स्तम्भनस्तथा । संमोहनश्च कामस्य पञ्चबाणाः प्रकीर्तिताः" इति च अमरः (क्षे०), इव यथा, यस्याहवमल्लदेवस्य, सर्वैः सकलैः, दुष्प्रतिहराः—दुःखेन कष्टेन प्रतिहराः प्रतिरोध्या इति दुष्प्रतिहराः दुःखेन निवारणीया इति भावः, अखर्वाः अनीचा महान्त इति यावत् (खर्व संख्यान्तरे क्लीबं नीचे वामनके त्रिषु" इति मेदिनी), शराः बाणाः (सन्तीति शेषः), विक्रामतः—विक्रमतीति विक्रामस्तस्य विक्रमं कुर्वतः तस्य देवस्याहवमल्लस्य, अस्त्रकौशलविधौ—अस्त्राणामायुधानां कौशलस्य नैपुण्यस्य विधौ कृत्ये इति अस्त्रकौशलविधौ शस्त्रप्रयोगनैपुण्यकार्यविषये, (वयम्), किं ब्रूमः किं कथयामः,

तदस्त्रप्रयोगनैपुण्यं वर्णयितुमशक्यमिति तद्विषये मौनमेव वरमिति भावः। (यतः) युद्धेषु रणेषु, यस्याहवमल्लदेवस्य, ऊर्जित-ज्या-निष्ठ्यूत-निष्ठुररव-प्राप्ताग्रवादः—ऊर्जा जाताऽस्या इत्यूर्जिता ऊर्जस्वला बलवतीत्यर्थस्तथाविधाया ज्याया मौर्व्या निष्ठ्यूतो निर्गतो यो नितान्तमत्यन्तं निष्ठुरः कठोरो रवो ध्वनिरिति ऊर्जितज्यानिर्गतनितान्तनिष्ठुररवस्तस्मिन् प्राप्तो लब्धोऽग्रवादः समाह्वानध्वनिर्येन स ऊर्जितज्यानिर्गतनितान्तनिष्ठुररवप्राप्ताग्रवादः ऊर्जस्वलमौर्वीनिर्गतकठोरध्वनि(टङ्कार)लब्धसमराह्वानध्वनिः ("ऊर्जस्वयूर्जलोर्जितौ । बली प्रबल ओजस्वी" इति, "कठोरनिष्ठुरक्रूरदृढदारुणकक्खटाः । खरश्च" इति च वैजयन्ती, "शब्दे निनादनिनदध्वनिध्वानरवस्वनाः"··· इत्यमरः), भुजो बाहुः, राज्ञां नृपाणाम्, अप्रतिभानं प्रतिभाशून्यत्वम्, एव निश्चयेन, विदधे चकार। बलवन्मौर्वीनिर्गतकठोरटङ्कारेण युद्धाह्वाने विपक्षिनृपा बुद्धिहीना जाता इति भावः। पुष्पेषोराहवमल्लदेवस्य च शराणां दुष्प्रतिहार्य्यधर्मसाम्यादत्रोपमालङ्कारः। "सूर्याश्वैर्मसजास्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्" इति वृत्तरत्नाकरोक्तलक्षणादत्र शार्दूलविक्रीडितं छन्दो बोध्यम्।

इति 'श्रीविल्हण'महाकवि-विरचित-'विक्रमाङ्कदेवचरित'-महाकाव्यस्य
साहित्य-व्याकरणाचार्य्य-साहित्यरत्न-मिश्रोपाह्व पं० श्रीहरगोविन्द-
शास्त्रि'विरचितायां 'सुधा'ख्यव्याख्यायां प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

सुधासार—कामदेवके समान जिस (आहवमल्लदेव) के सबसे न रोकने योग्य बाण (हैं), पराक्रम करते हुए उस (आहवमल्लदेव) के शस्त्र-प्रहारकी प्रवीणताके विषयमे (हम) क्या कहें ? अर्थात् वर्णनाशक्य होनेसे उसके विषयमे कुछ भी न कहना ही उचित है; युद्धोमें जिसके प्रचण्ड धनुर्गुणसे निकली हुई अत्यन्त कर्कश टङ्कारमें युद्धार्थ पहले ललकारनेवाली भुजाने राजाओंको अप्रतिभ (हतबुद्धि) कर डाला।

विमर्श—आहवमल्लदेवके शस्त्रप्रयोगकी अवर्णनीय निपुणताके विषयमें कुछ न कहना ही उचित है, क्योंकि युद्धोमें मौर्वीको आकृष्ट करनेपर उससे निकले हुए अत्यन्त कर्कश धनुष्टङ्कारसे राजा लोग हतबुद्धि अर्थात् किंकर्तव्यविमूढ हो जाते थे॥ ११८॥

महाकवि 'श्रीविल्हण'-रचित 'विक्रमाङ्कदेवचरित' के प्रथम सर्गका
मिश्रोपाह्व पं० 'श्रीहरगोविशास्त्रि'कृत राष्ट्रभाषामें "सुधासार"
नामक अनुवाद तथा विमर्श समाप्त हुआ॥ १॥

'विक्रमाङ्कदेवचरित' महाकाव्यस्य प्रथमसर्गान्तर्गतालङ्काराणा-मकारादिक्रमेण साहित्यदर्पणोक्तानि लक्षणानि

अनुप्रासः—"अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत् ।
छेको व्यञ्जनसङ्घस्य सकृत् साम्यमनेकधा ॥
अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाऽप्यनेकधा ।
एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते ॥
उच्चार्यत्वाद्यदेकस्य स्थाने तालुरदादिके ।
सादृश्यं व्यञ्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते ॥
व्यञ्जनं चेद् यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु ।
आवर्ततेऽन्त्ययोज्यत्वादन्त्यानुप्रास एव तत् ॥
शब्दार्थयोः पौनरुक्त्ये भेदे तात्पर्यमात्रतः ।
लाटानुप्रास इत्युक्तोऽनुप्रासः पञ्चधा ततः ॥" (१०।६५३-६५९)

अर्थान्तरन्यासः—"सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि ।
कार्यं चा कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते ॥
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः ।" (१०।७३०)

आक्षेपः—"वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये ।
निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणोक्तगो द्विधा ॥" (१०।७३५)

उत्प्रेक्षा—"भवेत्सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना ।
वाच्या प्रतीयमाना सा प्रथमं द्विविधा मता ॥
वाच्येवादिप्रयोगे स्यादप्रयोगे पुरा पुनः ।
जातिर्गुणः क्रियाद्रव्यं यदुत्प्रेक्ष्यं द्वयोरपि ॥
तदष्टधाऽपि प्रत्येकं भावाभावाभिमानतः ।
गुणक्रियास्वरूपत्वान्निमित्तस्य पुनश्च ताः ॥
द्वात्रिंशद्विधतां यान्ति, तत्र वाच्या भिदा पुनः ।
विना द्रव्यं त्रिधा सर्वाः स्वरूपफलहेतुगाः ॥
उक्त्यनुक्त्योर्निमित्तस्य द्विधा तत्र स्वरूपगाः ।
प्रतीयमानाभेदाच्च प्रत्येकं फलहेतुगाः ॥
उक्त्यनुक्त्योः प्रस्तुतस्य प्रत्येकं ता अपि द्विधा ।
अलङ्कारान्तरोक्त्या सा वैचित्र्यमधिकं वहेत् ॥

मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः।" (१०।७०७-७१३)

उदात्तम्—"लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते ।
यद्वापि प्रस्तुतस्याङ्गे महतां चरितं भवेत् ॥" (१०।७७३)

उपमा— "साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः ।
सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च ॥
उपमेयं चोपमानं भवेद्वाच्यम् इयं पुनः ।
श्रौती यथेववाशब्दा इवार्थो वा वतिर्यदि ॥
आर्थी तुल्यसमानाद्यास्तुल्यार्थो यत्र वा वतिः ।
ते तद्धिते समासेऽथ वाक्ये, पूर्वा षड़ेव तत् ॥
लुप्ता सामान्यधर्मादेरेकस्य यदि वा द्वयोः ।
त्रयाणां वाऽनुपादाने श्रौत्यार्थी सापि पूर्ववत् ॥
पूर्ववद्धर्मलोपे सा विना श्रौतीं तु तद्धिते ।
आधारकर्मविहिते द्विविधे च क्यचि क्यङि ॥
कर्मकर्त्रोर्णमुलि च स्यादेवं पञ्चधा पुनः ।
उपमानानुपादाने द्विधा वाक्यसमासयोः ॥
औपम्यवाचिनो लोपे समासे क्विपि च द्विधा ।
द्विधा समासे वाक्ये च लोपे धर्मोपमानयोः ॥
क्विप्समासगता द्वेधा धर्मे वादिविलोपने ।
उपमेयस्य लोपे तु स्यादेका प्रत्यये क्यचि ॥
धर्मोपमेयलोपेऽन्या, त्रिलोपे च समासगा ।
तेनोपमाया भेदाः स्युः सप्तविंशतिसंख्यकाः ॥" (१०।६६७-६८३)

काव्यलिङ्गम्—"हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते ।" (१०।७३१)

तद्गुणः— "तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः ।" (१०।७६७)

दृष्टान्तः— "दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम् ।" (१०।७१९)

प्रतिवस्तूपमा—"प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः ।
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ॥" (१०।७१८)

भ्रान्तिमान्—"साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः ।" (१०।७०२)

रूपकम्— "रूपकं रूपितारोपाद्विषये निरपह्नवे ।
तत्परम्परितं साङ्गं निरङ्गमिति च त्रिधा ॥
यस्य कस्यचिदारोपः परारोपणकारणम् ।
तत्परम्परितं श्लिष्टाश्लिष्टशब्दनिबन्धनम् ॥

प्रत्येकं केवलं मालारूपं चेति चतुर्विधम् ।
अङ्गिनो यदि साङ्गस्य रूपणं साङ्गमेव तत् ॥
समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च ।
आरोप्याणामशेषाणां शाब्दत्वे प्रथमं मतम् ॥
यत्र कस्यचिदार्थत्वमेकदेशविवर्त्ति तत् ।
निरङ्गं केवलस्यैव रूपणं तदपि द्विधा ॥
माला केवलरूपत्वात्, तेनाष्टौ रूपके भिदाः ।
दृश्यन्ते क्वचिदारोप्याः श्लिष्टाः साङ्गेऽपि रूपके ॥
अधिकारूढवैशिष्ट्यं रूपकं यत्तदेव तत् ।" (१०।६९०–६९९)

विशेषोक्तिः—"सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा ।" (१०।७३८)

विषमम्—"गुणौ क्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः ।
यद्वाऽऽरब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः ॥
विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतम् ।" (१०।७४१)

व्यतिरेकः—"आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताथवा ।
व्यतिरेक एक उक्ते हेतौ नोक्ते स च त्रिधा ॥
चतुर्विधोऽपि साम्यस्य बोधनाच्छन्दतोऽर्थतः ।
आक्षेपाच्च द्वादशधा श्लेषेऽपीति त्रिरष्टधा ॥
प्रत्येकं स्यान्मिलित्वाष्ट चत्वारिंशद्विधः पुनः ।" (१०।७२१)

व्याजस्तुतिः—"... ...उक्ता व्याजस्तुतिः पुनः ।
निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः ॥" (१०।७२८)

श्लेषः— "शब्दैः स्वाभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम् ।" (१०।७२६)

संसृष्टिः— "यद्येत एवालङ्काराः परस्परविमिश्रिताः ।
तदा पृथगलङ्कारो संसृष्टिः सङ्करस्तथा ॥
मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते ।
... . ॥"
(१०।७६६–७७८)

समासोक्तिः—"समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः ।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ॥" (१०।७२४)

स्मरणम्—"सदृशानुभवाद् वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते ।" (१०।६८९)

—:०:—

प्रथमसर्गश्लोकानामकाराद्यनुक्रमणिका

विक्रमाङ्कदेवचरितस्य प्रथमसर्गश्लोकानामकाराद्य-

नुक्रमणिका समाप्ता ।